जैन भारती

प्रथम खण्ड

प्रथमानुयोग

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः।।१।।

अर्थ— जो शास्त्र परमार्थ के विषयभूत धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ का कथन करने वाला है, एक पुरुष के आश्रित कथा को, त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरित्र को तथा पुण्य के आस्रव करने वाली कथाओं को कहता है और बोधि— रत्नत्रय, समाधि— ध्यान का निधान— कोष है, ऐसे प्रथमानुयोगरूप शास्त्रों को सम्यग्ज्ञान जानता है अर्थात् जिसमें चार पुरुषार्थ और महापुरुषों के चरित्र का वर्णन हो, वह प्रथमानुयोग है। इसके पढ़ने से पुण्यास्रव— रत्नत्रय की प्राप्ति और समाधि की सिद्धि होती है।

मंगलाचरण

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं।।

चत्तारि मंगलं— अरिहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा— अरिहंत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारिसरणं पव्वज्जामि— अरिहंत सरणं पव्वज्जामि, सिद्ध सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि।

अर्थ— अरिहंतों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक में सर्व साधुओं को नमस्कार हो।

मंगल चार हैं— अरिहंत मंगल हैं, सिद्ध मंगल हैं, साधु मंगल हैं और केवली द्वारा प्रणीत धर्म मंगल है। लोक में उत्तम चार हैं— अरिहंत लोक में उत्तम हैं, सिद्ध लोक में उत्तम हैं, साधु लोक में उत्तम हैं और केवली द्वारा प्रणीत धर्म लोक में उत्तम है। चार की मैं शरण लेता हूँ— अरिहंत की मैं शरण लेता हूँ, सिद्ध की मैं शरण लेता हूँ, साधु की मैं शरण लेता हूँ और केवली द्वारा प्रणीत धर्म की मैं शरण लेता हूँ।

जैनवाङ्मय अनादिनिधन है। युग परिवर्तन की अपेक्षा से यह सादि-सनिधन भी माना जाता है। 'कर्मारातीन् जयतीति जिनः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो कर्म शत्रुओं को जीतने वाले हैं वे 'जिन' कहलाते हैं। इन्हें ही जिनदेव, जिनेन्द्र भगवान, जिनराज आदि सहस्रों नामों से पुकारा जाता है। इनके द्वारा बताया हुआ मार्ग जिनधर्म, जैनधर्म, आर्हतधर्म आदि नामों से प्रसिद्ध है। इन जिनराज की दिव्यध्वनि को ही आगम, जिनागम, जिनवाणी, सरस्वती, शारदा, जैन वाङ्मय, "जैन भारती" आदि संज्ञाएं व्यवहृत हैं।

जिनेन्द्रदेव के मुख कमल से निकली हुई वाणी द्वादशांग रूप है। पूर्वाचार्यों ने उसे चार अनुयोग रूप से विभाजित किया है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। इन्हें चार वेद भी कहते हैं। इन चार अनुयोगों में द्वादशांग का सारभूत समस्त जैन वाङ्मय समाया हुआ है। इस "जैन भारती" ग्रंथ में भी वर्तमान के उपलब्ध जैन वाङ्मय के सार को अति संक्षेप में दिखलाने की इच्छा है अतः इसे चार अनुयोगों में विभक्त किया है।

जिस प्रकार से जैनधर्म अनादि निधन है, उसी प्रकार से यह सम्पूर्ण चराचर विश्व भी अनादि निधन है। कुछ लोग इस जगत को परमपुरुष परमात्मा के द्वारा बनाया हुआ मानते हैं किन्तु जैनाचार्यों ने इस सारी सृष्टि को 'स्वयं सिद्ध' माना है। इसका स्पष्टीकरण यथास्थान द्रव्यानुयोग में सर्वदर्शनों की समीक्षा करते हुए किया जायेगा। यहाँ जैन सिद्धान्त के अनुसार 'सृष्टि का क्रम' दिखाया जाता है।

यह तीनलोकरूप सम्पूर्ण विश्व शाश्वत है। मध्यलोक के अन्तर्गत सर्वप्रथम जम्बूद्वीप है। इस द्वीप में भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड में हमेशा ही षट्काल परिवर्तन होता रहता है। इसे 'युग परिवर्तन' भी कहते हैं। इस काल परिवर्तन को अच्छी तरह समझ लेने से ही सृष्टि का क्रम समझ में आ जाता है अतः कुछ लोगों की जो मान्यता है कि ब्रह्मा से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है, विष्णु से उसका पालन होता है एवं महादेव से उसका प्रलय होता है, इस काल परिवर्तन के समझ लेने से इन सब मान्यताओं का निरसन सहज ही हो जाता है।

पुनः इस अनुयोग में ऋषभदेव आदि महापुरुषों का इतिहास कहा जावेगा।

सृष्टि का क्रम

भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड में अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल के दो विभाग होते हैं। जिसमें मनुष्यों एवं तिर्यंचों की आयु, शरीर की ऊँचाई, वैभव आदि घटते रहते हैं वह अवसर्पिणी एवं जिसमें बढ़ते रहते हैं वह उत्सर्पिणी कहलाता है। अद्धापल्यों से निर्मित दस कोड़ा-कोड़ी सागर[१] प्रमाण अवसर्पिणी और इतना ही उत्सर्पिणी काल भी है, इन दोनों को मिलाकर बीस कोड़ा-कोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी में से प्रत्येक के छह-छह भेद हैं।

अवसर्पिणी काल के छह भेद

सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमा-दु:षमा, दु:षमा-सुषमा, दु:षमा और अतिदु:षमा। उत्सर्पिणी काल के भी छह भेद होते हैं जो कि इनसे विपरीत होते हैं— दु:षमा-दु:षमा, दु:षमा, दु:षमा-सुषमा, सुषमा-दु:षमा, सुषमा और सुषमा-सुषमा। 'समा' काल के विभाग को कहते हैं तथा 'सु' और 'दुर्' उपसर्ग क्रम से अच्छे-बुरे अर्थ में होने से व्याकरण से निष्पन्न ये 'सुषमा' 'दु:षमा' शब्द अच्छे और बुरे काल के वाचक हो जाते हैं। ये दोनों ही भेद कालचक्र के परिभ्रमण से सतत् कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष की तरह घूमते रहते हैं। अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी, ऐसे क्रम से बदलते रहते हैं।

इनमें से प्रथम सुषमा-सुषमा काल चार कोड़ा-कोड़ी सागर, द्वितीय सुषमाकाल तीन कोड़ा-कोड़ी सागर, तृतीय काल दो कोड़ा-कोड़ी सागर, चतुर्थ काल बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ा-कोड़ी सागर, पंचम काल इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण और छठा काल भी इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण है।

षट्काल परिवर्तन

प्रथम काल— सुषमा-सुषमा काल में भूमि रज, धूम, अग्नि, हिम, कण्टक आदि से रहित एवं शंख, बिच्छू, चींटी, मक्खी आदि विकलत्रय जीवों से रहित होती है। दिव्य बालू, मधुर गंध से युक्त मिट्टी और पंचवर्ण वाले चार अंगुल ऊँचे तृण होते हैं। वहाँ वृक्ष समूह, कमल आदि से युक्त निर्मल जल से परिपूर्ण वापियाँ, उन्नत पर्वत, उत्तम-उत्तम प्रासाद, इन्द्रनीलमणि आदि से सहित पृथ्वी एवं मणिमय बालू से शोभित उत्तम-उत्तम नदियाँ होती हैं। इस काल में असंज्ञी जीव, जात विरोधी जीव भी नहीं होते हैं। गर्मी, सर्दी, अंधकार और रात-दिन का भेद भी नहीं होता है एवं परस्त्रीरमण, परधनहरण आदि व्यसन भी नहीं होते हैं। इस काल में युगल रूप से उत्पन्न हुए मनुष्य उत्तम तिल, मशा आदि व्यंजन एवं शंख, चक्र आदि चिन्हों से सहित तथा स्वामी और भृत्य के भेदों से रहित होते हैं। इनके शरीर की ऊँचाई छह हजार धनुष अर्थात् तीन कोस तथा आयु तीन पल्य प्रमाण होती है, यहाँ के प्रत्येक स्त्री-पुरुषों के पृष्ठ भाग में दो सौ छप्पन हड्डियाँ होती हैं। इनके शरीर मलमूत्र-पसीने से रहित, सुगंध निश्वास से सहित, तपे हुए स्वर्ण सदृश वर्ण वाले, समचतुरस्र संस्थान और वज्रवृषभनाराच संहनन से युक्त होते हैं, प्रत्येक मनुष्य का बल नौ हजार हाथियों सदृश रहता है। इस काल में नर-नारी से अतिरिक्त अन्य परिवार नहीं होता है। इस समय वहाँ पर ग्राम, नगर

---

१. पल्य और सागर का स्वरूप करणानुयोग में बताया जायेगा।

आदि नहीं होते हैं, दस प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं जो युगलों को अपने-अपने मन की कल्पित वस्तुओं को दिया करते हैं।

कल्पवृक्षों के नाम— पानांग, तूर्यांग, भूषणांग, वस्त्रांग, भोजनांग, आलयांग, दीपांग, भाजनांग, मालांग और ज्योतिरंग ये दस प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं— पानांग जाति के कल्पवृक्ष भोगभूमिज मनुष्यों को मधुर, सुस्वादु, छह रसों से युक्त पुष्टिकारक बत्तीस प्रकार के पेय द्रव्य को देते हैं। तूर्यांग कल्पवृक्ष उत्तम वीणा, पटु, पटह, मृदंग आदि वादित्रों को देते हैं। भूषणांग कल्पवृक्ष कंकण, कटिसूत्र, हार आदि आभूषणों को, वस्त्रांग कल्पवृक्ष चीनपट्ट, क्षौमादि वस्त्रों को, भोजनांग कल्पवृक्ष सोलह प्रकार के आहार, इतने ही प्रकार के व्यंजन, चौदह प्रकार की दाल, एक सौ आठ प्रकार के खाद्य पदार्थ, तीन सौ त्रेसठ प्रकार के स्वाद्य पदार्थ एवं त्रेसठ प्रकार के रसों को दिया करते हैं। आलयांग कल्पवृक्ष स्वस्तिक, नंद्यावर्त आदि सोलह प्रकार के दिव्य भवनों को, दीपांग कल्पवृक्ष शाखा, प्रवाल, फल, फूल और अंकुरादि के द्वारा जलते हुए दीपकों के समान प्रकाश को देते हैं, भाजनांग कल्पवृक्ष सुवर्ण आदि से निर्मित झारी, कलश, गागर, चामर और आसन आदि देते हैं, मालांग जाति के कल्पवृक्ष बेल, तरु, गुच्छ और लताओं से उत्पन्न हुए सोलह हजार भेदरूप पुष्पों की मालाओं को देते हैं और ज्योतिरंग जाति के कल्पवृक्ष मध्य दिन के करोड़ों सूर्यों की किरणों के समान होते हुए नक्षत्र, सूर्य और चन्द्र आदि की कान्ति का संहरण करते हैं ये सब कल्पवृक्ष न वनस्पतिकायिक हैं न कोई व्यन्तर देव हैं किन्तु विशेषता यह है कि ये सब पृथ्वीरूप होते हुए जीवों को उनके पुण्य कर्म का फल देते हैं।

भोगभूमिजों के भोग आदि— ये मनुष्य कल्पवृक्षों से दी गई वस्तुओं को ग्रहण करके और विक्रिया से बहुत प्रकार के शरीरों को बनाकर अनेक प्रकार के भोगों को भोगते हैं और चौथे दिन बेर के बराबर आहार ग्रहण करते हैं। ये युगल कदलीघात मरण से रहित होते हुए संपूर्ण आयुपर्यन्त चक्रवर्ती के भोगों की अपेक्षा अनन्तगुणे भोग को भोगते हैं। वहाँ के पुरुष इन्द्र से भी अधिक सुन्दर और स्त्रियाँ अप्सराओं के सदृश सुन्दर होती हैं।

भोगभूमि के आभूषण— भोगभूमि में कुण्डल, हार, मेखला, मुकुट, केयूर, भालपट्ट, कटक, प्रालम्ब, सूत्र (ब्रह्मसूत्र), नूपुर, दो मुद्रिकाएँ, अंगद, असि, छुरी, ग्रैवेयक और कर्णपूर ये सोलह आभरण पुरुषों के एवं छुरी और असि से रहित चौदह आभरण स्त्रियों के होते हैं।

भोगभूमि में उत्पत्ति के कारण— भोगभूमि में मनुष्य और तिर्यञ्च जीव उत्पन्न होते हैं, मिथ्यात्वभाव से युक्त होते हुए भी मन्दकषायी, मधुमांसादि के त्यागी, गुणियों के गुणों में अनुरक्त, उपवास से शरीर को कृश करने वाले, निर्ग्रन्थ साधुओं को आहारदान देने वाले जीव या अनुमोदना आदि करने वाले पशु आदि भी यहाँ उत्पन्न होते हैं। जिनने पूर्वभव में मनुष्य आयु को बाँध लिया है और पश्चात् तीर्थंकर के पादमूल में क्षायिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया है ऐसे कितने ही सम्यग्दृष्टि पुरुष भी भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं।

कोई अज्ञानी जिनलिंग को ग्रहण करके छोड़ देते हैं, मायाचार में प्रवृत्त होकर कुलिंगियों को अनेक प्रकार के दान देते हैं, वे भी भोगभूमि में तिर्यञ्च होते हैं।

भोगभूमि के मनुष्य और तिर्यञ्चों की नव मास आयु शेष रहने पर स्त्रियों को गर्भ रहता है और दोनों-युगल के मृत्यु का समय निकट आने पर युगल/बालक-बालिका का जन्म होता है अर्थात् सन्तान के जन्म लेते ही माता-पिता मरण को प्राप्त हो जाते हैं। पुरुष को छींक और स्त्री को जंभाई आते ही वे मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं और उनके शरीर शरत्कालीन मेघ के सदृश तत्क्षण आमूल विलीन हो जाते हैं।

भोगभूमि के उत्पत्ति स्थान— मृत्यु के बाद भोगभूमिज मनुष्य या तिर्यञ्च यदि मिथ्यादृष्टि हैं तो भवनत्रिक— भवनवासी, व्यन्तर या ज्योतिष्क देवों में जन्म लेते हैं। यदि सम्यग्दृष्टि हैं तो सौधर्म युगल में जन्म लेते हैं।

भोगभूमिज युगल की वृद्धि— वहाँ के बाल युगल शय्या पर सोकर अंगूठा चूसते हुए तीन दिन निकाल देते हैं, पश्चात् बैठना, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, कलागुणों की प्राप्ति, तारुण्य और सम्यग्दर्शन की योग्यता, इनमें से क्रमशः प्रत्येक अवस्था में उन बालकों के तीन-तीन दिन व्यतीत होते हैं अर्थात् इक्कीस दिन में ये युगल सात प्रकार की योग्यता को प्राप्त करके पूर्ण यौवन सहित सर्वकलाकुशल हो जाते हैं।

सम्यक्त्व के कारण— वहाँ पर कोई जीव जातिस्मरण से, कोई देवों के सम्बोधन करने से, कोई ऋद्धिधारी मुनि आदि के उपदेश सुनने से सम्यक्त्व को ग्रहण कर सकते हैं किन्तु इनके श्रावक के व्रत और संयम नहीं हो सकता है।

भोगभूमिज तिर्यञ्च— भोगभूमि में गाय, सिंह, हाथी, मकर, शूकर, हरिण, भैंस, बन्दर, तेन्दुआ, व्याघ्र, शृगाल, रीछ, मुर्गा, तोता, कबूतर, राजहंस आदि तिर्यञ्च युगल भी उत्पन्न होते हैं जो परस्पर के वैरभाव से रहित, क्रूरता रहित, मन्दकषायी होते हैं। वहाँ के व्याघ्र आदि थलचर एवं कबूतर आदि नभचर तिर्यञ्च मांसाहार के बिना दिव्य तृणों का भक्षण करते हैं। चार कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण इस प्रथम काल में शरीर की ऊँचाई, आयु, बल, ऋद्धि और तेज आदि हीन-हीन होते जाते हैं।

द्वितीय काल— इस प्रकार से अवगाहना आदि के घटते-घटते 'सुषमा' नामक द्वितीय काल प्रविष्ट होता है। इस काल के आदि में मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई चार हजार धनुष— दो कोस, आयु दो पल्य प्रमाण और शरीर का वर्ण चन्द्रमा सदृश धवल होता है। इनके पृष्ठ भाग में एक सौ अट्ठाईस हड्डियाँ होती हैं। अतीव सुन्दर समचतुरस्र संस्थान से युक्त ये भोगभूमिज तीसरे दिन बहेड़ा के बराबर आहार ग्रहण करते हैं। इस काल में उत्पन्न हुए बालक युगल शय्या पर सोते हुए अपने अंगूठे के चूसने में पाँच दिन व्यतीत करते हैं पश्चात् उपवेशन, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, कलागुण प्राप्ति, तारुण्य और सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता, इनमें से प्रत्येक अवस्था में उन बालकों के पाँच-पाँच दिन व्यतीत हो जाते हैं। इतनी मात्र विशेषता को छोड़कर शेष वर्णन जो सुषमा-दुषमा काल में कहे गये हैं, उन्हें यहाँ पर भी समझना चाहिए। तीन कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण इस सुषमा नामक काल में पहले से ही ऊँचाई, बल, ऋद्धि, आयु और तेज आदि उत्तरोत्तर हीन-हीन होते जाते हैं।

तृतीय काल— तीन कोड़ाकोड़ी सागर काल के व्यतीत होने पर क्रम से सुषमादुःषमा नामक तृतीय काल प्रवेश करता है, इस काल का प्रमाण दो कोड़ाकोड़ी सागर है। प्रारंभ में मनुष्यों की ऊँचाई दो हजार

धनुष— एक कोस, आयु एक पल्य प्रमाण और वर्ण प्रियंगुफल के समान होता है। इस काल में स्त्री-पुरुषों के पृष्ठभाग की हड्डियाँ चौंसठ होती हैं। सभी मनुष्य समचतुरस्र संस्थान से युक्त, एक दिन के अंतराल से आंवले के बराबर भोजन ग्रहण करने वाले होते हैं। इस काल में उत्पन्न हुए बालकों के शय्या पर सोते हुए अपने अंगूठे के चूसने में सात दिन व्यतीत होते हैं। इसके पश्चात् उपवेशन, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, कलागुण प्राप्ति, तारुण्य और सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता। इनमें से प्रत्येक अवस्था में क्रमशः सात-सात दिन जाते हैं। इतनी मात्र विशेषता को छोड़कर शेष वर्णन जो सुषमा-सुषमा नामक काल में कह चुके हैं सो ही यहाँ पर समझना चाहिए।

इन तीनों ही भोगभूमियों में चोर, शत्रु आदि की बाधाएँ, असि, मसि आदि छह कर्म, शीत, आतप, प्रचंडवायु एवं वर्षा आदि नहीं होती हैं। इन्हें क्रम से उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमि भी कहते हैं।

कुलकरों की उत्पत्ति— इस भरतक्षेत्र के मध्यवर्ती आर्यखण्ड में अवसर्पिणी का तृतीय काल चल रहा था। इनमें आयु, अवगाहना, ऋद्धि, बल और तेज घटते-घटते जब इस तृतीय काल में पल्योपम के आठवें भाग मात्र काल शेष रह जाता है तब कुलकरों की उत्पत्ति प्रारंभ होती है।

प्रथम कुलकर का नाम 'प्रतिश्रुति' और उनकी देवी का नाम स्वयंप्रभा था। उनके शरीर की ऊँचाई एक हजार आठ सौ धनुष और आयु पल्य के दसवें भाग प्रमाण थी। उस समय आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा के दिन सायंकाल में भोगभूमियों को पूर्व दिशा में उदित होता हुआ चन्द्र और पश्चिम दिशा में अस्त होता हुआ सूर्य दिखलाई पड़ा। 'यह कोई आकस्मिक उत्पात है' ऐसा समझकर वे लोग भय से व्याकुल हो गये। उस समय वहाँ पर 'प्रतिश्रुति' कुलकर सबमें अधिक तेजस्वी और प्रजाजनों के हितकारी तथा जन्मांतर के संस्कार से अवधिज्ञान को धारण किये हुए सभी में उत्कृष्ट बुद्धिमान गिने जाते थे। उन्होंने कहा— हे भद्र पुरुषों! तुम्हें जो ये दिख रहे हैं वे सूर्य-चन्द्र नाम के ग्रह हैं, कालवश अब ज्योतिरंग जाति के कल्पवृक्षों की किरण समूह मंद पड़ गई हैं अतः इस समय ये दिखने लगे हैं, ये हमेशा ही आकाश में परिभ्रमण करते रहते हैं, अभी तक ज्योतिरंग कल्पवृक्ष से इनकी प्रभा तिरोहित होने से ये नहीं दिखते थे अतः तुम इनसे भयभीत मत होवो। प्रतिश्रुति के वचनों से उन लोगों को आश्वासन प्राप्त हुआ और उन लोगों ने उनके चरण कमलों की पूजा तथा स्तुति की।

प्रतिश्रुति कुलकर के स्वर्ग जाने के पश्चात् पल्य के अस्सीवें भाग अंतराल के व्यतीत हो जाने पर सुवर्ण सदृश कान्ति वाले 'सन्मति' नामक द्वितीय कुलकर उत्पन्न हुए। इनके शरीर की ऊँचाई एक हजार तीन सौ धनुष एवं आयु 'अमम' के बराबर संख्यात वर्षों की थी। उस समय ज्योतिरंग कल्पवृक्ष नष्टप्रायः हो गये और सूर्य के अस्त होने पर अंधकार तथा तारागणों को देखकर 'ये अत्यन्त भयानक/अदृष्टपूर्व उत्पात प्रकट हुए हैं' इस प्रकार सभी मनुष्य व्याकुल होकर कुलकर के निकट आये। तब सन्मति कुलकर ने कहा कि कालवश ज्योतिरंग कल्पवृक्षों की किरणें सर्वथा प्रणष्ट हो जाने से इस समय आकाश में अंधकार और ताराओं का समूह दिख रहा है। तुम लोगों को इनकी ओर से भय का कोई कारण नहीं है। ये तो सदा ही रहते थे किन्तु कल्पवृक्षों की किरणों से प्रकट नहीं दिखते थे। ये ग्रह, तारा और नक्षत्र तथा सूर्य-चन्द्रमा जम्बूद्वीप में नित्य

ही सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा किया करते हैं। तब कुलकर के वचनों से वे सब निर्भय हो गये और उनकी पूजा करके स्तुति करने लगे।

इन कुलकर के स्वर्ग जाने के बाद असंख्यात करोड़ वर्षों का अन्तराल बीत जाने पर इस भरत क्षेत्र में तीसरे कुलकर उत्पन्न हुए। इनका नाम 'क्षेमंकर' था, शरीर की ऊँचाई आठ सौ धनुष और आयु 'अटट' प्रमाण वर्षों बराबर थी, वर्ण सुवर्ण सदृश और सुनंदा नामक महादेवी थी। उस समय व्याघ्र आदि तिर्यंच जीव क्रूरता को प्राप्त हो गये थे, तब भोगभूमिज मनुष्य उनसे भयभीत होकर क्षेमंकर मनु के पास पहुँचे और बोले— हे देव! ये सिंह, व्याघ्रादि पशु बहुत शान्त थे, जिन्हें हम लोग अपनी गोद में बिठाकर अपने हाथ से खिलाते थे, वे पशु आज हम लोगों को बिना किसी कारण ही सींगों से मारना चाहते हैं, मुख फाड़कर डरा रहे हैं हम क्या करें? तब कुलकर बोले— हे भद्र पुरुषों! अब तुम्हें इन पर विश्वास नहीं करना चाहिए, इनकी संगति छोड़ देना चाहिए, ये कालदोष से विकार को प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार से क्षेमंकर कुलकर के वचनों से उन लोगों ने सींग और दाढ़ वाले पशुओं का संसर्ग छोड़ दिया, केवल निरुपद्रवी गाय, भैंस आदि से संसर्ग रखने लगे।

इनकी आयु पूर्ण होने के पश्चात् असंख्यात करोड़ वर्षों का अन्तराल बीत जाने पर सज्जनों में अग्रसर ऐसे 'क्षेमंधर' नामक चौथे कुलकर उत्पन्न हुए। इनकी आयु 'तुटिक' प्रमाण वर्षों की थी और शरीर की ऊँचाई सात सौ पचहत्तर धनुष की थी, इनका वर्ण स्वर्ण के सदृश और इनकी देवी का नाम विमला था। उस समय क्रूरता को प्राप्त हुए सिंहादि मनुष्यों के मांस को खाने लगे, तब सिंहादि के भय से भयभीत हुए भोगभूमिजों को क्षेमंधर मनु ने उनसे सुरक्षित करने के लिए दण्डादि रखने का उपदेश दिया।

इनके अनंतर असंख्यात करोड़ वर्षों के बीत जाने पर प्रजा के पुण्योदय से 'सीमंकर' नाम के पांचवें कुलकर हुए। इनकी आयु 'कमल' प्रमाण वर्षों की एवं शरीर की ऊँचाई सात सौ पचास धनुष की थी, वर्ण स्वर्ण के सदृश एवं 'मनोहरी' नाम की प्रसिद्ध देवी थी। इनके समय कल्पवृक्ष अल्प हो गये और फल भी अल्प देने लगे थे, इस कारण मनुष्यों में अत्यन्त क्षोभ होने लगा था। परस्पर में इन भोगभूमिजों के विसंवाद को देखकर सीमंकर मनु ने कल्पवृक्षों की सीमा नियत करके परस्पर संघर्ष को रोक दिया।

भोगभूमि की दण्ड व्यवस्था— उपर्युक्त प्रतिश्रुति आदि पाँच कुलकरों ने उन भोगभूमिजों के अपराध में 'हा'/हाय! बुरा कार्य किया, ऐसी दण्ड की व्यवस्था की थी, बस! इतना कहने मात्र से ही प्रजा आगे अपराध नहीं करती थी।

पाँचवें कुलकर के स्वर्ग गमन के पश्चात् असंख्यात करोड़ वर्षों का अन्तराल व्यतीत हो जाने पर 'सीमंधर' नामक छठे कुलकर उत्पन्न हुए। ये 'नलिन' प्रमाण वर्षों की आयु के धारक और सात सौ पच्चीस धनुष ऊँचे थे, इनकी देवी का नाम 'यशोधरा' था। इनके समय में कल्पवृक्ष अत्यन्त थोड़े रह गये और फल भी बहुत कम देने लगे इसीलिए मनुष्यों के बीच नित्य ही कलह होने लगा, तब इन कुलकर ने कल्पवृक्षों की सीमाओं को अन्य अनेक वृक्ष तथा छोटी-छोटी झाड़ियों से चिन्हित कर दिया।

इनके बाद फिर असंख्यात करोड़ वर्षों का अन्तराल बीत जाने पर 'विमलवाहन' नामक सातवें कुलकर उत्पन्न हुए। इनकी आयु 'पद्म' प्रमाण वर्षों की थी और शरीर की ऊँचाई सात सौ धनुष प्रमाण थी, वर्ण स्वर्ण

के सदृश और 'सुमति' नाम की महादेवी थी। इस समय गमनागमन से पीड़ा को प्राप्त हुए भोगभूमिज मनुष्य इन कुलकर के उपदेश से हाथी, घोड़े आदि पर सवारी करने लगे और अंकुश, पलान आदि से उन पर नियंत्रण करने लगे।

सातवें कुलकर के स्वर्ग जाने के बाद असंख्यात करोड़ वर्षों का अन्तराल बीत जाने पर 'चक्षुष्मान्' नामक आठवें कुलकर उत्पन्न हुए। इनकी आयु 'पद्मांग' प्रमाण और ऊँचाई छह सौ पचहत्तर धनुष की थी, इनकी देवी का नाम 'धारिणी' था। इनके समय से पहले के मनुष्य अपनी संतान का मुख नहीं देख पाते थे, उत्पन्न होते ही माता-पिता की मृत्यु हो जाती थी परन्तु अब वे क्षणभर पुत्र का मुख देखकर मरने लगे, उनके लिए यह नई बात थी अतएव भयभीत हुए 'चक्षुष्मान्' कुलकर के पास आये, तब इन्होंने उपदेश दिया कि ये तुम्हारे पुत्र-पुत्री हैं, इनके पूर्ण चन्द्र के समान सुन्दर मुख को देखो। इस प्रकार मनु के उपदेश से स्पष्टरूप से अपने बालकों के मुख को देखकर वे भोगभूमिज तत्काल ही आयु से रहित होकर विलीन हो जाते थे।

आठवें कुलकर के स्वर्गगमन के पश्चात् करोड़ों वर्षों का अन्तराल व्यतीत होने पर 'यशस्वान्' नाम के नौवें कुलकर उत्पन्न हुए। इनकी आयु 'कुमुद' प्रमाण वर्षों की थी और शरीर की ऊँचाई छह सौ पचास धनुष की थी, इनके 'कांतिमाला' नाम की देवी थी। उस समय ये कुलकर प्रजा को अपनी संतान के नामकरण के उत्सव का उपदेश देते थे। तब भोगभूमिज नामकरण करके आशीर्वाद देकर थोड़े समय रहकर आयु के क्षीण होने पर विलीन हो जाते थे।

नवम कुलकर के स्वर्गस्थ होने पर करोड़ों वर्षों का अन्तराल व्यतीत कर दशवें 'अभिचन्द्र' नाम के कुलकर हुए। इनकी आयु 'कुमुदांग' प्रमाण थी और शरीर की ऊँचाई छह सौ पच्चीस धनुष की थी। इनकी देवी का नाम 'श्रीमती' था। ये बालकों के रुदन को रोकने के निमित्त उपदेश देते थे कि तुम लोग इन्हें रात्रि में चन्द्रमा को दिखाकर क्रीड़ा कराओ और बोलना सिखाओ, यत्नपूर्वक इनकी रक्षा करो। इनके उपदेश से भोगभूमिज अपनी सन्तानों के साथ वैसा ही व्यवहार करके आयु के अन्त में विलीन होते थे।

इन कुलकरों की दण्ड-व्यवस्था— सीमंकर आदि पाँच कुलकर क्षोभ से आक्रांत उन युगलों के शिक्षण के निमित्त दण्ड के लिए 'हा'/हाय! बुरा किया। 'मा'/अब ऐसा मत करना, ऐसे खेद प्रकाशक और निषेधसूचक दो शब्दों का उपयोग करते हैं और इतने मात्र से ही प्रजा अपराध छोड़ देती है।

अभिचन्द्र कुलकर के स्वर्गारोहण के पश्चात् उतना ही अन्तराल व्यतीत होने के बाद 'चन्द्राभ' नाम के ग्यारहवें कुलकर उत्पन्न हुए। इनकी आयु 'नयुत' प्रमाण वर्षों की और शरीर की अवगाहना छह सौ धनुष प्रमाण थी। इनकी देवी का नाम 'प्रभावती' था। इनके समय में अतिशीत, तुषार और अतिवायु चलने लगी थी, शीत वायु से अत्यन्त दुःख पाकर वे भोगभूमिज मनुष्य तुषार से ढके हुए चन्द्र आदि ज्योति समूह को नहीं देख पाते थे। इस कारण इनके भय को दूर करते हुए चन्द्राभ कुलकर ने उपदेश दिया कि भोगभूमि की हानि होने पर अब कर्मभूमि निकट आ गई है। काल के विकार से यह स्वभाव प्रवृत्त हुआ है, अब यह तुषार सूर्य की किरणों से नष्ट होगा, यह सुनकर प्रजाजन सूर्य की किरणों से शैल्य को नष्ट करते हुए कुछ दिनों तक अपनी सन्तान के साथ जीवित रहने लगे।

चन्द्राभ कुलकर के स्वर्ग जाने के बाद अपने योग्य अन्तर को व्यतीत कर 'मरुदेव' नामक बारहवें कुलकर उत्पन्न हुए। इनकी आयु 'नयुतांग' वर्ष प्रमाण और शरीर की ऊँचाई पाँच सौ पचहत्तर धनुष की थी। इनकी देवी का नाम 'सत्या' था। इनके समय में बिजली युक्त मेघ गरजते हुए बरसने लगे। उस समय पूर्व में कभी नहीं देखी गई कीचड़ युक्त जलप्रवाह वाली नदियों को देखकर अत्यन्त भयभीत हुए भोगभूमिज मनुष्यों को मरुदेव कुलकर काल के विभाग को बतलाते हैं अर्थात् काल के विकार से अब कर्मभूमि तुम्हारे निकट है। अब तुम लोग नदियों में नौका डालकर इन्हें पार करो, पहाड़ों पर सीढ़ियों को बनाकर चढ़ो और वर्षा काल में छत्रादि को धारण करो। उन कुलकर के उपदेश से सभी जन नदियों को पारकर, पहाड़ों पर चढ़कर और वर्षा का निवारण करते हुए पुत्र-कलत्र के साथ जीवित रहने लगे।

(१"पहले यहाँ युगल संतान उत्पन्न होती थी परन्तु इसके आगे सन्तान की उत्पत्ति को दूर करने की इच्छा से ही मानों मरुदेव ने 'प्रसेनजित्' नाम के पुत्र को उत्पन्न किया था। इसके पूर्व भोगभूमिज मनुष्यों के शरीर में पसीना नहीं आता था परन्तु प्रसेनजित् का शरीर पसीने के कणों से सुशोभित हो उठता था। वीर मरुदेव कुलकर ने अपने पुत्र प्रसेनजित् का विवाह-विधि के द्वारा किसी प्रधान कुल की कन्या से विवाह कराया था। अन्त में मरुदेव पल्य के करोड़वें भाग तक जीवित रहकर स्वर्ग चले गये। तदनन्तर ये 'प्रसेनजित्' तेरहवें कुलकर कहलाये और इन्होंने 'एक करोड़ पूर्व' की आयु वाले, जन्म काल में बालकों के नाल काटने की व्यवस्था करने वाले 'नाभिराज' नामक चौदहवें कुलकर को उत्पन्न किया था और स्वयं पल्य के दस लाख करोड़वें भाग जीवित रहकर स्वर्गस्थ हो गये थे।")

इन बारहवें कुलकर के स्वर्गस्थ होने के बाद समय व्यतीत होने पर जब कर्मभूमि की स्थिति धीरे-धीरे समीप आ रही थी, तब प्रसेनजित् नाम के तेरहवें कुलकर उत्पन्न हुए। इनकी आयु एक 'पूर्व' प्रमाण थी और शरीर की ऊँचाई पाँच सौ पचास धनुष की थी। इनके 'अभिमती' नाम की देवी थी। इनके समय में बालकों का जन्म जरायु पटल में वेष्टित होने लगा था। 'यह क्या है' इस प्रकार के भय से संयुक्त मनुष्यों को इन कुलकर ने जरायु पटल को दूर करने का उपदेश दिया था। उनके उपदेश से सभी भोगभूमिज प्रयत्नपूर्वक उन शिशुओं की रक्षा करने लगे थे।

इनके बाद ही 'नाभिराज' नाम के चौदहवें कुलकर उत्पन्न हुए थे। इनकी आयु 'एक करोड़ पूर्व' वर्ष की थी और शरीर की ऊँचाई पाँच सौ पच्चीस धनुष की थी, इनकी 'मरुदेवी' नाम की पत्नी थी। इनके समय बालकों का नाभिनाल अत्यन्त लम्बा होने लगा था, इसलिए नाभिराय कुलकर उसके काटने का उपदेश देते हैं और वे भोगभूमिज मनुष्य वैसा ही करते हैं। उस समय कल्पवृक्ष नष्ट हो गये, बादल गरजने लगे, मेघ बरसने लगे, पृथ्वी पर स्वभाव से ही उत्पन्न हुए अनेकों वनस्पतियाँ— वनस्पतिकायिक, धान्य आदि दिखलाई देने लगे। धीरे-धीरे बिना बोये ही धान्य सब ओर पैदा हो गये। उनके उपयोग को न समझती हुई प्रजा कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने से अत्यन्त क्षुधा वेदना से व्याकुल हुई नाभिराज कुलकर की शरण में आकर बोली— हे देव! मन-वांछित फल को देने वाले कल्पवृक्षों के बिना हम पुण्यहीन अनाथ लोग किस प्रकार से जीवित रहें? जो

---

१. हरिवंश पुराण पृष्ठ १४४।

ये वृक्ष, शाखा, अंकुर, फल आदि उत्पन्न हुए हैं, इनमें कौन तो खाने योग्य हैं और कौन नहीं है? इनका क्या उपयोग है, यह सब हमें बतलाइये। इस प्रकार के दीन वचनों को सुनकर नाभिराज बोले— हे भद्र पुरुषों! ये वृक्ष तुम्हारे योग्य हैं और ये विषवृक्ष छोड़ने योग्य हैं। तुम लोग इन धान्यों को खाओ, गाय का दूध निकालकर पीयो। ये इक्षु के पेड़ हैं, इन्हें दाँतों से या यंत्रों से पेल कर इनका रस पियो। इस प्रकार से महाराजा नाभिराज ने मनुष्यों की आजीविका के अनेकों उपायों को बताकर उन्हें सुखी किया और हाथी के गंडस्थल पर मिट्टी की थाली आदि अनेक प्रकार के बर्तन बनाकर उन पुरुषों को दिये और बनाने का उपदेश भी दिया। उस समय वहाँ कल्पवृक्षों की समाप्ति हो चुकी थी, प्रजा का हित करने वाले केवल नाभिराज ही उत्पन्न हुए थे इसलिए वे कल्पवृक्ष के समान प्रजा का हित करते थे।[१]

नोट — (कुलकरों का विवरण परिशिष्ट चार्ट नं. १ में देखें)

चौदह कुलकर कहाँ से आये थे— प्रतिश्रुति आदि को लेकर नाभिराजपर्यंत ये सब चौदह कुलकर अपने पूर्व भव में विदेह क्षेत्र में महाकुल में राजकुमार थे, उन्होंने उस भव में पुण्य बढ़ाने वाले पात्रदान तथा यथायोग्य व्रताचरणरूपी अनुष्ठानों के द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से पहले ही भोगभूमि की मनुष्य आयु बाँध ली थी, बाद में श्री जिनेन्द्र देव के समीप रहने से क्षायिक सम्यग्दर्शन तथा श्रुतज्ञान की प्राप्ति हुई थी जिसके फलस्वरूप आयु के अंत में मरकर वे इस भरतक्षेत्र में उत्पन्न हुए थे। इन चौदह कुलकरों में से कितने ही कुलकरों को जातिस्मरण था और कितने ही अवधिज्ञानरूपी नेत्र के धारक थे इसलिए उन्होंने विचार कर प्रजा के लिए ऊपर कहे हुए कार्यों का उपदेश दिया था। ये प्रजा के जीवन को जानने से 'मनु' तथा आर्य पुरुषों को कुल की तरह इकट्ठे रहने का उपदेश देने से 'कुलकर', अनेकों वंशों को स्थापित करने से 'कुलंधर' तथा युग की आदि में होने से 'युगादि पुरुष' भी कहे गये थे।

शलाका पुरुष— अब यहाँ से आगे नाभिराज कुलकर के पश्चात् पुण्योदय से इस भरत क्षेत्र में मनुष्यों में श्रेष्ठ और सम्पूर्ण लोक में प्रसिद्ध तिरेसठ शलाका पुरुष उत्पन्न होने लगते हैं। ये शलाका पुरुष २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण और ९ प्रतिनारायण इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

२४ तीर्थंकर— उनमें से ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदंत, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुंथु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व और वर्धमान। इस भरत क्षेत्र में उत्पन्न हुए चौबीस तीर्थंकरों को मेरा नमस्कार होवे। ये ज्ञानरूपी फरसे से भव्य जीवों के संसाररूपी वृक्ष को छेदते हैं।

१२ चक्रवर्ती— भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्ति, कुंथु, अर, सुभौम, पद्म, हरिषेण, जयसेन और ब्रह्मदत्त ये छह खंडरूप पृथ्वीमण्डल को सिद्ध करने वाले कीर्ति से भुवनतल को व्याप्त करने वाले

१. तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ में कुलकरों की आयु पल्य के दसवें भाव, पल्य के सौंवे भाग इत्यादि बतलाई गई है और इनका अन्तराल भी पल्य के अस्सीवें भाग, पल्य के आठसौवें भाग इत्यादि बतलाया गया है। महापुराण में कुलकरों की आयु में पहले कुलकर की आयु पल्य के दसवें भाग है। आगे के कुलकरों की आयु 'अमम' 'अटट' आदि प्रमाण बतलाई है और अन्तराल असंख्यात करोड़ वर्षों का, संख्यात वर्षों का आदि बतलाया गया है। इन दोनों मतों को आगे चार्ट में स्पष्ट किया गया है तथा अमम, अटट आदि का स्वरूप करणानुयोग में बताया गया है।

१२ चक्रवर्ती भरत क्षेत्र में उत्पन्न हुए हैं।

९ बलभद्र— विजय, अचल, सुधर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नंदी, नंदिमित्र, रामचंद्र और पद्म (बलदेव) भरत क्षेत्र में ये नौ बलभद्र हुए हैं।

९ नारायण— त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक, दत्त, नारायण (लक्ष्मण) और श्रीकृष्ण ये नव विष्णुपद धारक नारायण हुए हैं।

९ प्रतिनारायण— अश्वग्रीव, तारक, मेरक, मधुकैटभ, निशुंभ, बलि, प्रहरण, रावण और जरासंध ये नव प्रतिनारायण हुए हैं।

ये त्रेसठ शलाका पुरुष कहलाते हैं।

अंतिम कुलकर महाराजा नाभिराज की महारानी मरुदेवी से भगवान् वृषभदेव का जन्म हुआ था। ये ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर भी थे और पन्द्रहवें कुलकर भी माने गये थे। इसी प्रकार ऋषभदेव की रानी यशस्वती ने भरत को जन्म दिया था। ये भरत महाराज चक्रवर्ती भी थे और सोलहवें कुलकर भी कहलाते थे। इस तरह ये सोलह कुलकर भी माने जाते थे।

इन कुलकरों की दण्ड व्यवस्था— ग्यारहवें से लेकर शेष कुलकरों ने 'हा' 'मा' और 'धिक्' इन तीन दण्डों की व्यवस्था की थी अर्थात् 'खेद है', अब 'ऐसा नहीं करना', तुम्हें 'धिक्कार' है जो रोकने पर भी अपराध करते हों।

भरतचक्री का दण्ड— भरत चक्रवर्ती के समय लोग अधिक दोष या अपराध करने लगे थे इसलिए उन्होंने वध, बन्धन आदि शारीरिक दण्ड देने की रीति भी चलाई थी।

प्रथम तीर्थंकर तृतीय काल में

जब तृतीय काल में चौरासी लाख वर्ष पूर्व, तीन वर्ष साढ़े आठ मास प्रमाण काल शेष रह गया था तब अंतिम कुलकर महाराजा नाभिराय की महारानी 'मरुदेवी' ने प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव को जन्म दिया। जब ऋषभदेव युवावस्था को प्राप्त हो गये, तब उनके पिता ने इन्द्र की अनुमति से ऋषभदेव का विवाह यशस्वती और सुनन्दा नाम की कन्याओं के साथ कर दिया। भगवान ऋषभदेव के भरत, बाहुबली आदि एक सौ एक पुत्र और ब्राह्मी-सुन्दरी नाम से दो कन्याएँ हुईं। भगवान ने सर्वप्रथम ब्राह्मी को 'अ आ' आदि लिपि और सुन्दरी को इकाई, दहाई आदि गणित विद्या सिखाई। अनन्तर सभी पुत्रों को भी सम्पूर्ण विद्याओं में, शास्त्रों में और शस्त्र कलाओं में निष्णात कर दिया।

प्रजा को असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य एवं शिल्प इन षट् क्रियाओं से आजीविका का उपाय बतलाने से भगवान प्रजापति कहलाये। उस समय जैसी व्यवस्था विदेह क्षेत्र में थी, वैसी ही व्यवस्था भगवान ने यहाँ पर स्थापित की, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नाम से तीन वर्णों की स्थापना की, 'विवाह-विधि' आदि प्रचलित की। 'अकम्पन' आदि चार महापुरुषों को राज्यव्यवस्था बताकर "महाराज" पद पर उन्हें नियुक्त किया, इसीलिए भगवान ऋषभदेव आदिब्रह्मा, युगादिपुरुष, विधाता आदि कहलाने लगे।

अनन्तर मोक्षमार्ग की स्थिति प्रगट करने के लिए वे दिगम्बर मुनि हो गये। उस समय चार हजार राजा उनकी देखा-देखी मुनि हो गये और भूख-प्यास की बाधा न सहन कर सकने से वे सब के सब भ्रष्ट हो गये। तब उन सभी ने मिलकर अनेक पाखण्ड मतों की स्थापना की। कुछ दिन बाद सम्राट भरत ने ब्राह्मण वर्ण नाम से एक वर्ण और स्थापित कर दिया।

भगवान ऋषभदेव के अनन्तर अजितनाथ आदि महावीरपर्यंत चौबीस तीर्थंकर हुए हैं।

इस हुण्डावसर्पिणी काल के दोष से भगवान ऋषभदेव तृतीय काल में हुए हैं, शेष तीर्थंकर चतुर्थकाल में हुए हैं।

चतुर्थकाल प्रारंभ— भगवान ऋषभदेव के मोक्ष जाने के बाद तीन वर्ष, साढ़े आठ माह व्यतीत होने पर दु:षमासुषमा नामक चतुर्थ काल प्रविष्ट होता है। उस काल के प्रथम प्रवेश में उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि, पृष्ठ भाग की हड्डियाँ अड़तालीस और शरीर की ऊँचाई पाँच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण थी। यह चतुर्थकाल ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण है।

भगवान ऋषभदेव के मुक्त हो जाने के पश्चात् पचास लाख करोड़ सागरों के व्यतीत हो जाने पर अजितनाथ तीर्थंकर ने मोक्षपद प्राप्त किया।

अजितनाथ के मुक्त होने के बाद तीस लाख करोड़ सागरों के व्यतीत हो जाने पर संभवनाथ तीर्थंकर सिद्ध हुए।

इसके बाद दस लाख करोड़ सागर व्यतीत हो जाने पर अभिनंदननाथ तीर्थंकर सिद्ध हुए।

इसके बाद नौ लाख करोड़ सागरों के चले जाने पर सुमतिनाथ भगवान सिद्धि को प्राप्त हुए।

इसके पश्चात् नब्बे हजार करोड़ सागरों के बीत जाने पर पद्मप्रभ जिन सिद्धि को प्राप्त हुए।

इसके अनन्तर नौ हजार करोड़ सागरों के चले जाने पर सुपार्श्वनाथ भगवान मोक्ष को प्राप्त हुए।

इसके बाद नौ सौ करोड़ सागरों के चले जाने पर चन्द्रप्रभ देव मोक्ष को प्राप्त हुए।

इसके बाद नब्बे करोड़ सागरों के बीत जाने पर पुष्पदन्तनाथ जिन सिद्धि को प्राप्त हुए।

इसके अनन्तर नौ करोड़ सागरों के चले जाने पर शीतलनाथ भगवान सिद्ध हुए।

इसके बाद छ्यासठ लाख छब्बीस हजार सौ सागर कम एक करोड़ सागर अर्थात् तैंतीस लाख तेहत्तर हजार नौ सौ सागर के व्यतीत हो जाने पर श्रेयांसनाथ भगवान मोक्ष को प्राप्त हुए।

इसके अनन्तर चौवन सागर के बीत जाने पर वासुपूज्य भगवान मोक्ष को प्राप्त हुए।

इसके बाद तीस सागर व्यतीत हो जाने पर विमलनाथ भगवान सिद्ध हुए।

इसके बाद नौ सागर व्यतीत हो जाने पर अनंतनाथ मुक्त हुए।

इसके बाद चार सागर चले जाने पर धर्मनाथ तीर्थंकर सिद्ध हुए।

इसके बाद पौन पल्य कम तीन सागर के बीत जाने पर शांतिनाथ भगवान सिद्ध हुए।

इसके अनन्तर अर्द्धपल्य काल के बीत जाने पर कुंथुनाथ तीर्थंकर सिद्ध हुए।

इसके बाद एक करोड़ वर्ष कम पाव पल्य के बीत जाने पर अरहनाथ भगवान सिद्ध हुए।

इसके बाद एक हजार करोड़ वर्षों के बाद मल्लिनाथ जिन सिद्ध हुए।

इसके पश्चात् चौवन लाख वर्षों के बीत जाने पर मुनिसुव्रतनाथ सिद्ध हुए।

इसके पश्चात् छः लाख वर्ष बीत जाने पर नमिनाथ तीर्थंकर सिद्ध हुए।

इसके बाद पाँच लाख वर्षों के बीत जाने पर नेमिनाथ भगवान सिद्ध हुए।

इसके पश्चात् तेरासी हजार सात सौ पचास वर्षों के बीत जाने पर पार्श्वनाथ तीर्थंकर सिद्ध हुए।

इसके पश्चात् दो सौ पचास वर्षों के बीत जाने पर वीर भगवान सिद्ध हुए। उस समय पंचम काल के प्रवेश होने में तीन वर्ष साढ़े आठ माह शेष थे।

धर्मतीर्थ व्युच्छित्ति का काल— पुष्पदंत को आदि लेकर धर्मनाथपर्यंत सात तीर्थंकरों के तीर्थों में धर्म की व्युच्छित्ति (अभाव) हुई थी और शेष सत्रह तीर्थंकरों के तीर्थों में धर्म की परम्परा निरन्तर अक्षुण्णरूप से चलती रही है।

पुष्पदंत के तीर्थ में पाव पल्य तक धर्म का अभाव रहा है अर्थात् उस समय दीक्षा के अभिमुख होने वालों का अभाव होने पर धर्मरूपी सूर्यदेव अस्तमित हो गया था। इसी प्रकार शीतलनाथ के तीर्थ में अर्द्ध पल्य तक, श्रेयांसनाथ के तीर्थ में पौन पल्य तक, वासुपूज्यदेव के तीर्थ में एक पल्य तक, विमलनाथ के तीर्थ में पौन पल्य तक, अनन्तनाथ के तीर्थ में अर्द्ध पल्य तक और धर्मनाथ के तीर्थ में पाव पल्य तक धर्मतीर्थ का उच्छेद रहा था।

हुंडावसर्पिणी के दोष से यहाँ सात बार धर्म के विच्छेद हुए हैं।

पंचम काल— वीर भगवान के मोक्ष जाने के बाद तीन वर्ष, आठ माह और एक पक्ष काल व्यतीत हो जाने के बाद 'दुःषमा' नामक पंचम काल प्रवेश करता है। इस पंचम काल के प्रथम प्रवेश में मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक सौ बीस वर्ष, ऊँचाई सात हाथ और पृष्ठ भाग की हड्डियाँ चौबीस होती हैं।

धर्मतीर्थ परम्परा

केवली— जिस दिन वीर भगवान सिद्ध हुए उसी दिन गौतम गणधर केवलज्ञान को प्राप्त हुए पुनः गौतम स्वामी के सिद्ध हो जाने पर उसी दिन श्री सुधर्मास्वामी केवली हुए। सुधर्मास्वामी के मुक्त होने पर जंबूस्वामी केवली हुए। पश्चात् जंबूस्वामी के सिद्ध हो जाने पर फिर कोई अनुबद्ध केवली नहीं रहे।

गौतम स्वामी के केवलज्ञान से लेकर जंबूस्वामी के मोक्षगमन तक का काल ६२ वर्ष प्रमाण है। केवलज्ञानियों में अंतिम 'श्रीधर' केवली कुण्डलगिरि से सिद्ध हुए। चारण ऋषियों में अंतिम 'सुपार्श्वचन्द्र' नामक ऋषि हुए। प्रज्ञाश्रमणों में अंतिम वज्रयश और अवधिज्ञानियों में अंतिम 'श्री' नाम के ऋषि हुए हैं। मुकुटधरों में अंतिम चंद्रगुप्त ने जिनदीक्षा धारण की, इनके पश्चात् मुकुटधारी राजाओं ने जिनदीक्षा नहीं ली है।

श्रुतकेवली— जंबूस्वामी के अनन्तर नन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु मुनि ये पाँचों ही 'चौदह पूर्वी' इन नाम से विख्यात द्वादश अंगों के धारक पूर्ण श्रुतज्ञानी 'श्रुतकेवली' वर्धमान स्वामी के तीर्थ में हुए हैं। इन पाँचों का काल मिलाकर सौ वर्ष प्रमाण है।

दश पूर्वधारी— विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह मुनि अनुक्रम से ग्यारह अंग और दशपूर्व के धारक 'दश पूर्वी' कहलाये हैं। परम्परा से प्राप्त इन सबका काल एक सौ तेरासी वर्ष है। इनके बाद कालदोष से फिर दशपूर्वधर मुनिरूपी सूर्य नहीं हुए।

ग्यारह अंगधारी— नक्षत्रमुनि, जयपाल, पांडु, ध्रुवसेन और कंसार्य ये पाँच मुनि ग्यारह अंग के धारक हुए हैं। इन सबका काल दो सौ बीस वर्ष प्रमाण है। इनके बाद फिर कोई मुनि ग्यारह अंग धारक नहीं हुए।

आचारांगधारी— सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये चार आचार्य आचारांग के धारक हुए हैं। इनके काल का प्रमाण एक सौ अठारह वर्ष है। इनके स्वर्गस्थ होने पर भरतक्षेत्र में फिर कोई अंग और पूर्व श्रुत के धारक नहीं हुए। गौतम स्वामी से लेकर यहाँ तक का काल छः सौ तेरासी वर्ष होता है। ६२+१००+१८३+२२०+११८=६८३।

इन उपर्युक्त आचार्यों के बाद शेष आचार्य ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों के एकदेश के धारक हुए हैं।

पंचमकाल के अंत तक धर्मतीर्थ— जो श्रुततीर्थ धर्म प्रवर्तन का कारण है, वह बीस हजार तीन सौ सत्रह वर्षों तक चलता रहेगा, अनंतर कालदोष से व्युच्छेद को प्राप्त हो जायेगा अर्थात् पंचमकाल इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण है, उसमें से उपर्युक्त छः सौ तेरासी वर्ष कम करने से बचे हुए प्रमाण काल तक जैनधर्म चलता रहेगा— २१०००-६८३=२०३१७

इतने मात्र बचे हुए शेष समय में चातुर्वर्ण्य संघ जन्म लेता रहेगा। उस समय के लोग प्रायः अविनीत, दुर्बुद्धि, असूयक, सातभय व आठ मदों से संयुक्त, शल्य एवं गारवों से सहित, कलहप्रिय, रागिष्ठ, क्रूर और क्रोधी होंगे।

राज्य परम्परा— जिस समय वीर भगवान मुक्ति को प्राप्त हुए उसी समय 'पालक' नामक अवन्तीसुत का राज्याभिषेक हुआ। साठ वर्ष तक पालक का राज्य रहा पुनः एक सौ पचपन वर्ष तक विजयवंशियों का, चालीस वर्ष तक मरुंडवंशियों का, तीस वर्ष तक पुष्यमित्र का, इसके बाद साठ वर्ष तक वसुमित्र-अग्निमित्र का, एक सौ वर्ष तक गंधर्व का, चालीस वर्ष तक नरवाहन का, दो सौ ब्यालीस वर्ष तक भृत्य-आंध्रों का पुनः दो सौ इकतीस वर्ष तक गुप्तवंशियों का राज्य रहा है।

कल्की का जन्म और कार्य— इसके बाद इन्द्र नामक राजा का पुत्र कल्की उत्पन्न हुआ, इसका नाम चतुर्मुख, आयु सत्तर वर्ष और राज्यकाल ब्यालीस वर्ष प्रमाण रहा है। महावीर के निर्वाण से इस कल्की तक का काल एक हजार वर्ष हो जाता है— ६०+१५५+४०+३०+६०+१००+४०+२४२+२३१+४२=१००० वर्ष।

आचारांगधर आचार्यों के पश्चात् दो सौ पचहत्तर वर्षों के व्यतीत हो जाने पर कल्की राजा को पट्ट बाँधा

गया था—६८३+२७५+४२=१००० वर्ष।

श्री [१]वीरप्रभु के निर्वाण जाने के बाद छः सौ पाँच वर्ष और पाँच माह व्यतीत हो जाने पर 'विक्रम' नामक शक राजा हुए हैं। उसके बाद तीन सौ चौरानवे वर्ष, सात माह बीत जाने पर प्रथम कल्की उत्पन्न हुआ था।

अनन्तर वह कल्की प्रयत्नपूर्वक अपने योग्य जनपदों को सिद्ध करके लोभ और अन्याय को प्राप्त होता हुआ मुनियों के आहार में से प्रथम ग्रास को शुल्करूप में माँगने लगा, तब श्रमण मुनि अग्र ग्रास को देकर और 'यह अन्तरायों का काल है' ऐसा समझकर निराहार चले जाते हैं। उस समय उनमें से किसी एक मुनि को अवधिज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसके बाद कोई असुरदेव अवधिज्ञान से मुनिगणों के उपसर्ग को जानकर और धर्म का द्रोही मानकर उस कल्की को मार डालते हैं। तब 'अजितंजय' नामक उस कल्की का पुत्र 'रक्षा करो' इस प्रकार कहकर उस देव के चरणों में नमस्कार करता है, तब वह देव 'धर्मपूर्वक राज्य करो' ऐसा कहकर उसकी रक्षा करता है। इसके पश्चात् दो वर्षों तक सच्चे धर्म की प्रवृत्ति रहती है पुनः क्रमशः काल के माहात्म्य से वह प्रतिदिन हीन होती चली जाती है।

इस प्रकार एक हजार वर्षों के पश्चात् पृथक्-पृथक् एक-एक कल्की तथा पाँच सौ वर्षों के पश्चात् एक-एक उपकल्की होता है। प्रत्येक कल्की के समय एक-एक दुःषमाकालवर्ती साधु को अवधिज्ञान प्राप्त होता है और उसके समय में चातुर्वर्ण्य संघ भी अल्प हो जाते हैं। उस समय पूर्व में बाँधे हुए पापों के उदय से चांडाल, शबर, श्वपच, किरात आदि तथा दीन, अनाथ, क्रूर, नाना प्रकार की व्याधि-वेदना से युक्त, हाथों में खप्पर तथा भिक्षापात्रधारी और देशान्तर गमन से पीड़ित ऐसे बहुत से मनुष्य दिखते हैं।

अंतिम कल्की का जन्म और कार्य—इस प्रकार से दुःषमा काल में धर्म, आयु और ऊँचाई कम होती जाती है फिर अन्त में विषम स्वभाव वाला इक्कीसवाँ कल्की उत्पन्न होता है, उसके समय में 'वीरांगज' नामक एक मुनि, 'सर्वश्री' नाम की आर्यिका तथा 'अग्निदत्त' और 'पंगुश्री' नामक श्रावक-श्राविका होंगे। वह कल्की अपनी आज्ञा से अपने योग्य जनपदों को सिद्ध करके मंत्रिवरों से कहेगा कि ऐसा कोई पुरुष तो नहीं है जो मेरे वश में न हो? तब मंत्री निवेदन करेंगे कि हे स्वामिन्! एक मुनि आपके वश में नहीं है, तब कल्की कहेगा कि कहो! वह अविनीत मुनि कौन है? इसके उत्तर में सचिव कहेंगे कि हे स्वामिन्! सकल अहिंसा व्रतों का आधारभूत वह मुनि सर्व परिग्रह से रहित होता हुआ शरीर की स्थिति के निमित्त दूसरों के घरों पर मध्यान्ह काल में अपने हस्तपुट में विघ्नरहित प्रासुक आहार को ग्रहण करता है। इस प्रकार के वचन सुनकर वह कल्की कहेगा कि वह अहिंसाव्रतधारी पापी कहाँ जाता है? तुम स्वयं उसका पता लगाओ और उसके प्रथम ग्रास को शुल्करूप में ग्रहण करो।

तत्पश्चात् प्रथम ग्रास के माँगे जाने पर वे मुनिराज तुरंत उसे देकर और अन्तराय करके वापस चले जावेंगे तथा अवधिज्ञान को भी प्राप्त कर लेंगे। उस समय वे मुनि, सर्वश्री आर्यिका, अग्निदत्त श्रावक और पंगुश्री श्राविका को बुलाकर प्रसन्नचित्त होते हुए कहेंगे कि अब दुःषमाकाल का अंत आ चुका है, तुम्हारी और

---

१. त्रिलोकसार गाथा ८५१।

हमारी तीन दिन की आयु शेष है और यह अंतिम कल्की है। तब ये चारों जन चार प्रकार के आहार और परिग्रहादि को जीवनपर्यंत छोड़कर सन्यास को ग्रहण करेंगे। वे सब कार्तिक मास के कृष्णपक्ष की अमावस्या के दिन सूर्य के स्वाति नक्षत्र पर उदित रहने पर सन्यास को ग्रहण करके समाधिमरण को प्राप्त करेंगे।

समाधिमरण के पश्चात् वीरांगज मुनि एक सागर आयु से युक्त होते हुए सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न होंगे और वे तीनों जन भी एकपल्य से कुछ अधिक आयु को लेकर वहाँ पर ही उत्पन्न होंगे।

उसी दिन मध्यान्ह में क्रोध को प्राप्त हुआ कोई असुरकुमार जाति का उत्तमदेव कल्की राजा को मार डालेगा और सूर्यास्त के समय में अग्नि नष्ट हो जावेगी।

इस प्रकार इक्कीस कल्की और इतने ही उपकल्की धर्म के द्रोह से एक सागर आयु से युक्त होकर घम्मा पृथ्वी में जन्म लेते हैं।

अतिदु:षमा नामक छठा काल— उपर्युक्त घटना के पश्चात् तीन वर्ष, आठ माह और एक पक्ष के बीत जाने पर महाविषम दु:षमादु:षमा नामक छठा काल प्रविष्ट होता है। उसके प्रथम प्रवेश में शरीर की ऊँचाई तीन अथवा साढ़े तीन हाथ, पृष्ठ भाग की हड्डियाँ बारह और उत्कृष्ट आयु बीस वर्ष प्रमाण होती है। उस काल में सब मनुष्यों का आहार मूल, फल और मत्स्य आदि होते हैं, उस समय मनुष्यों को वस्त्र, वृक्ष और मकान आदि दिखाई नहीं देते हैं, इसलिए सब मनुष्य नंगे और भवनों से रहित होते हुए वनों में घूमते हैं, वे मनुष्य सर्वांग धूम्र वर्ण वाले, पशुओं जैसा आचरण करने वाले, क्रूर, बहरे, अंधे, काने, गूँगे, दरिद्र, क्रोधी, दीन, कुरूप, अतिम्लेच्छ, हुण्डक संस्थान से युक्त, कुबड़े, बौने, नाना प्रकार की व्याधि और वेदना से विकल, प्रचुर कषायों से युक्त, मोही, क्षोभ युक्त स्वभाव से पापिष्ठ, स्वजन-परिजन आदि से रहित, मित्रों से रहित, पुत्र-स्त्रियों से रहित, दुर्गन्ध युक्त शरीर सहित, जूँ-लीख आदि युक्त केशों को धारण करने वाले महामूर्ख होते हैं।

इस काल में नरक और तिर्यञ्च गति से आने वाले जीव ही यहाँ जन्म लेते हैं तथा यहाँ से मरकर वे अत्यंत घोर नरक व तिर्यंच गति में ही उत्पन्न होते हैं। दिन-प्रतिदिन उन जीवों की ऊँचाई, आयु और शक्ति आदि हीन होते जाते हैं। इनके दु:खों को एक जिह्वा से कहने के लिए भला कौन समर्थ हो सकता है?

प्रलयकाय— इस छठे काल में उनंचास दिन कम इक्कीस हजार वर्ष के बीत जाने पर जीवों का भयदायक घोर प्रलयकाल प्रवृत्त होता है। उस समय महागंभीर एवं भीषण संवर्तक वायु चलती है जो कि सात दिन तक वृक्ष, पर्वत, शिला आदि को चूर्ण कर देती है। वृक्ष एवं पर्वतों के भंग होने से मनुष्य एवं तिर्यञ्च महादु:ख को प्राप्त करते हैं तथा वस्त्र और स्थान की अभिलाषा करते हुए अत्यन्त करुण विलाप करते हैं।

इस समय पृथक्-पृथक् संख्यात व सम्पूर्ण बहत्तर युगल गंगा-सिंधु नदियों की वेदी और विजयार्द्ध वन के मध्य में प्रवेश करते हैं। इसके अतिरिक्त देव और विद्याधर दयार्द्र होकर मनुष्य और तिर्यञ्चों में से संख्यातों जीवों को उन प्रदेशों में ले जाकर सुरक्षित रखते हैं।

सात प्रकार की वृष्टि— छठे काल के अन्त में मेघों के समूह सात प्रकार की निकृष्ट वस्तुओं की वर्षा सात-सात दिन तक करते हैं जिनके नाम— १. अत्यन्त शीतल जल २. क्षार जल ३. विष ४. धुआँ ५. धूलि ६. वज्र एवं ७. जलती हुई दुष्प्रेक्ष्य अग्नि ज्वाला। इन सातरूप परिणत हुए पुद्गलों की वर्षा सात-सात दिन

तक होने से लगातार उनंचास दिन तक चलती है।

"इस वृष्टि के निमित्त से अवशेष बचे मनुष्य आदि भी नष्ट हो जाते हैं तथा विष और अग्नि की वृष्टि से दग्ध हुई पृथ्वी एक योजन भाग नीचे तक काल के वश से भस्म हो जाती है।[१]

इस क्रम से भरत क्षेत्र के भीतर आर्यखण्ड में चित्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित वृद्धिंगत एक योजन की भूमि जलकर नष्ट हो जाती है। वज्र और महाअग्नि के बल से आर्य खण्ड की बढ़ी हुई भूमि अपने पूर्ववर्ती स्कन्ध स्वरूप को छोड़कर लोकान्त तक पहुँच जाती है।

उस समय आर्यखण्ड शेष भूमियों के समान दर्पणतल के सदृश कान्ति से स्थित, धूलि एवं कीचड़ की कलुषता से रहित हो जाता है। वहाँ पर उपस्थित (शेष बचे हुए विजयार्द्ध की गुफा आदि में सुरक्षित) मनुष्यों की ऊँचाई एक हाथ, आयु सोलह अथवा पन्द्रह वर्ष प्रमाण और वीर्य आदि भी तदनुसार ही होते हैं।

यहाँ तक अवसर्पिणी काल के छहों कालों का वर्णन होता है।

वर्तमान काल— यहाँ पर इस भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में इस समय पञ्चमकाल चल रहा है। अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी को मोक्ष गये ढाई हजार वर्ष से भी कुछ अधिक व्यतीत हो चुके हैं। अभी साढ़े अठारह हजार वर्ष और व्यतीत होंगे। अनन्तर छठा काल आयेगा, ऐसा समझना।

उत्सर्पिणी काल में षट्कालों का परिवर्तन— इसके पश्चात् उत्सर्पिणी इस नाम से रमणीय काल प्रवेश करता है। इसके छह भेदों में से प्रथम अतिदु:षमा, द्वितीय दु:षमा, तृतीय दु:षमा सुषमा, चतुर्थ सुषमा-दु:षमा, पंचम सुषमा और छठा सर्व जनप्रिय अतिसुषमा, ऐसे छह काल होते हैं। यह काल भी अवसर्पिणी के सदृश दस कोड़ाकोड़ी सागर का है। इस काल में जीवों की ऊँचाई, आयु, वीर्य आदि दिन-प्रतिदिन बढ़ते ही जाते हैं।

दुषमादुषमा काल— उत्सर्पिणी काल के प्रारंभ में पुष्कर मेघ सात दिन तक सुखोत्पादक जल को बरसाते हैं जिससे वज्र, अग्नि से जली हुई सम्पूर्ण पृथ्वी शीतल हो जाती है। क्षीरमेघ सात दिन तक क्षीर जल की वर्षा करते हैं जिससे यह पृथ्वी क्षीर जल से भरी हुई उत्तम कान्ति युक्त हो जाती है। इसके पश्चात् सात दिन तक अमृतमेघ अमृत की वर्षा करते हैं जिससे अभिषिक्त भूमि पर लता, गुल्म आदि उगने लगते हैं। इसके बाद रसमेघ सात दिन तक दिव्य रस की वर्षा करते हैं, इस दिव्य रस से परिपूर्ण वे लता आदि सर्व रस वाले हो जाते हैं। उस समय विविध रस पूर्ण औषधियों से भरी हुई भूमि सुस्वाद परिणत हो जाती है।

पश्चात् शीतल गंध को प्राप्त कर वे मनुष्य और तिर्यञ्च गुफाओं से बाहर निकल आते हैं। उस समय वे मनुष्य और तिर्यञ्च नग्न रहकर पशुओं जैसा आचरण करते हुए, क्षुभित होकर वन प्रदेशों में वृक्षों के फल, मूल, पत्ते आदि को खाते हैं। उस काल के प्रथम भाग में आयु पन्द्रह अथवा सोलह वर्ष, ऊँचाई एक हाथ प्रमाण होती है, इसके आगे वह आयु बढ़ती ही जाती है। आयु, तेज, बुद्धि, बाहुबल, देह की ऊँचाई, क्षमा तथा धैर्य इत्यादि ये सब काल के प्रभाव से उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार इक्कीस हजार वर्षों के बीत जाने

---

१. तिलोयपण्णत्ति अ.४, गाथा १५५१।

पर इस भरत क्षेत्र में अतिदु:षमा नामक काल पूर्ण हो जाता है।

दु:षमाकाल— तब दु:षमा नाम का द्वितीय काल प्रवेश करता है। इस काल में मनुष्य, तिर्यञ्चों का आहार बीस हजार वर्ष पर्यन्त, पहले के समान ही रहता है। इस काल के प्रथम प्रवेश में उत्कृष्ट आयु बीस वर्ष और ऊँचाई तीन हाथ या साढ़े तीन हाथ प्रमाण होती है।

कुलकरों की उत्पत्ति— इस काल में एक हजार वर्षों के शेष रहने पर भरत क्षेत्र में चौदह कुलकरों की उत्पत्ति होने लगेगी। क्रम से उन कुलकरों के नाम— कनक, कनकप्रभ, कनकराज, कनकध्वज, कनकपुंगव, नलिन, नलिनप्रभ, नलिनराज, नलिनध्वज, नलिनपुंगव, पद्मप्रभ, पद्मराज, पद्मध्वज और पद्मपुंगव ये चौदह कुलकर होवेंगे। इनमें से प्रथम कुलकर की ऊँचाई चार हाथ और अन्तिम कुलकर की ऊँचाई सात हाथ की होगी।

उस समय विविध औषधियों के होते हुए भी श्रेष्ठ अग्नि नहीं रहती, तब विनय से युक्त मनुष्यों को वे कुलकर उपदेश देते हैं— मथ करके अग्नि उत्पन्न करो और अन्न को पकाओ तथा विवाह करके बान्धव आदि के साथ इच्छानुसार सुख का उपभोग करो। जिनको वे कुलकर इस प्रकार की शिक्षा देते हैं वे अत्यन्त म्लेच्छ सदृश होते हैं। यहाँ विशेष यह है कि अंतिम कुलकर पद्मपुंगव के समय से विवाह विधियाँ प्रचलित हो जाती हैं।

दुषमा-सुषमा काल— इसके पश्चात् दुषमासुषमा नाम का तृतीय काल प्रवेश करता है। इसके प्रारंभ में ऊँचाई सात हाथ और आयु एक सौ बीस वर्ष प्रमाण होती है। इस समय पृष्ठ भाग की हड्डियाँ चौबीस होती हैं तथा मनुष्य पाँच वर्ण वाले शरीर से युक्त, मर्यादा, विनय एवं लज्जा से सहित, सन्तुष्ट और सम्पन्न होते हैं।

इस काल में चौबीस तीर्थंकर होते हैं। उनमें से प्रथम तीर्थंकर अंतिम कुलकर का पुत्र होता है। उस समय से वहाँ विदेह क्षेत्र जैसी वृत्ति अथवा अवसर्पिणी के चतुर्थ काल जैसी वृत्ति होने लगती है।

भविष्यत् काल के चौबीस तीर्थंकर— महापद्म, सुरदेव, सुपार्श्व, स्वयंप्रभ, सर्वप्रभ, देवसुत, कुलसुत, उदंक, प्रोष्ठिल, जयकीर्ति, मुनिसुव्रत, अर, अपाप, निष्कषाय, विपुल, निर्मल, चित्रगुप्त, समाधिगुप्त, स्वयंभू, अनिवृत्ति, जय, विमल, देवपाल और अनन्तवीर्य ये चौबीस तीर्थंकर होंगे। इनमें से प्रथम तीर्थंकर की ऊँचाई सात हाथ और आयु एक सौ सोलह वर्ष तथा अंतिम तीर्थंकर की ऊँचाई पाँच सौ धनुष एवं आयु एक पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण होगी।

भविष्यत्कालीन तीर्थंकरों के पूर्व के तृतीय भव के नाम— ये तीर्थंकरजिन तृतीय भव में तीनों लोकों को शोभित करने वाले तीर्थंकर नामकर्म का बंध करते हैं उनके उस समय के ये नाम हैं— श्रेणिक, सुपार्श्व, उदंक, प्रोष्ठिल, कृतसूय, क्षत्रिय, पाविल, शंख, नन्द, सुनन्द, शशांक, सेवक, प्रेमक, अतोरण, रैवत, कृष्ण, बलराम, भगलि, विगलि, द्वीपायन, माणवक, नारद, सुरूपदत्त और अन्तिम सात्यकिपुत्र (रुद्र) ये सब राजवंश में उत्पन्न हुए थे।

भविष्यत् काल के बारह चक्रवर्ती— भविष्यत् काल में तीर्थंकरों के समय जो बारह चक्रवर्ती होंगे उनके नाम— भरत, दीर्घदन्त, मुक्तदन्त, गूढ़दन्त, श्रीषेण, श्रीभूति, श्रीकान्त, पद्म, महापद्म, चित्रवाहन,

विमलवाहन और अरिष्टसेन।

भविष्यत् काल के नव बलभद्र— चन्द्र, महाचन्द्र, चन्द्रधर, वरचन्द्र, सिंहचन्द्र, हरिचन्द्र, श्रीचन्द्र, पूर्णचन्द्र और सुचन्द्र ये पूर्व भव में निदान को न करके पुण्य के उदय से नौ बलदेव होते हैं।

भविष्यत् काल के नव नारायण— नन्दी, नन्दिमित्र, नन्दिभूति, नन्दिषेण, बल, महाबल, अतिबल, त्रिपृष्ठ और द्विपृष्ठ ये नव नारायण बलदेवों के अनुज होंगे।

भविष्यत् काल के नव प्रतिनारायण— श्रीकंठ, हरिकंठ, नीलकंठ, अश्वकंठ, सुकंठ, शिखिकंठ, अश्वग्रीव, हयग्रीव और मयूरग्रीव ये नव प्रतिनारायण, नारायणों के प्रतिशत्रु होंगे।

ये त्रेसठ शलाका पुरुष बयालीस हजार वर्ष कम कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण इस तृतीयकाल में क्रम से उत्पन्न होंगे। इस काल के अन्त में मनुष्यों की आयु एक पूर्वकोटि प्रमाण, ऊँचाई पाँच सौ पच्चीस धनुष और पृष्ठ भाग की हड्डियाँ चौंसठ होंगी। इस समय के नर-नारी देव एवं अप्सराओं के सदृश होंगे।

सुषमादुषमा काल— इसके पश्चात् सुषमादुषमा नामक चतुर्थकाल प्रविष्ट होता है। इसके प्रारंभ में मनुष्यों की आयु एक पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण होती है, मनुष्यों की ऊँचाई पाँच सौ धनुष प्रमाण होती है पुनः क्रम से आयु, ऊँचाई और बल बढ़ते ही जाते हैं। इसमें कल्पवृक्षों की उत्पत्ति हो जाती है।

उस समय यह पृथ्वी जघन्य भोगभूमि कही जाती है, इसके अन्त में मनुष्यों की आयु एक पल्य प्रमाण होती है, ऊँचाई एक कोस और मनुष्यों का वर्ण प्रियंगु जैसे वर्ण का होता है। कल्पवृक्षों से भोग सामग्री प्राप्त होती है। इन भोगभूमियों का वर्णन अवसर्पिणी काल के कथन में किया जा चुका है। यह काल दो कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण होता है।

सुषमा काल— इसके बाद सुषमा नामक पाँचवाँ काल प्रविष्ट होता है। इसके प्रथम प्रवेश में मनुष्य-तिर्यञ्चों की आयु आदि मध्यम भोगभूमि के सदृश होते हैं अर्थात् एक पल्य से लेकर अन्त में दो पल्य की आयु हो जाती है एवं एक कोस से लेकर क्रम से अन्त में दो कोस तक शरीर की ऊँचाई हो जाती है। ये नर-नारी पूर्ण चन्द्र सदृश मुख वाले, बहुत विनयी, शील से सम्पन्न, एक सौ अट्ठाईस पृष्ठ भाग की हड्डियों से सहित होते हैं। यह काल तीन कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण होता है।

सुषमासुषमा काल— तदनंतर सुषमा-सुषमा नामक छठा काल प्रविष्ट होता है। उसके प्रथम प्रवेश में आयु आदि पहले के समान होते हैं। काल के स्वभाव से मनुष्य और तिर्यंचों की आयु बढ़ते-बढ़ते अंत में तीन पल्य की आयु और ऊँचाई तीन कोस प्रमाण होती है, मनुष्यों के वर्ण उदित होते हुए सूर्य के सदृश होते हैं, पृष्ठ भाग की हड्डियाँ दो सौ छप्पन होती हैं। उस समय यह पृथ्वी उत्तम भोगभूमि नाम से प्रसिद्ध हो जाती है। वे भोगभूमिज बहुत परिवार की विक्रिया करने में समर्थ ऐसी शक्तियों से संयुक्त होते हैं। यह काल चार कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण होता है।

इस प्रकार से उत्सर्पिणी के षट्कालों का परिवर्तन पूर्ण होता है। इसके पश्चात् फिर नियम से वह अवसर्पिणी काल प्रवेश करता है।

षट्काल परिवर्तन कहाँ-कहाँ है?

भरत और ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्डों में अरहघटिका के न्याय से अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल अनन्तानन्त होते हैं।

हुंडावसर्पिणी— असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल की शलाकाओं के बीत जाने पर प्रसिद्ध एक हुंडावसर्पिणी आती है। इसके चिन्ह ये हैं—

इस काल के भीतर सुषमादुषमा नामक तृतीय काल की स्थिति में कुछ काल अवशिष्ट रहने पर भी वर्षा आदि पड़ने लगती है और विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होने लगती है। इसी तृतीय काल में कल्पवृक्षों का अन्त और कर्मभूमि का व्यापार प्रारंभ हो जाता है। उसी काल में प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्ती भी उत्पन्न हो जाते हैं। इस हुँडावसर्पिणी के दोष से चक्रवर्ती का विजयभंग, उसी के द्वारा की गई ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति भी हो जाती है। इस काल में अट्ठावन ही शलाका पुरुष होते हैं और नौंवे से लेकर सोलहवें तीर्थंकर तक सात तीर्थों में धर्म का विच्छेद हो जाता है। ग्यारह रुद्र और कलह प्रिय नव नारद उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त सातवें, तेईसवें और अंतिम तीर्थंकर के ऊपर उपसर्ग भी होता है। तृतीय, चतुर्थ व पंचमकाल में उत्तम धर्म को नष्ट करने वाले विविध प्रकार के दुष्ट, पापिष्ठ, कुदेव और कुलिंगी भी दिखने लगते हैं। चाण्डाल, शबर, श्वपच तथा किरात आदि निकृष्ट जातियाँ तथा बयालीस कल्की व उपकल्की भी होते हैं। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, वज्राग्नि आदि का गिरना, इत्यादि विचित्र भेदों को लिए हुए नाना प्रकार के दोष इस हुंडावसर्पिणी काल में हुआ करते हैं।

ग्यारह रुद्र— भीमावली, जितशत्रु, रुद्र, वैश्वानर, सुप्रतिष्ठ, अचल, पुण्डरीक, अजितंधर, अजितनाभि, पीठ और सात्यकिपुत्र ये ग्यारह रुद्र अंगधर होते हुए तीर्थकर्ताओं के समयों में हुए हैं। इनमें से प्रथम रुद्र ऋषभनाथ के काल में और जितशत्रु अजितनाथ के काल में हुआ है, इसके आगे सात रुद्र क्रम से सुविधिनाथ से लेकर सात तीर्थंकरों के समय में हुए हैं। दसवाँ रुद्र शान्तिनाथ के समय में और सात्यकिपुत्र वीर भगवान के तीर्थ में हुआ है। सब रुद्र दसवें पूर्व का अध्ययन करते समय विषयों के निमित्त से तप से भ्रष्ट होकर सम्यक्त्वरूपी रत्न से रहित होते हुए घोर नरकों में डूब गये।[१]

नव नारद— भीम, महाभीम, रुद्र, महारुद्र, काल, महाकाल, दुर्मुख, नरकमुख और अधोमुख ये नौ नारद हुए हैं। ये सब नारद अतिरुद्र होते हुए दूसरों को रुलाया करते हैं और पाप के निधान होते हैं। सब ही नारद कलह एवं महायुद्ध प्रिय होने से वासुदेवों के समान नरक को प्राप्त हुए हैं।

चौबीस कामदेव— भगवान बाहुबली, अमिततेज, श्रीधर, यशोभद्र, प्रसेनजित, चन्द्रवर्ण, अग्निमुक्ति, सनत्कुमार (चक्रवर्ती), वत्सराज, कनकप्रभ, सिद्धवर्ण, शान्तिनाथ (चक्र.), कुंथुनाथ (चक्र.), अरनाथ (चक्री), विजयराज, श्रीचन्द्र, राजा नल, हनुमान, बलगज, वसुदेव, प्रद्युम्न, नागकुमार, श्रीपाल और जम्बूस्वामी।

---

१. इनकी आयु, अवगाहना, तपकाल, भ्रष्टकाल आदि चार्ट नं. ७ में देखिये।

चौबीस तीर्थंकरों के समयों में अनुपम आकृति के धारक ये बाहुबली आदि चौबीस कामदेव होते हैं।

तीर्थंकर, उनके माता-पिता, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, रुद्र, नारद, कामदेव और कुलकर पुरुष, ये सब भव्य होते हुए नियम से सिद्ध होते हैं। तीर्थंकर तो उसी भव से नियम से सिद्ध होते हैं। अन्यों के लिए उसी भव का नियम नहीं है। यहाँ तक सृष्टि का क्रम कहा गया है। युग परिवर्तन की अपेक्षा से यह करणानुयोग का विषय है। क्रम को समझने के लिए इसे प्रथमानुयोग में भी लिया जाता है।

तीर्थंकर

तीर्थंकर भगवान के गर्भ में आने के छह महीने पहले ही इन्द्र की आज्ञा से कुबेर माता के आँगन में त्रिकाल में साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा प्रतिदिन करता है। इस प्रकार छह महीने पहले से लेकर नौ महीने पर्यंत पन्द्रह महीने तक रत्न और सुवर्ण की वर्षा होती रहती है। अनन्तर गर्भावतरण के प्रसंग में रात्रि के पिछले प्रहर में माता को सोलह स्वप्न दिखते हैं। वह माता प्रातःकाल राजसभा में आकर अपने पतिदेव से उन स्वप्नों का फल पूछती हैं और वे राजा उन स्वप्नों का फल अपने अवधिज्ञान से बतलाते हैं।

सोलह स्वप्न— वे कहते हैं कि हे देवि! सबसे प्रथम ऐरावत हाथी के देखने से तुम्हें उत्तम पुत्र प्राप्त होगा। धवल, उत्तम बैल को देखने से वह समस्त लोक में ज्येष्ठ होगा। सिंह के देखने से अनन्त बल से युक्त होगा। मालाओं के देखने से समीचीन धर्मतीर्थ का चलाने वाला होगा। लक्ष्मी के देखने से वह सुमेरु पर्वत के मस्तक पर देवों के द्वारा अभिषेक को प्राप्त होगा। चन्द्रमा के देखने से समस्त लोगों को आनन्द देने वाला होगा। सूर्य के देखने से दैदीप्यमान प्रभा का धारक होगा। दो कलश देखने से अनेक निधियों को प्राप्त होगा। मछलियों का युगल देखने से सुखी होगा। सरोवर के देखने से अनेक लक्षणों से शोभित होगा। समुद्र के देखने से केवली होगा। सिंहासन के देखने से जगत् का गुरु होकर साम्राज्य को प्राप्त करेगा। देवों का विमान देखने से वह स्वर्ग से अवतीर्ण होगा। नागेन्द्र का भवन देखने से वह अवधिज्ञान लोचन से सहित होगा। चमकते हुए रत्नों की राशि देखने से गुणों की खान होगा और निर्धूम अग्नि के देखने से कर्मरूपी ईंधन को जलाने वाला होगा तथा तुम्हारे मुख में जो वृषभ ने प्रवेश किया है उसका फल यह है कि तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर भगवान अपना शरीर धारण करेंगे।

इस प्रकार पतिदेव के वचन सुनकर रानी हर्ष से रोमांचित हो जाती हैं। उस समय भगवान स्वर्ग से अवतीर्ण होकर माता के गर्भ में सीप के सम्पुट में मोती की तरह सब बाधाओं से निर्मुक्त होकर स्थित हो जाते हैं। उस समय समस्त इन्द्र अपने-अपने यहाँ होने वाले चिन्हों से भगवान के गर्भावतार का समय जानकर वहाँ आते हैं और नगर की प्रदक्षिणा देकर भगवान के माता-पिता को नमस्कार करके संगीत, नृत्य, महोत्सव आदि से अनेकों उत्सव मनाकर अपने-अपने स्थानों पर वापस चले जाते हैं, उसी समय से लेकर इन्द्र की आज्ञा से श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये षट्कुमारियाँ और दिक्कुमारियाँ माता के समीप रहकर माता की सेवा, स्तुति और तत्त्व गोष्ठियों से माता का मन अनुरंजित करने लगती हैं।

तीर्थंकर का जन्म होते ही इन्द्रों के आसन कम्पित हो जाते हैं, देवों के मुकुट स्वयं झुक जाते हैं, कल्पवृक्षों से पुष्पवृष्टि होने लगती है। उस समय कल्पवासी, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवों के

भवनों में क्रम से अपने आप ही घंटा, सिंहनाद, भेरी और शंखों के शब्द होने लगते हैं। इन चिन्ह विशेषों से देवगण भगवान के जन्म को समझ लेते हैं। तीन लोक के नाथ का जन्म होते ही सर्वत्र सुख की लहर दौड़ जाती है।

इन्द्र की आज्ञा पाकर सभी चतुर्निकाय के देवगण और देवों की सेनाएँ स्वर्ग से निकलती हैं। सौधर्म इन्द्र इन्द्राणी सहित एक लाख योजन विस्तृत ऐरावत हाथी पर चढ़कर आकर नगरी की त्रिप्रदक्षिणा देकर अयोध्या नगरी में पहुँच जाता है। इन्द्राणी द्वारा प्रसूति गृह से लाये गये जिन बालक का दर्शन कर सौधर्म इन्द्र उसे गोद में लेकर हाथी पर बैठकर सुमेरुपर्वत की ओर प्रस्थान कर देता है। उस समय करोड़ों बाजों की ध्वनि से, नृत्यगीत महोत्सव से सर्वत्र आनंद मंगल हो जाता है। सुमेरु पर्वत पर ईशान कोण की पांडुक शिला पर सिंहासन पर भगवान को विराजमान करके इन्द्र अपनी हजारों भुजाओं के द्वारा हजारों कलशों को एक साथ लेकर जिन बालक का अभिषेक करता है। सभी इन्द्र-देवगण अभिषेक, पूजा, स्तुति आदि से महान् सातिशय पुण्य का बंध कर लेते हैं।

अनन्तर इन्द्राणियाँ भी भगवान का अभिषेक कर भगवान को वस्त्राभरणों से अलंकृत करती हैं। इन्द्र वहीं पर तीर्थंकर का नामकरण कर देते हैं पुनः वापस लाकर माता-पिता को सौंपकर तांडव नृत्य आदि करके माता-पिता की पूजा करके भगवान की सेवा के लिए समान अवस्था और समान वेष वाले देवकुमारों को निश्चित कर अपने-अपने स्वर्ग को चले जाते हैं। भगवान माता का दूध नहीं पीते हैं किन्तु इन्द्र के द्वारा हाथ के अँगूठे में स्थापित अमृत को पीते हुए— अँगूठे को चूसते हुए वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

भगवान अपनी पहली अवस्था में मन्द-मन्द हँसते हुए, देव बालकों के साथ रत्नधूलि में क्रीड़ा करते हुए माता-पिता के आनन्द को बढ़ाते रहते हैं। मति-श्रुत-अवधि तीन ज्ञान के धारी होने से समस्त वाङ्मय को प्रत्यक्ष करने वाले सरस्वती के एकमात्र स्वामी भगवान समस्त लोक के स्वयं गुरु कहलाते हैं अतः वे किसी को गुरु नहीं बनाते हैं। भगवान के जन्म से ही दश अतिशय विशेष होते हैं। भगवान के लिए स्वर्ग के रत्न पिटारों से लाई गई भोगोपभोग सामग्री का गृहस्थाश्रम में भगवान उपभोग करते हैं।

किसी निमित्त से या स्वभाव से ही तीर्थंकर को जब वैराग्य होता है तब लौकांतिक देव आकर भगवान के वैराग्य की स्तुति करते हुए अपनी भक्ति प्रगट करते हैं। देवों द्वारा लाई गई पालकी पर भगवान आरूढ़ होते हैं और पहले राजागण अनन्तर विद्याधर मनुष्य उस पालकी को ले जाते हैं पश्चात् देवगण पालकी को दीक्षावन तक ले जाते हैं। वहाँ शुद्ध शिला पर भगवान विराजमान होकर पंचमुष्टि केशलोंच करके सर्वपरिग्रह त्याग करके 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' कहते हुए दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। भगवान के केशों को इन्द्रगण रत्नपिटारे में रखकर बड़े आदर से क्षीरसमुद्र में क्षेपण करते हैं। भगवान केवलज्ञान प्रकट होने तक छद्मस्थ अवस्था में मौन रखते हैं।

जब भगवान के ध्यान के प्रभाव से घातिया कर्मों का नाश हो जाता है, तब उन्हें तीनलोक और अलोक को स्पष्ट एक समय में प्रत्यक्ष दिखलाने वाला ऐसा केवलज्ञान— पूर्णज्ञान प्रकट हो जाता है। उस समय भगवान का आकाश में पाँच हजार धनुष ऊपर गमन हो जाता है। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर समवसरण की

रचना करता है। इस भूमि से एक हाथ ऊँचाई से समवसरण की सीढ़ियाँ प्रारंभ हो जाती हैं जो कि एक-एक हाथ प्रमाण की बीस हजार रहती हैं। इन सीढ़ियों को सभी अंधे, लंगड़े, बालक, वृद्ध, रोगी एक अन्तर्मुहूर्त में पार कर लेते हैं। संक्षेप में समवसरण की रचना इस प्रकार है—

सबसे पहले धूलिसाल कोट है, उसके बाद चारों दिशाओं में चार मानस्तंभ हैं, मानस्तंभों के चारों ओर सरोवर हैं, फिर निर्मल जल से भरी हुई परिखा है, फिर पुष्पवाटिका— लतावन है, उसके आगे पहला कोट है, उसके आगे और दोनों ओर दो-दो नाट्यशालाएं हैं, उसके आगे दूसरा अशोक आदि का वन है, उसके आगे वेदिका है, तदनंतर ध्वजाओं की पंक्तियाँ हैं, फिर दूसरा कोट है, उसके आगे वेदिका सहित कल्पवृक्षों का वन है, उसके आगे स्तूप और स्तूपों के बाद मकानों की पंक्तियाँ हैं, फिर स्फटिक मणिमय तीसरा कोट है, उसके भीतर मनुष्य, देव और मुनियों की बारह सभाएं हैं, तदनन्तर पीठिका है और पीठिका के अग्रभाग पर स्वयंभू भगवान अरहंत देव विराजमान रहते हैं। अरहंत देव स्वभाव से ही पूर्व अथवा उत्तर की ओर मुखकर जिस समवसरण भूमि में विराजमान होते हैं, उसके चारों ओर प्रदक्षिणारूप से क्रमपूर्वक बारह[1] गणों के बैठने योग्य बारह सभाएँ होती हैं।

केवलज्ञान प्रकट होने पर तीर्थंकर भगवान को दश अतिशय और प्रकट हो जाते हैं तथा देवों द्वारा किये गये १४ अतिशय प्रकट हो जाते हैं। भगवान के आठ प्रातिहार्य होते हैं तथा चार अनन्त चतुष्टय भी प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार भगवान बहुत काल तक धर्मोपदेश देते हुए विहार करते हैं।

अनन्तर योग निरोध कर शेष अघातिया कर्मों का भी नाश कर मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं। वहाँ अनन्तानन्तकाल तक स्वात्मजन्य सुख का अनुभव करते रहते हैं।

नोट— (चौबीस तीर्थंकरों की समस्त जानकारी परिशिष्ट चार्ट नं. २ में देखिए)।

प्रथम तीर्थंकर

भगवान ऋषभदेव कैसे बने?

इसी जम्बूद्वीप में मेरू पर्वत से पश्चिम की ओर विदेह क्षेत्र में एक 'गंधिल' नाम का देश है जो कि स्वर्ग के समान शोभायमान है। उस देश में हमेशा श्री जिनेन्द्ररूपी सूर्य का उदय रहता है इसलिए वहाँ मिथ्यादृष्टियों का उदय कभी नहीं होता। इस देश के मध्य भाग में रजतमय एक विजयार्ध नाम का बड़ा भारी पर्वत है। उस विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में एक अलका नाम की श्रेष्ठपुरी है। उस अलकापुरी का राजा अतिबल नाम का विद्याधर था, जिसकी मनोहरा नाम की पतिव्रता रानी थी। उन दोनों के अतिशय भाग्यशाली महाबल नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। किसी समय भोगों से विरक्त हुए महाराज अतिबल ने राज्याभिषेकपूर्वक अपना समस्त राज्य महाबल पुत्र को सौंप दिया और आप अनेक विद्याधरों के साथ वन में जाकर दीक्षा ले ली। महाबल राजा के चार मंत्री थे जो महाबुद्धिमान, स्नेही और दीर्घदर्शी थे, उनके नाम— महामति, संभिन्नमति, शतमति और स्वयंबुद्ध थे। इनमें स्वयंबुद्ध सम्यग्दृष्टि व शेष तीनों मिथ्यादृष्टि थे।

---

१. इनका वर्णन आ चुका है।

किसी समय अपनी जन्म गाँठ के उत्सव में राजा महाबल सिंहासन पर विराजमान थे। उस समय अनेकों उत्सव, नृत्य, गान और विद्वद्गोष्ठियाँ हो रही थीं। उस समय अवसर पाकर स्वयंबुद्ध मंत्री ने स्वामी के हित की इच्छा से जैनधर्म का मार्मिक उपदेश दिया। उसके वचनों को सुनने के लिए असमर्थ भूतवादी महामति मंत्री ने नास्तिक मत को सिद्ध करते हुए जीव तत्त्व का अभाव सिद्ध कर दिया। संभिन्नमति मंत्री ने विज्ञानवाद का आश्रय लेकर जीव का अभाव करना चाहा, उसने कहा ज्ञानमात्र ही तत्त्व है और सब भ्रममात्र है। इसके बाद शतमति मंत्री ने शून्यवाद का अवलम्बन लेकर सकल जगत् को शून्यमात्र सिद्ध कर दिया। वर्तमान में ये दोनों बौद्धमत से जाने जाते हैं।

इन तीनों की बातें सुनकर स्वयंबुद्ध मंत्री ने तीनों के एकान्त दुराग्रह का न्याय और आगम के द्वारा खंडन करके सच्चे स्याद्वादमय अहिंसा धर्म की सिद्धि करके उन्हें निरुत्तर कर दिया और राजा को प्रसन्न कर लिया। इसके बाद किसी एक दिन स्वयंबुद्ध मंत्री अकृत्रिम चैत्यालय की वन्दना के लिए सुमेरु पर्वत पर गया, वहाँ पहुँचकर उसने पहले प्रदक्षिणा दी फिर भक्तिपूर्वक बार-बार नमस्कार किया और पूजा की, यथाक्रम से भद्रसाल वन आदि के समस्त अकृत्रिम प्रतिमाओं की वंदना की और सौमनसवन के चैत्यालय में बैठ गया। इतने में ही विदेह क्षेत्र से आये हुए, आकाश में चलने वाले आदित्यगति और अरिंजय नाम के दो चारण मुनि अकस्मात् देखे। वे दोनों ही मुनि 'युगमंधर' भगवान के समवसरणरूपी सरोवर के मुख्य हंस थे। मंत्री ने उठकर उन्हें प्रदक्षिणापूर्वक प्रणाम करके पूजा और स्तुति की। अनन्तर प्रश्न किया—हे स्वामिन्! विद्याधर का राजा महाबल हमारा स्वामी है, वह भव्य है या अभव्य? मेरे द्वारा सन्मार्ग प्रदर्शक जैनधर्म के उपदेश को जैसा प्रमाण मानता है वैसे श्रद्धान भी करेगा या नहीं? इस प्रश्न के बाद आदित्यगति नामक अवधिज्ञानी मुनि कहने लगे—हे भव्य! तुम्हारा स्वामी भव्य ही है, वह तुम्हारे वचनों पर विश्वास करेगा और आज से दशवें भव में जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में प्रथम तीर्थंकर होगा, इसके पूर्वभव को तुम सुनो।

जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से पश्चिम की ओर विदेह क्षेत्र में गंधिला देश में सिंहपुर नगर है। वहाँ के श्रीषेण राजा की सुन्दरी रानी से जयवर्मा और श्रीवर्मा ऐसे दो पुत्र हुए थे। पिता ने योग्यता और स्नेह के निमित्त से छोटे पुत्र श्रीवर्मा को राज्य दे दिया तब जयवर्मा विरक्त होकर स्वयंप्रभ गुरु से दीक्षा लेकर तपश्चरण करने लगा और किसी समय आकाशमार्ग में जाते हुए महीधर विद्याधर को देखकर 'विद्याधर' होने का निदान कर लिया, इतने में ही सर्प के डसने से मरकर यहाँ पर तुम्हारा स्वामी महाबल हुआ है। आज रात्रि में उसने दो स्वप्न देखे हैं तुम जाकर उनका फल कहकर उसके पूर्वभव सुनाओ, उसका कल्याण होने वाला है।

गुरु के वचन से मंत्री वहाँ शीघ्र ही आकर बोले—राजन्! आपने जो स्वप्न देखा है कि तीनों मंत्रियों ने आपको कीचड़ में डाल दिया और मैंने उठाकर सिंहासन पर बैठाया, सो यह मिथ्यात्व के कुफल से आप निकलकर जिनधर्म में आ गये हैं। दूसरे स्वप्न में जो आपने अग्नि की ज्वाला क्षीण होते देखी उसका फल आपकी आयु एक माह की शेष रही है। आप इस भव से दसवें भव में प्रथम तीर्थंकर होंगे, इत्यादि सारी बातें मंत्री को सुना दीं। राजा महाबल ने भी अपने पुत्र अतिबल को राज्यभार सौंपकर सिद्धकूट चैत्यालय में जाकर सिद्ध प्रतिमाओं की पूजा करके गुरु की साक्षीपूर्वक जीवनपर्यन्त के लिए चतुराहार त्याग कर सल्लेखना

धारण कर ली और धर्मध्यानपूर्वक मरण करके ऐशान स्वर्ग के श्रीप्रभ विमान में ललितांग नाम का उत्तम देव हो गया। जब उसकी आयु पृथक्त्व पल्य के बराबर रह गई तब उसे स्वयंप्रभा नाम की एक और देवी प्राप्त हुई। अन्य देवियों की अपेक्षा ललितांग देव को यह देवी विशेष प्यारी थी। जब इस देव की माला आदि मुरझाई तब मृत्यु निकट जानकर शोक करते हुए इसको अनेकों देवों ने सम्बोधन प्रदान किया जिसके फलस्वरूप इस देव ने पन्द्रह दिन तक जिन चैत्यालयों की पूजा की और अच्युत स्वर्ग की जिन प्रतिमाओं की पूजा करके वहीं पर चैत्यवृक्ष के नीचे बैठकर उच्चस्वर से महामंत्र का उच्चारण करते हुए सल्लेखना से मरण को प्राप्त हो गया।

जम्बूद्वीप के महामेरु से पूर्व की ओर विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश है, उसके उत्पलखेटक नगर के राजा वज्रबाहु और रानी वसुन्धरा से वह ललितांग देव 'वज्रजंघ' नाम का पुत्र उत्पन्न हो गया। उधर अपने पति के अभाव में वह पतिव्रता स्वयंप्रभा छह महीने तक बराबर जिन पूजा में तत्पर रही पश्चात् सौमनसवन संबंधी पूर्व दिशा के जिन मंदिर में चैत्यवृक्ष के नीचे पंचपरमेष्ठी का स्मरण करते हुए समाधिपूर्वक प्राण त्याग किये और विदेह क्षेत्र की पुंडरीकिणी नगरी के राजा वज्रदंत की महारानी लक्ष्मीमती से "श्रीमती" नाम की कन्या हो गई। कालांतर में निमित्तवश इन वज्रजंघ और श्रीमती का विवाह हो गया, इनके उनंचास युगल पुत्र अर्थात् अट्ठानवे पुत्र उत्पन्न हुए। किसी समय वे सभी अपने बाबा के साथ दीक्षित हो गये।

एक समय श्रीमती के पिता चक्रवर्ती वज्रदन्त ने छोटे से पोते पुंडरीक का राज्याभिषेक कर दिया और विरक्त होकर पुत्र के साथ दीक्षा ले ली।

उस समय लक्ष्मीमती माता ने अपनी पुत्री और जमाई को बुलाया। ये दोनों वैभव के साथ पुंडरीकिणी नगरी की ओर आ रहे थे, मार्ग में किसी वन में पड़ाव डाला। वहाँ पर आकाश में गमन करने वाले श्रीमान् दमधर और सागरसेन मुनियुगल वज्रजंघ के पड़ाव में पधारे। उन दोनों मुनियों ने वन में ही आहार लेने की प्रतिज्ञा की थी। वहाँ वज्रजंघ ने श्रीमती सहित भक्ति से नवधाभक्ति सहित विधिवत् आहार दान दिया और पंचाश्चर्य को प्राप्त हुए। अनन्तर उन्हें कंचुकी से विदित हुआ कि ये दोनों मुनि हमारे ही अंतिम पुत्रयुगल हैं। राजा वज्रजंघ और श्रीमती ने उनसे अपने पूर्वभव सुने और धर्म के मर्म को भी समझा। अनन्तर पास में बैठे हुए नकुल, सिंह, वानर और सूकर के पूर्वभव सुने। उन मुनियों ने यह भी बताया कि आप आठवें भव में ऋषभ तीर्थंकर होवोगे और श्रीमती का जीव राजा श्रेयांसकुमार होगा।

किसी समय वज्रजंघ महाराज रानी सहित अपने शयनागार में सोये हुए थे। उसमें नौकरों ने कृष्ण, अगुरु आदि से निर्मित धूप खेई थी, वे नौकर रात में खिड़कियाँ खोलना भूल गये, जिसके निमित्त से धुएँ से कण्ठ रुंधकर वे पति-पत्नी दोनों ही मृत्यु को प्राप्त हो गये। आश्चर्य है कि भोग सामग्री प्राणघातक बन गई थी। वे दोनों दान के प्रभाव से मरकर उत्तरकुरु नामक उत्तम भोगभूमि में भोगभूमियाँ हो गये। वे नकुल आदि भी दान की अनुमोदना से भोगभूमि को प्राप्त हो गये।

किसी समय दो चारण मुनि आकाशमार्ग से वहाँ भोगभूमि में उतरे और इन वज्रजंघ आर्य और श्रीमती आर्या को सम्यग्दर्शन का उपदेश देने लगे। ज्येष्ठ मुनि बोले—हे आर्य! तुम मुझे स्वयंबुद्ध मंत्री का जीव

समझो, मैंने तुम्हें महाबल पर्याय में जैनधर्म ग्रहण कराया था। उन दोनों दम्पत्तियों ने मुनियों के प्रसाद से सम्यग्दर्शन ग्रहण किया और आयु के अंत में च्युत होकर ऐशान स्वर्ग में "श्रीधर" देव और "स्वयंप्रभ" नाम के देव हुए अर्थात् श्रीमती का जीव सम्यक्त्व के प्रभाव से स्त्रीपर्याय को छोड़कर देव पद को प्राप्त हो गया। एक दिन श्रीधर देव ने अपने गुरु (स्वयंबुद्ध मंत्री के जीव) प्रीतिंकर मुनिराज के समवसरण में जाकर पूछा— भगवन्! मेरे महाबल के भव में जो तीन और मंत्री थे, वे इस समय कहाँ हैं? भगवान ने बताया कि उन तीनों में से महामति और संभिन्नमति ये दो तो निगोद स्थान को प्राप्त हुए हैं और शतमति नरक गया है। तब श्रीधर देव ने नरक में जाकर शतमति के जीव को सम्बोधित किया था तथा निगोद के जीवों को सम्बोधन का सवाल ही नहीं है।

जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह में महावत्स देश है, उसकी सुसीमा नगरी के सुदृष्टि राजा की सुन्दरनन्दा रानी से वह श्रीधर देव स्वर्ग से च्युत होकर 'सुविधि' नाम का पुत्र हुआ था। कालान्तर में सुविधि की रानी मनोरमा से स्वयंप्रभदेव (श्रीमती का जीव) स्वर्ग से च्युत होकर केशव नाम का पुत्र हो गया अर्थात् वज्रजंघ का जीव सुविधि राजा हुआ और श्रीमती का जीव उसका पुत्र हुआ है।

कदाचित् सुविधि महाराज दैगम्बरी दीक्षा लेकर अन्त में मरकर अच्युतेन्द्र हुए, केशव ने भी निर्ग्रन्थ दीक्षा लेकर अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र पद प्राप्त किया।

यह अच्युतेन्द्र, जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह में पुष्कलावती देश की पुंडरीकिणी नगरी में वज्रसेन राजा और श्रीकान्ता रानी से 'वज्रनाभि' नाम का चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न हुआ। श्रीमती का जीव केशव, जो कि अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुआ था, वह भी वहाँ से च्युत होकर इसी नगरी में कुबेरदत्त वणिक् की अनन्तमती पत्नी से धनदेव नाम का पुत्र हुआ। वज्रनाभि के पिता तीर्थंकर थे और वह स्वयं चक्रवर्ती था। चक्ररत्न से षट्खण्ड वसुधा को जीतकर चिरकाल तक साम्राज्य सुख का अनुभव किया। किसी समय पिता से दुर्लभ रत्नत्रय के स्वरूप को समझकर अपने पुत्र वज्रदन्त को राज्य समर्पण कर सोलह हजार मुकुटबद्ध राजाओं, एक हजार पुत्रों, आठ भाईयों और धनदेव के साथ-साथ पिता वज्रसेन तीर्थंकर के समवसरण में जिन दीक्षा धारण कर ली और कुछ दिन बाद तीर्थंकर के ही निकट सोलह कारण भावनाओं का चिंतवन करते हुए तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया। ध्यान की विशुद्धि से ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँच गये और वहाँ का अन्तर्मुहूर्तकाल पूर्ण कर नीचे उतरे, पुनरपि कदाचित् उपशम श्रेणी में चढ़ गये और वहाँ की आयु समाप्त होते ही मरण कर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हो गये। ये अहमिन्द्र ही अपनी आयु पूर्ण कर भगवान 'ऋषभदेव' नाम के प्रथम तीर्थंकर होवेंगे।

भगवान ऋषभदेव

श्री महाराज नाभिराज की मरुदेवी नाम की रानी थी जो कि अपने रूप, सौंदर्य, कांति, शोभा, द्युति और विभूति आदि गुणों से इन्द्राणी के समान थी। उस मरुदेवी के विवाह के समय इन्द्र के द्वारा प्रेरित हुए उत्तम देवों ने बड़ी विभूति के साथ उनका विवाहोत्सव मनाया था। उस समय संसार में महाराज नाभिराज ही सबसे अधिक पुण्यवान् थे और मरुदेवी ही सबसे अधिक पुण्यवती थी क्योंकि जिनके स्वयंभू भगवान ऋषभदेव पुत्र होंगे उनके समान पुण्यशाली और कौन हो सकता है? उस समय उत्तम भोगों का अनुभव करते हुए वे

दोनों दम्पत्ति ऐसे जान पड़ते थे मानों भोगभूमि की नष्ट हुई लक्ष्मी को ही साक्षात् दिखला रहे हों।

अयोध्या की रचना— जब सर्वत्र कल्पवृक्षों का अभाव हो गया तब नाभिराज और मरुदेवी से अलंकृत स्थान में उनके पुण्य के द्वारा बुलाये हुए इन्द्र ने अयोध्या नगरी की रचना की। उस समय जो मनुष्य जहाँ-तहाँ बिखरे हुए रहते थे, देवों ने उन सबको लाकर उस नगरी में बसाया और सबकी सुविधा के लिए अनेक प्रकार के उपयोगी स्थानों की रचना की। उस नगरी के मध्य में देवों ने राजमहल बनाया था। वह राजमहल इन्द्रपुरी के साथ स्पर्धा करने वाला था और बहुमूल्य अनेक विभूतियों से सहित था।

इस भवन के विषय में अन्यत्र भी लिखा है—

उस[1] समय दक्षिण भरतक्षेत्र में कल्पवृक्षरूप प्रासाद था, वही पृथ्वीनिर्मित प्रासाद बन गया था। राजा नाभिराज के उस प्रासाद का नाम 'सर्वतोभद्र' था, उसके खम्भे स्वर्णमय थे, दीवालें नाना प्रकार की मणियों से निर्मित थीं। वह पुखराज, मूँगा तथा मोती आदि की मालाओं से सुशोभित था, इक्यासी खण्ड से युक्त था और कोट, वापिका तथा बाग-बगीचों से अलंकृत था। वह अधिष्ठाता श्री नाभिराज के प्रभाव से अकेला ही अनेक कल्पवृक्षों से आवृत्त था तथा पृथ्वी के मध्य अपने स्थान पर अधिष्ठित था।

राजा नाभिराज की मरुदेवी नाम की पट्टरानी थी। वह शुद्ध कुल में उत्पन्न हुई थी तथा जिस प्रकार इन्द्र को इन्द्राणी प्रिय होती है, उसी प्रकार राजा नाभिराज को मरुदेवी प्रिय थीं।

वह अयोध्या नगरी सुकौशल देश में थी इसलिए देश के नाम से 'सुकौशल' इस प्रसिद्धि को भी प्राप्त हुई थी तथा वह नगरी अनेक विनीत, शिक्षित-पढ़े-लिखे विनयवान् या सभ्य मनुष्यों से व्याप्त थी इसलिए वह 'विनीता' भी मानी गई थी। वह अयोध्या नाम की राजधानी अत्यन्त प्रसिद्ध थी और होने वाले बड़े भारी देश की नाभि— मध्यभाग की शोभा धारण करती हुई सुशोभित होती थी। राजभवन, वप्र, कोट और खाई से सहित वह नगरी ऐसी जान पड़ती थी मानो आगे कर्मभूमि के समय में होने वाले नगरों की रचना प्रारंभ करने के लिए एक प्रतिबिंब— नक्शा ही बनाया गया हो।

अनन्तर उस अयोध्या नगरी में सब देवों ने मिलकर किसी शुभ दिन, शुभ मुहूर्त, शुभयोग और शुभ लग्न में हर्षित होकर पुण्याहवाचन किया। जिन्हें अनेक संपदाओं की परम्परा प्राप्त हुई थी, ऐसे महाराज नाभिराज ने मरुदेवी के साथ आनन्दित होकर पुण्याहवाचन के समय ही उस अतिशय ऋद्धियुक्त अयोध्या नगरी में निवास करना प्रारंभ किया था। "इन दोनों के सर्वज्ञ ऋषभदेव पुत्र जन्म लेंगे" यह समझकर इन्द्र ने अभिषेकपूर्वक उन दोनों की बड़ी पूजा की थी।

भगवान ऋषभदेव का गर्भावतार— छह महीने बाद ही भगवान ऋषभदेव यहाँ स्वर्ग से अवतार लेंगे, ऐसा जानकर देवों ने बड़े आदर के साथ आकाश से रत्नों की वर्षा की थी। इन्द्र की आज्ञा से नियुक्त हुए कुबेर ने हरिन्मणि, इन्द्रनील मणि, पद्मराग मणि आदि उत्तम-उत्तम रत्नों की धारा को नाभिराज के आंगन में वर्षाया था। इस प्रकार स्वामी ऋषभदेव के स्वर्गावतरण से छह महीने पहले से लेकर पीछे भी नौ महीने तक अर्थात् पन्द्रह महीने तक रत्न तथा सुवर्ण की वर्षा होती रही थी।

---

१. हरिवंशपुराण पृ. १४६।

माता के सोलह स्वप्न— किसी दिन महारानी मरुदेवी ने राजमहल में सोते समय रात्रि के पिछले प्रहर में जिनेन्द्रदेव के जन्मसूचक सोलह स्वप्न देखे। (१) ऐरावत हाथी (२) शुभ्रबैल (३) सिंह (४) हाथी के द्वारा स्वर्णमय कलशों से अभिषिक्त होती हुई कमलासन पर बैठी लक्ष्मी (५) दो पुष्पमालाएँ (६) पूर्ण चन्द्र मंडल (७) उदित होता हुआ सूर्य (८) कमल पत्र से आवृत स्वर्ण के दो कलश (९) सरोवर में क्रीड़ा करती हुई दो मछलियाँ (१०) कमलयुक्त सुन्दर तालाब (११) लहरों से युक्त गंभीर समुद्र (१२) रत्न निर्मित उत्कृष्ट सिंहासन (१३) रत्नों से दैदीप्यमान स्वर्ग का विमान (१४) नागेन्द्र भवन (१५) किरणों से शोभित रत्नों की राशि (१६) निर्धूम अग्नि। इस प्रकार सोलह स्वप्नों को देखने के बाद मरुदेवी ने देखा कि स्वर्ण के समान पीली कांति का धारक, उन्नत कंधों वाला बैल हमारे मुख कमल में प्रवेश कर रहा है।

अनंतर मंगलवाद्यों की ध्वनि और सुप्रभात आदि मंगल स्तोत्रों से प्रबोध को प्राप्त हुई वह रानी उठकर बैठ गई। यद्यपि वह स्वप्न देखने के कारण मंगलवाद्य आदि के पहले ही जागृत हो चुकी थी, तो भी उन बंदीजनों ने अनेकों स्तुतियों से माता को जगाते हुए के समान ही आनंदित किया था। अनंतर हर्षित हुई वह मरुदेवी मंगल स्नान कर वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो अपने पति के पास पहुँची और विनय से महाराज नाभिराज के दर्शन कर अर्धासन पर सुखपूर्वक बैठकर, राज्य सिंहासन पर विराजमान महाराज नाभिराज से इस प्रकार निवेदन किया— हे देव! आज रात्रि के पिछले प्रहर में मैंने सोलह स्वप्न देखे हैं और उन स्वप्नों को क्रमशः सुनाकर कहा कि हे देव! आप इन स्वप्नों का फल कहिये। महाराज नाभिराज भी अवधिज्ञान से इन स्वप्नों का फल जानकर कहने लगे— हे देवि! सुनो, ऐरावत हाथी के देखने से तुम्हारे उत्तम पुत्र होगा, उत्तम बैल देखने से वह समस्त लोक में ज्येष्ठ होगा, सिंह के देखने से अनन्त बल से युक्त होगा, मालाओं के देखने से समीचीन धर्म के तीर्थ का चलाने वाला होगा, लक्ष्मी के देखने से सुमेरु पर्वत के मस्तक पर देवों द्वारा अभिषेक को प्राप्त होगा, पूर्ण चन्द्रमा के देखने से समस्त लोगों को आनन्द देने वाला होगा, सूर्य के देखने से देदीप्यमान प्रभा का धारक होगा, दो कलश देखने से अनेक निधियों को प्राप्त होगा, मछलियों का युगल देखने से सुखी होगा, सरोवर के देखने से अनेक लक्षणों से शोभित होगा, समुद्र को देखने से केवली होगा, सिंहासन के देखने से जगत् का गुरु होकर साम्राज्य को प्राप्त करेगा, देवों का विमान देखने से वह स्वर्ग से अवतीर्ण होगा, नागेन्द्र का भवन देखने से वह अवधिज्ञानरूपी लोचनों से सहित होगा, चमकते हुए रत्नों की राशि देखने से गुणों की खान होगा और निर्धूम अग्नि के देखने से कर्मरूपी ईंधन को जलाने वाला होगा तथा तुम्हारे मुख में जो वृषभ ने प्रवेश किया है उसका फल यह है कि तुम्हारे निर्मल गर्भ में तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव अपना शरीर धारण करेंगे। इस प्रकार महाराजा नाभिराज के वचनों को सुनकर रानी मरुदेवी परमानन्द से रोमांच को प्राप्त हो गई थी।

जब अवसर्पिणी के तीसरे सुषमादुःषमा नामक काल में चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष आठ मास और एक पक्ष बाकी रह गया था, तब आषाढ़ कृष्णा द्वितीया के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में वज्रनाभि नाम के अहमिंद्र देव-देवायु का अन्त होने पर सर्वार्थसिद्धि विमान से च्युत होकर मरुदेवी के गर्भ में अवतीर्ण हुए और वहाँ सीप

के संपुट में मोती की तरह सब बाधाओं से रहित होकर स्थित हो गये। उस समय समस्त इन्द्र अपने-अपने यहाँ होने वाले चिन्हों से भगवान के गर्भावतार का समय जानकर वहाँ आये और सभी ने नगरी की तीन प्रदक्षिणा देकर भगवान के माता-पिता को नमस्कार किया। महाराज नाभिराज का आंगन देवों से खचाखच भर गया। सौधर्म इन्द्र देवों के साथ संगीत, नृत्य आदि अनेकों उत्सवों से गर्भकल्याणक उत्सव मनाकर माता-पिता की पूजा कर अपने-अपने स्थानों पर चले गये। उसी समय से लेकर इन्द्र की आज्ञा से दिक्कुमारी देवियाँ उस समय होने योग्य कार्यों के द्वारा दासियों के समान माता मरुदेवी की सेवा करने लगीं। परिचर्या करते समय सबसे पहले देवियों ने स्वर्ग से लाये हुए पवित्र पदार्थों के द्वारा माता का गर्भ शोधन किया था। यद्यपि वह माता स्वभाव से ही निर्मल थी, रजस्वला और मल, मूत्र आदि दोषों से रहित थी, फिर भी देवियों ने उसे विशुद्ध किया था। उन देवियों में कोई तो माता के आगे अष्टमंगल द्रव्य धारण करती थी, कोई ताम्बूल देती थी, कोई स्नान कराती थी, कोई आभूषणों से अलंकृत करती थी, कोई चौक पूरतीं, कोई चन्दन से पृथ्वी का सिंचन करती, कोई आरती उतारती और कितनी ही देवियाँ मन्त्राक्षरों के द्वारा उसका रक्षा बन्धन करती थीं। वे देवियाँ विशिष्ट-विशिष्ट काव्य गोष्ठियों से, तत्त्व गोष्ठियों से बड़े आदर के साथ गर्भवती मरुदेवी को प्रसन्न करने लगी थीं और अनेकों गूढ़ प्रश्न, पहेलिकाएं भी करती रहती थीं। माता मरुदेवी भी भगवान के प्रसाद से ही कठिन से कठिन पदों का, पहेलियों का अर्थ भी निमिषमात्र में करके देवियों को आश्चर्यचकित कर देती थीं। वे भगवान ऋषभदेव माता के उदर में स्थित होकर भी उसे किसी प्रकार का कष्ट उत्पन्न नहीं करते थे। यद्यपि माता मरुदेवी का कृश उदर पहले के समान ही त्रिवलियों से सुशोभित बना रहा तथापि गर्भ वृद्धि को प्राप्त होता गया सो यह भगवान के तेज का ही प्रभाव था। न तो माता के उदर में कोई विकार हुआ था, न उनके स्तनों के अग्रभाग ही काले हुए थे, न उनका मुख ही सफेद हुआ था यह एक आश्चर्य की बात है।

मरुदेवी के निर्मल गर्भ में स्थित तथा मति, श्रुत और अवधि इन तीनों ज्ञानों से विशुद्ध अन्तःकरण को धारण करने वाले भगवान ऋषभदेव ऐसे सुशोभित होते थे जैसे कि स्फटिकमणि के बने हुए घर के बीच में रखा हुआ निश्चल दीपक सुशोभित होता है। अपने समस्त पापों का नाश करने के लिए इन्द्र के द्वारा भेजी गई इन्द्राणी भी अप्सराओं के साथ-साथ गुप्तरूप से महासती मरुदेवी की सेवा किया करती थीं। जिस प्रकार अतिशय शोभायमान चन्द्रमा की कला और सरस्वती देवी किसी को नमस्कार नहीं करतीं किन्तु सब लोग उन्हें नमस्कार करते हैं, उसी प्रकार वह मरुदेवी भी किसी को नमस्कार नहीं करती थीं किन्तु संसार के अन्य समस्त लोग स्वयं उसे ही नमस्कार करते थे। इस विषय में अधिक कहने से क्या प्रयोजन है? इतना ही कहना बस है कि वह जगत् के स्रष्टा अर्थात् भोगभूमि के बाद कर्मभूमि की व्यवस्था करने वाले श्री ऋषभदेव की जननी थीं इसलिए कहना चाहिए कि वह समस्त लोक की जननी थीं।

भगवान ऋषभदेव का जन्म—नव महीने व्यतीत होने पर श्री, ह्री आदि देवियों से सेवित माता मरुदेवी ने चैत्र कृष्णा नवमी के दिन सूर्योदय के समय उत्तराषाढ़ नक्षत्र और ब्रह्म नामक महायोग में मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों से शोभायमान, बालक होने पर भी गुणों से वृद्ध तथा तीनों लोगों के एकमात्र स्वामी दैदीप्यमान पुत्र श्री ऋषभदेव को उत्पन्न किया। उस समय समस्त दिशाएँ निर्मल हो गईं, प्रजा का हर्ष

बढ़ गया, कल्पवृक्षों से स्वयं ही पुष्प बरसने लगे, देवों के स्थानों में बिना बजाये स्वयं ही दुन्दुभि आदि बाजे बजने लगे एवं शीतल तथा सुगन्धित वायु मन्द-मन्द बहने लगी, अकस्मात् सभी देवों के आसन कम्पित होने लगे एवं देवों के मस्तक में लगे हुए मुकुट स्वयमेव नम्रीभूत हो गये। कल्पवासी देवों के घरों में घंटा, ज्योतिषी देवों के यहाँ सिंहनाद, व्यन्तर देवों के यहाँ भेरी शब्द एवं भवनवासी देवों के यहाँ शंखध्वनि होने लगी। आसन के कम्पित होने से इन्द्र ने भी अपने अवधिज्ञान से तीर्थंकर सूर्य के उदय को जानकर आसन से उतर कर भक्तिभाव से परोक्ष में ही भगवान को नमस्कार किया।

इन्द्र का आगमन— तदनन्तर सौधर्म स्वर्ग के सौधर्म इन्द्र ने इन्द्राणी सहित एक लाख योजन विस्तृत ऐरावत हाथी पर चढ़कर अनेक देवों से परिवृत हो प्रस्थान किया। इन्द्र की आज्ञा पाकर स्वर्गों से हाथी, घोड़े आदि की सात प्रकार की सेनाएँ, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद आदि सभी प्रकार के देव, इन्द्र को चारों ओर से घेर कर चलने लगे। सभी देव-देवेन्द्र अपने-अपने विमानों और पृथक्-पृथक् वाहनों पर चढ़कर जय-जय शब्दोच्चारण करते हुए समस्त आकाशरूपी आंगन को व्याप्त कर आ रहे थे। देवों से घिरे हुए सौधर्म इन्द्र अयोध्या नगरी की प्रदक्षिणा देकर अयोध्यापुरी में पहुँच गये।

प्रसूतिगृह से जिनबालक का लाना— इन्द्राणी ने बड़े ही उत्सव से प्रसूतिगृह में प्रवेश किया और वहीं जिन बालक के साथ-साथ माता मरुदेवी के दर्शन किये। पहले कई बार प्रदक्षिणा देकर जगद्गुरु जिनेन्द्रदेव को नमस्कार किया और अपने को गुप्त रखते हुए ही अनेक प्रकार से जिनमाता की स्तुति की और उसे मायामयी नींद से युक्त कर दिया। उसके आगे मायामयी दूसरा बालक रखकर तेजपुंज जगद्गुरु भगवान को दोनों हाथों से उठाकर वह परम आनन्द को प्राप्त हुई और भगवान के शरीर का बार-बार स्पर्श करते हुए महान् पुण्यबंध करके अपनी स्त्रीपर्याय का छेद कर दिया। जिनबालकरूपी सूर्य को लेकर जाती हुई उस इन्द्राणी के आगे-आगे अष्ट मंगल द्रव्य धारण करने वाली दिक्कुमारी देवियाँ चल रही थीं और वे ऐसी मालूम पड़ती थीं कि मानों भगवान की ऋद्धियाँ ही हों। अपने को कृतकृत्य मानती हुई इन्द्राणी ने आदर सहित जिन सूर्य को इन्द्र के हाथों में विराजमान कर दिया।

इन्द्र का भगवान को गोद में लेकर मेरु पर्वत पर गमन— भगवान को गोद में लेकर सौधर्म इन्द्र हर्ष से नेत्रों को प्रफुल्लित करते हुए भगवान के सुन्दर रूप को देखते हुए और अनेक प्रकार से स्तुति करते हुए भी तृप्त नहीं हुआ, तब उसने अपने एक हजार नेत्र और बना लिये पुनः शीघ्रता से मेरु पर्वत पर चलने का इशारा करने के लिए इन्द्र ने अपना हाथ ऊँचा उठाया। उस समय हे ईश! आपकी जय हो! आप समृद्धिमान हो! इत्यादि मंगल शब्दों को जोर-जोर से कहते हुए देवों ने इतना अधिक कोलाहल किया था कि समस्त दिशाएँ बहरी हो गई थीं। आकाश मार्ग से जाते हुए देवगण स्तुति, नृत्य, संगीत आदि से मार्ग में करोड़ों उत्सव मना रहे थे। भगवान सौधर्म इन्द्र की गोद में बैठे हुए थे। ऐशान इन्द्र सफेद छत्र लगाकर उनकी सेवा कर रहा था और सानत्कुमार तथा माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र प्रभु के दोनों ओर क्षीरसागर की लहरों के समान सफेद चमर ढोर रहे थे। उस समय की विभूति देखकर अन्य मिथ्यादृष्टि देव इन्द्र को प्रमाण मानकर समीचीन जैनमार्ग में श्रद्धा करने लगे थे। मेरुपर्वतपर्यन्त नीलमणियों से बनाई गई सीढ़ियाँ ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो आकाश ही भक्ति से सीढ़ीरूप पर्याय को प्राप्त हो गया हो। क्रम-क्रम से वे इन्द्रगण ज्योतिष

पटल को उल्लंघन कर निन्यानवे हजार योजन ऊँचे उस सुमेरु पर्वत पर जा पहुँचे।

पांडुकशिला पर जिन बालक का जन्म महोत्सव— इन्द्र ने बड़े प्रेम से देवों के साथ-साथ उस गिरिराज सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा दी और पांडुक वन में ऐशान दिशा में स्थित पांडुक नामक शिला पर जिनेन्द्र भगवानरूपी सूर्य को विराजमान किया। वह शिला अत्यन्त पवित्र है, सौ योजन लम्बी पचास योजन चौड़ी, आठ योजन ऊँची है और अर्ध चन्द्राकार है। इस शिला के मध्य में जिनेन्द्र भगवान को विराजमान करने के लिए श्रेष्ठ सिंहासन है और आजू-बाजू में सौधर्म-ईशान इन्द्र के लिए दो भद्रासन हैं। जिनेन्द्र भगवान के जन्म कल्याणक की विभूति को देखने के लिए देवगण उस पांडुक शिला को घेरकर सभी दिशाओं में क्रम-क्रम से यथा योग्य रूप में बैठ गये और देवों की सेना भी उस पांडुक वन में आकाशरूपी आंगन को रोककर मेरु पर्वत के ऊपरी भाग में व्याप्त होकर जा ठहरी।

सौधर्म इन्द्र भगवान को पूर्व दिशा की ओर मुँह करके पांडुकशिला पर रखे हुए सिंहासन पर विराजमान कर उनका अभिषेक करने के लिए तत्पर हुआ। उस समय समस्त आकाश को व्याप्त कर देवों के दुंदुभि बाजे बजने लगे, अप्सरायें नृत्य करनी लगीं। इन्द्रों ने वहीं पर एक ऐसे बड़े भारी मण्डप की रचना की थी जिसमें तीनों लोकों के समस्त प्राणी परस्पर में बाधा न देते हुए बैठ सकते थे, उस मण्डप में कल्पवृक्ष के पुष्पों से निर्मित अनेक प्रकार की मालाएँ लटक रही थीं।

सौधर्म इन्द्र ने उस अवसर की प्रस्तावनाविधिरूप समस्त विधि करके भगवान के अभिषेक के लिए चन्दन से चर्चित प्रथम कलश उठाया और कलश को उठाने के मंत्र को जानने वाले ऐशान इन्द्र ने दूसरा कलश उठाया। ये कलश आठ योजन गहरे, मुख पर एक योजन चौड़े और उदर में चार योजन चौड़े, सुवर्णमय होते हैं। देवों के द्वारा हाथों-हाथ क्षीरसमुद्र से लाये गये क्षीर जल से पूर्ण भरे हुए हैं। इनके कण्ठों में मोतियों की मालाएं लटक रही हैं और चन्दन से चर्चित अशोक पल्लव आदि से सुशोभित हो गये हैं। उन सभी कलशों को एक साथ उठाने के लिए इन्द्र ने विक्रिया से एक हजार भुजाएँ बना लीं और सभी कलशों से एक साथ अभिषेक प्रारंभ कर दिया। जब सौधर्मेन्द्र ने जय-जय शब्द करते हुए पहली जलधारा भगवान के मस्तक पर छोड़ी, उसी समय जय-जय बोलते हुए अन्य करोड़ों देवों ने भी बड़ा भारी कोलाहल किया था। अन्य सभी इन्द्रों ने भी बहुत से जल से भरे हुए सुवर्ण कलशों से एक साथ अभिषेक किया। वह अभिषेक उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि मानों एक साथ बहुत सी गंगा-सिंध्वादि नदियाँ ही भगवान के मस्तक पर पड़ रही हों। यद्यपि भगवान तत्काल जन्मे बालक थे, फिर भी वे मेरु के समान अचल, अकम्प थे। भगवान के अभिषेक से उछला हुआ जलप्रवाह से मेरुपर्वत से नीचे भूमि तक पड़ता हुआ ऐसा मालूम पड़ता कि मानों यह क्षीरसागर का जलप्रवाह मेरु पर्वत को खड़े नाप से ही नाप रहा हो। ऊपर से लेकर नीचे पृथ्वीतल तक सभी ओर से जलप्रवाह से तर हो रहा यह मेरुपर्वत 'यह स्फटिक मणि का पर्वत है? यह अमृत की राशि ही है?' इत्यादि कल्पनाओं को उत्पन्न कर रहा था।

जब शुद्ध जल से अभिषेक समाप्त हो गया था, तब इन्द्र ने शुभ सुगंधित द्रव्यों के जल से भगवान का अभिषेक करना प्रारंभ किया था तत्पश्चात् इन्द्र सुगंधित जल से भगवान का अभिषेक कर जगत की शांति के

लिए उच्च स्वर से शांति मंत्र पढ़ने लगे। देवों ने उस गंधोदक को पहले अपने मस्तकों पर लगाया, फिर सारे शरीर में लगाया और फिर बाकी बचे हुए को स्वर्ग ले जाने के लिए रख लिया। अभिषेक समाप्त होने पर देवों ने त्रिलोकपूज्य उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप भगवान की प्रदक्षिणा देकर मंत्रों से पवित्र हुए जल, गंध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल और अर्घ्य के द्वारा पूजा की। जिनका अभिषेक कराने वाला स्वयं इन्द्र था, मेरु पर्वत पर स्नान करने का सिंहासन था, देवियाँ नृत्य करने वाली थीं, देव किंकर थे और क्षीर-समुद्र स्नान करने का कटाह था, इस प्रकार अतिशय प्रशंसनीय मेरुपर्वत पर जिनका स्नपन महोत्सव समाप्त हुआ था, वे पवित्र आत्मा वाले भगवान समस्त जगत् को पवित्र करें।

अनन्तर इन्द्राणी ने बड़े भक्तिभाव से भगवान को अलंकार पहनाना प्रारंभ किया, भगवान के जल कणों को वस्त्र से पोंछकर ललाट पर तिलक लगाया तथा माला, मुकुट, मुद्रिका, बाजूबंद, कंकण, करधनी आदि से और दिव्य वस्त्रों से विभूषित किया था। उस समय के भगवान के रूप को देखते हुए इन्द्र तृप्त नहीं हुआ, तब उसने एक हजार नेत्र बना लिये थे। सभी देवों ने, असुरों ने भी भगवान के रूप को टिमकार रहित नेत्रों से एकटक देखते हुए अपनी देवपर्याय को सफल माना था पुनः इन्द्र ने और सभी देवों ने भी अनेक प्रकार से भगवान की स्तुति की थी।

तत्पश्चात् इन्द्र ने भगवान ऋषभदेव को लेकर देवों के साथ उत्कृष्ट लक्ष्मी से सुशोभित महाराज नाभिराज के घर में प्रवेश किया और देवों द्वारा रचित श्रीगृह के आंगन में बालकरूपधारी भगवान को सिंहासन पर विराजमान किया तथा माता-पिता को प्रसन्न करते हुए इन्द्र ने आभूषण, माला और बहुमूल्य वस्त्रों से इन जगत्पूज्य माता-पिता की पूजा की पुनः नाना प्रकार के स्तोत्रों से उनकी स्तुति करने लगे। हे पूज्य! आज आपका यह घर हम लोगों के लिए जिनालय के समान पूज्य है और तीन लोक के नाथ प्रथम तीर्थंकर के आप माता-पिता हैं, इसलिए तीन जगत् के ही माता-पिता हैं, इस प्रकार इन्द्र ने अनेक प्रकार से स्तुति करके उनके हाथों में भगवान को सौंप दिया। माता-पिता ने अनेक उत्सव करने वाले पुरवासियों के साथ-साथ बड़ी विभूति से पुनरपि जन्म महोत्सव किया। सारे संसार को आनन्दित करने वाला यह महोत्सव जैसा मेरुपर्वत पर हुआ था, वैसा ही अन्तःपुर सहित इस अयोध्या नगर में हुआ।

उन नगरवासियों का आनन्द देखकर अपने आनन्द को प्रकाशित करते हुए इन्द्र ने 'आनन्द' नाम नाटक प्रारंभ किया। तीनों लोकों में फैली हुई कुलाचलों सहित पृथ्वी ही उसकी रंगभूमि थी। स्वयं इन्द्र प्रधान नृत्य करने वाले थे, नाभिराज आदि उत्तम-उत्तम पुरुष उस नृत्य के दर्शक थे, जगद्गुरु भगवान ऋषभदेव उसके आराध्य (प्रसन्न करने योग्य) देव थे और धर्म, अर्थ, काम इन तीन पुरुषार्थों की सिद्धि तथा परमानन्द रूप मोक्ष की प्राप्ति होना ही उसका फल था। उस समय इन्द्र ने पहले त्रिवर्ग— धर्म, अर्थ, कामरूप फल को सिद्ध करने वाला गर्भावतार संबंधी नाटक किया और फिर जन्माभिषेक संबंधी नाटक प्रारंभ किया। अनन्तर भगवान के महाबल आदि दशावतार संबंधी वृत्तांत को लेकर अनेक रूप दिखलाने वाले अन्य अनेकों नाटक किये। पूर्व में मंगलाचरण करके इन्द्र ने पुष्पांजलि क्षेपण कर तांडव नृत्य करना प्रारंभ किया, तब उसकी भक्ति से प्रसन्न हुए देवों ने आकाश से पुष्पवर्षा की, करोड़ों बाजे एक साथ बजने लगे, किन्नर देवियाँ मंगल

गीत गाने लगीं। महाराज नाभिराज मरुदेवी के साथ-साथ वह आश्चर्यकारी नृत्य देखकर बहुत ही चकित हुए और इन्द्रों द्वारा की हुई प्रशंसा को प्राप्त हुए।

नामकरण— ये भगवान जगत भर में ज्येष्ठ हैं और जगत् का हित करने वाले धर्मरूपी अमृत की वर्षा करेंगे, इसलिए ही इन्द्रों ने उनका 'ऋषभदेव' यह सार्थक नाम रखा था तथा 'पुरुदेव', 'आदिनाथ' 'ऋषभदेव' आदि नाम भी प्रसिद्ध किये।

अनन्तर भगवान की सेवा के लिए समान अवस्था, समान रूप और समान वेष वाले देवकुमारों को भगवान के साथ क्रीड़ा करने के लिए छोड़ दिया तथा स्नान कराने, वस्त्राभूषण पहनाने, शरीर संस्कार करने और क्रीड़ा कराने के लिए अनेक देवियों को धाय बनाकर नियुक्त करके वे इन्द्रादि अपने-अपने स्थान को चले गये।

भगवान ऋषभदेव की बाल्यावस्था— भगवान ऋषभदेव अपनी पहली शैशव अवस्था में कभी मन्द-मन्द हँसते थे, कभी मणिमयी पृथ्वी पर धीरे-धीरे गिरते पड़ते पैरों से चलते हुए देव बालकों के साथ-साथ रत्नों की धूलि में क्रीड़ा करते हुए माता-पिता का हर्ष बढ़ा रहे थे। जन्म से ही मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों के धारी होने से वे संसार की स्थिति को समझने वाले और समस्त वाङ्मय को प्रत्यक्ष करने वाले, सरस्वती के एकमात्र स्वामी थे, इसलिए समस्त लोक के गुरु हो गये थे। उनका शरीर असाधारण, मल, मूत्र, पसीना से रहित, तपाये हुए सुवर्ण के सदृश था, उनके शरीर में दूध के समान रुधिर, समचतुरस्र नामक उत्तम संस्थान, वज्रवृषभनाराच नामक उत्तम संहनन था, सुन्दरता और सुगंधि की परम सीमा को पहुँच चुका था, एक हजार आठ लक्षणों से अलंकृत, अप्रमेय महाशक्तिशाली था, वे भगवान प्रिय तथा हितकारी वचन बोलने वाले थे, वे माता का दूध नहीं पीते थे किन्तु इन्द्र के द्वारा हाथ के अँगूठे में स्थापित अमृत को पीते थे अर्थात् अँगूठे को चूसते हुए वृद्धि को प्राप्त होते थे।

चरम शरीर को धारण करने वाले भगवान की आयु चौरासी लाख पूर्व वर्ष की थी। श्री वृक्ष, शंख, कमल, स्वास्तिक आदि एक सौ आठ लक्षण और मसूरिका आदि नौ सौ व्यंजन भगवान के शरीर में विद्यमान थे अर्थात् एक सौ आठ लक्षण और नौ सौ व्यंजन इस प्रकार एक हजार आठ शुभ लक्षण भगवान के शरीर की शोभा बढ़ा रहे थे। इस प्रकार देवों द्वारा लाये गये उत्तमोत्तम भोगों का उपभोग करते हुए सुख से भगवान का शैशव काल व्यतीत हो गया था।

भगवान के लिए देवोपनीत भोजन-वस्त्र आदि— भगवान का कोमल बिस्तर, कोमल आसन, वस्त्र, आभूषण, अनुलेपन, भोजन, वाहन तथा यान आदि सभी वस्तुएँ देवनिर्मित थीं। "सौधर्म[१] स्वर्ग में इन्द्र के रहने के भवन की ईशान दिशा में 'सुधर्मा' नामक सभामंडप है, इसके मध्य इन्द्र का सिंहासन है, इस आस्थान मण्डप के आगे मानस्तंभ हैं, ये मानस्तंभ एक योजन चौड़े, छत्तीस योजन ऊँचे पीठकर सहित वज्रमयी एक-एक कोश विस्तार वाले हैं और बारह धारा-पहलू सहित गोल हैं। इन मानस्तंभों में रत्नों की सांकल से लटकते 'करंडक' हैं। इनमें तीर्थंकरों के पहनने आदि के वस्त्र, आभरण आदि हैं। भगवान के लिए

१. त्रिलोकसार गाथा ५२१, ५५१, पृष्ठ ४४६।

भोग-उपभोग योग्य वस्तुओं को इन्द्रादि देवगण, इन्हीं पिटारे से लाते हैं।

भगवान ऋषभदेव का विवाह-महोत्सव— भगवान की यौवन अवस्था का प्रारंभ देखकर महाराज नाभिराज मन में विचार करने लगे कि चूँकि इनका धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने में भारी उद्योग है, ये नियम से सब परिग्रह छोड़कर वन में जाकर दीक्षा ग्रहण करेंगे तथापि तपस्या करने के लिए जब तक इनकी काललब्धि आती है, तब तक इनके लिए लोक-व्यवहार के अनुरोध से योग्य पत्नी का विचार करना चाहिए। यह निश्चित कर महाराज नाभिराज बड़े ही आदर के साथ भगवान के पास जाकर भगवान से कहने लगे कि हे देव! मैं आपसे कुछ कहना चाहता हूँ सो आप सावधान होकर सुनिये। आप जगत् के अधिपति हैं, इसलिए आपको जगत् का उपकार करना चाहिए। आप जगत् की सृष्टि करने वाले ब्रह्मा हैं तथा स्वयंभू हैं—अपने आप उत्पन्न हुए हैं। आपकी उत्पत्ति में हम माता-पिता केवल निमित्तमात्र हैं। यह प्रजा महापुरुषों का ही अनुगमन करती है इसलिए हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ! किसी इष्ट कन्या के साथ विवाह करने के लिए मन कीजिए क्योंकि ऐसा करने से प्रजा की सन्तति का उच्छेद नहीं होगा और उसी से धर्म की सन्तति बढ़ेगी, इसलिए हे देव! मनुष्यों के अविनाशीक इस विवाहरूपी धर्म को अवश्य ही स्वीकार कीजिए। यदि आप मुझे किसी भी तरह गुरु मानते हैं तो आपको मेरे वचनों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार धीर-वीर महाराज नाभिराज के वचन सुनकर भगवान ने हँसते हुए 'ओम्' कहकर उनके वचन स्वीकार कर लिये। इन्द्रियों को वश में करने वाले भगवान ने जो विवाह कराने की स्वीकृति दी थी सो क्या पिता के वचनों की चतुराई थी अथवा प्रजा के उपकार की इच्छा थी या वैसा कोई कर्मों का ही नियोग था।

भगवान की अनुमति जानकर राजा नाभिराज ने इन्द्र की अनुमति से सुशील, सुन्दर लक्षणों वाली, सती यशस्वती और सुनन्दा नाम की दो कन्याओं के साथ भगवान का पाणिग्रहण किया था। ये दोनों कन्यायें राजा कच्छ और महाकच्छ की बहनें थीं। भगवान के विवाह के समय इन्द्र ने देवों सहित अनेकों उत्सव मनाये थे।

भगवान ऋषभदेव को पुत्र-पुत्रियों की प्राप्ति— किसी समय यशस्वती महादेवी राजमहल में सो रही थीं, उस समय रात्रि के पिछले भाग में उन्होंने स्वप्न में ग्रसी हुई पृथ्वी, सुमेरु पर्वत, चन्द्रमा सहित सूर्य, हंस सहित सरोवर तथा चंचल लहरों वाला समुद्र देखा। अनन्तर मंगल वाद्य गीतों के साथ प्रबोध को प्राप्त हुई रानी ने अपने पतिदेव भगवान ऋषभदेव के मुख से 'देवि! तुम्हें चक्रवर्ती पुत्र होगा' इस फल को सुनकर अत्यन्त हर्ष को प्राप्त हो गईं। क्रमशः नौ महीने व्यतीत होने पर उन यशस्वती महादेवी ने महापुण्यशाली पुत्र को जन्म दिया। उस समय उत्तम शुभ नक्षत्र आदि थे और चैत्र कृष्णा नवमी का दिन था। ये ही पुत्र प्रथम चक्रवर्ती भरत महाराज हुए थे।

अनन्तर यशस्वती महादेवी से भरत के पीछे जन्म लेने वाले ऋषभसेन, अनन्तवीर्य आदि निन्यानवे पुत्र हुए। वे सभी चरम शरीरी, महाप्रतापी थे तथा 'ब्राह्मी' नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई थी। भगवान ऋषभदेव की दूसरी पत्नी 'सुनन्दा' से भगवान 'बाहुबली' पुत्र हुए और 'सुन्दरी' नाम की पुत्री हुई थी। ये बाहुबली स्वामी चौबीस कामदेवों में से पहले कामदेव हुए थे। इन एक सौ एक पुत्र और दो पुत्रियों सहित भगवान ऋषभदेव अतिशय शोभायमान हो रहे थे और महाराज नाभिराज तथा महारानी मरुदेवी अत्यन्त

प्रसन्न थे। जब ये पुत्र-पुत्रियाँ योग्य अवस्था को प्राप्त हो गये, तब भगवान ऋषभदेव ने इन्हें सम्पूर्ण गुणों से और संस्कारों से संस्कारित कर दिया। कर्मयुग के प्रारंभ में भगवान ने अपने पुत्रों के कंठ, वक्षःस्थल आदि को विभूषित करने वाले ऐसे हार, कंकण, मुद्रिका आदि अनेकों आभूषण बनवाकर पुत्रों को विभूषित किया था।

ब्राह्मी-सुन्दरी का विद्याध्ययन— किसी समय भगवान ऋषभदेव सिंहासन पर सुख से बैठे हुए थे कि उन्होंने अपना चित्त कला और विद्याओं के उपदेश में लगाया। उसी समय उनकी ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों पुत्रियाँ मांगलिक वेषभूषा धारण कर पिता के पास पहुँची और विनय से भगवान को प्रणाम किया। भगवान ने भी उन दोनों कन्याओं को आशीर्वाद देकर बड़े प्रेम से उन्हें अपनी गोद में बिठा लिया, उनके मस्तक पर हाथ फेरा और पुत्रियों के साथ कुछ विनोद करने लगे, अनन्तर बोले-हे पुत्रियों! तुम दोनों विद्या ग्रहण करने में प्रयत्न करो क्योंकि विद्या ग्रहण करने का यही काल है। ऐसा कहकर बराबर उन्हें आशीर्वाद देकर भगवान ने अपने चित्त में स्थित श्रुतदेवता को आदरपूर्वक सुवर्ण के विस्तृत पट्टे पर स्थापित किया, फिर भगवान ने 'सिद्धं नमः' मंगलाचरणपूर्वक अपने दाहिने हाथ से ' अ आ' आदि वर्णमाला लिखकर ब्राह्मी को शुद्ध अक्षरावली लिखने का उपदेश दिया, जिसका नाम सिद्धमातृका है, जो स्वर-व्यंजन के भेद से दो भेदरूप है और समस्त विद्याओं में पाई जाती है तथा भगवान ने अपने बायें हाथ से 'इकाई दहाई' आदि संख्या को लिखते हुए सुन्दरी को अंकगणित लिखने का उपदेश दिया। वाङ्मय के बिना न कोई शास्त्र है और न कोई कला है, इसलिए भगवान ने सबसे पहले उन पुत्रियों को वाङ्मय का उपदेश दिया था। व्याकरणशास्त्र, छंदशास्त्र और अलंकारशास्त्र इन तीनों के समूह को वाङ्मय कहते हैं। भगवान के द्वारा बनाया गया व्याकरणशास्त्र बहुत विस्तृत था, जिसमें सौ से अधिक अध्याय थे। भगवान ने सबसे प्रथम ब्राह्मी कन्या को वर्णमालाएं पढ़ाई थीं, यही कारण है कि आज भी इसे ब्राह्मी लिपि कहते हैं। पिता के अनुग्रह से ये दोनों कन्यायें समस्त विद्याओं को पढ़कर सरस्वती देवी के अवतार लेने के लिए पात्रता को प्राप्त हो गई थीं।

भरत आदि पुत्रों का विद्याध्ययन— जगद्गुरु भगवान ऋषभदेव ने इसी प्रकार अपने भरत आदि पुत्रों को भी विनयी बनाकर क्रम से आम्नाय के अनुसार अनेक शास्त्र पढ़ाये। बड़े-बड़े अध्यायों सहित अर्थशास्त्र, नृत्यशास्त्र, चित्रकला संबंधी शास्त्र, वास्तुशास्त्र, शिल्पशास्त्र, कामशास्त्र, आयुर्वेद, तंत्र परीक्षा, रत्न परीक्षा आदि अनेकों विषयों को पढ़ाया और अधिक कहने से क्या? लोक का उपकार करने वाले जो शास्त्र थे, भगवान ने उन सभी को अपने पुत्रों को पढ़ाया था। इस प्रकार अपने इष्ट— स्त्री पुत्र और पुत्रियों से घिरे हुए सुखों का अनुभव करते हुए भगवान का गृहस्थाश्रम में बहुत कुछ काल व्यतीत हो चुका था अर्थात् बीस लाख पूर्व वर्षों का कुमार काल पूर्ण हो गया था।

इसी बीच में काल प्रभाव से महौषधि, दीप्तौषधि, कल्पवृक्ष तथा सब प्रकार की औषधियाँ शक्तिहीन हो गयी थीं। मनुष्यों के निर्वाह के लिए जो बिना बोए उत्पन्न होने वाले धान्य थे, वे भी काल के प्रभाव से प्रायः विरलता को प्राप्त हो गये थे। कल्पवृक्षों के रस, वीर्य आदि के नष्ट होने से व्याकुल हुई प्रजा जीवित रहने की इच्छा से महाराज नाभिराज के समीप गयी पुनः नाभिराज की आज्ञा से प्रजा भगवान ऋषभदेव के समीप गयी और उन्हें नमस्कार करके निवेदन करने लगी कि हे तीन लोक के स्वामी! हम लोग जीविका प्राप्त करने की

इच्छा से आपकी शरण में आये हैं अत: उपाय को बतलाकर हम लोगों की रक्षा कीजिए।

इस प्रकार प्रजाजनों के दीन वचन सुनकर हृदय दया से प्रेरित हो रहा है, ऐसे भगवान आदिनाथ अपने मन में विचार करने लगे—

"पूर्व और पश्चिम विदेह क्षेत्र में जो स्थिति वर्तमान में है, वही स्थिति आज यहाँ प्रवृत्त करने योग्य है, उसी से यह प्रजा जीवित रह सकती है। वहाँ जिस प्रकार असि, मषि आदि छह कर्म हैं, जैसी क्षत्रिय आदि वर्णों की स्थिति है और जैसी ग्राम, घर आदि की पृथक्-पृथक् रचना है, उसी प्रकार यहाँ पर भी होना चाहिए, इन्हीं उपायों से प्राणियों की आजीविका चल सकती है। कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने पर अब यह कर्मभूमि प्रकट हुई है, इसलिए यहाँ प्रजा को असि, मषि आदि छह कर्मों के द्वारा ही आजीविका करना उचित है।"

अनन्तर भगवान के स्मरण करने मात्र से देवों के साथ इन्द्र आया और उसने नीचे लिखे अनुसार विभाग कर प्रजा की जीविका के उपाय किये। शुभ दिन, शुभ नक्षत्र, शुभ मुहूर्त और शुभ लग्न के समय तथा सूर्य आदि ग्रहों के अपने-अपने उच्च स्थानों में स्थित रहने और जगद्गुरु भगवान के हर प्रकार की अनुकूलता होने पर इन्द्र ने प्रथम ही मांगलिक काम किया और फिर उसी अयोध्यापुरी के बीच में जिनमंदिर की रचना की, इसके बाद पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर इस प्रकार चारों दिशाओं में भी यथाक्रम से जिनमंदिरों की रचना की। तदनन्तर कौशल आदि महादेश, अयोध्या आदि नगर, वन और सीमा सहित ग्राम तथा खेड़ों आदि की रचना की थी। देशों के मध्य भाग में कोट, प्राकार, परिखा, गोपुर और अटारी आदि से शोभायमान राजधानी सुशोभित हो रही थी। उस समय इन्द्र बड़े अच्छे ढंग से नगर, गाँवों आदि का विभाग कर 'पुरन्दर' इस सार्थक नाम को प्राप्त हुआ था, अनन्तर भगवान की आज्ञा से नगर, गाँव आदि में प्रजा को बसाकर कृतकृत्य होता हुआ वह इन्द्र प्रभु की आज्ञा लेकर स्वर्ग को चला गया।

भगवान द्वारा प्रजा को षट्कर्म का उपदेश— [२]असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ये छह कार्य प्रजा की आजीविका के कारण हैं। भगवान ऋषभदेव ने अपनी बुद्धिकुशलता से प्रजा के लिए इन्हीं छह कर्मों द्वारा आजीविका करने का उपदेश दिया था, सो ठीक ही है क्योंकि उस समय जगद्गुरु भगवान सरागी ही थे, वीतरागी नहीं थे अर्थात् सांसारिक कार्यों का उपदेश सराग अवस्था में दिया जा सकता है। उन छह कर्मों में तलवार आदि शस्त्र धारण कर सेवा करना असिकर्म कहलाता है, लिखकर आजीविका करना मसिकर्म है, जमीन को जोतना, बोना कृषि कर्म है, शास्त्र पढ़ाकर या नृत्य, गान आदि द्वारा आजीविका करना विद्या कर्म है, व्यापार करना वाणिज्य है और हस्त की कुशलता से चित्र खींचना आदि करना शिल्पकर्म है।

उसी समय आदिब्रह्मा भगवान ऋषभदेव ने तीन वर्णों की स्थापना की थी जो कि विपत्ति से रक्षा करना

---

१. पूर्वापरविदेहेषु या स्थितः समवस्थिताः। साद्य प्रवर्तनीयात्र यतो जीवन्त्यमूः प्रजा।।१४३।।
षट्कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः। यथा ग्रामगृहादीनां संस्त्याश्च पृथग्विधाः।।१४४।।
(आदिपुराण पर्व १६, पृ. ३५०।)

२. 'असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव' च। कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवन हेतवः।।१७९।।
(आदिपुराण पर्व १६, पृ. ३६२।)

आदि गुणों के द्वारा क्रम से क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कहलाते हैं। त्रैवर्णिकों के विवाह, जातिसंबंध तथा व्यवहार आदि सभी कार्य भगवान की आज्ञानुसार ही होते थे। उस समय संसार में जितने भी पाप रहित आजीविका के उपाय थे, वे सब भगवान की सम्मति से प्रवृत्त हुए थे। इस प्रकार से भगवान ऋषभदेव कर्मयुग का प्रारंभ करने से 'कृतयुग' कहलाये और आषाढ़ कृष्णा प्रतिपदा के दिन कृतयुग को प्रारंभ करने से 'प्रजापति' कहलाये थे। भगवान ने मनुष्यों को इक्षुरस संग्रह करने का उपदेश दिया था इसलिए जगत् के लोग उन्हें 'इक्ष्वाकु' कहने लगे। काश्य— तेज के रक्षक होने से 'काश्यप' कहलाये। प्रजा की आजीविका के उपायों का भी मनन करने से 'मनु' और कुलों की व्यवस्था करने से 'कुलकर' और 'कुलधर' भी कहलाये। उस समय प्रजा तीनों जगत् के स्वामी भगवान ऋषभदेव को 'विधाता', 'विश्वकर्मा' और 'स्रष्टा' आदि अनेक नामों से पुकारती थी।

भगवान का सम्राट पट्टाभिषेक महोत्सव— सुखपूर्वक प्रजा का अनुपालन करते हुए कितना ही समय व्यतीत हो जाने पर देवों ने आकर भगवान का सम्राट पद पर अभिषेक करके महान् उत्सव मनाया। अभिषेक के लिए शुद्ध पवित्र गंगा-सिंधु आदि नदियों का, नन्दा-नन्दोत्तरा आदि वापियों का एवं क्षीरसमुद्र, नन्दीश्वर समुद्र, स्वयंभूरमण समुद्र आदि का भी जल लाया गया था और सुवर्ण घटों से गीत, नृत्य, वाद्य आदि महोत्सवपूर्वक अभिषेक प्रारंभ किया गया था। नाभिराज को आदि लेकर जो बड़े-बड़े राजा थे, उन सभी ने 'सब राजाओं में श्रेष्ठ ये ऋषभदेव वास्तव में राजा के योग्य हैं' ऐसा मानकर उनका एक साथ अभिषेक प्रारंभ किया। नगर-निवासीजनों ने भी, किसी ने कमलपत्र के दोने से, किसी ने मिट्टी के घड़े से सरयू नदी का जल लेकर भगवान के चरणों का अभिषेक किया।

तदनन्तर भगवान की आरती उतारकर स्वर्ग से लाये गये वस्त्र-आभूषण आदि से भगवान को अलंकृत किया। 'महामुकुटबद्ध राजाओं के अधिपति भगवान ऋषभदेव ही हैं' ऐसा कहते हुए महाराज नाभिराज ने अपने मस्तक का मुकुट अपने हाथ से उतारकर भगवान के मस्तक पर धारण कराया था तदनन्तर इन्द्रगण पूर्ववत् 'आनन्द' नामक नाटक को करके देवों के साथ अपने स्थान को चले गये। भगवान का यह राज्यकाल तिरेसठ लाख पूर्व वर्षों का था जो कि पुत्र-पौत्रों के साथ सुखपूर्वक व्यतीत हो रहा था।

भगवान ऋषभदेव का वैराग्य— किसी समय भगवान ऋषभदेव सभा-मंडप के मध्य भाग में स्थित सिंहासन पर विराजमान थे, उस समय भगवान की सेवा करने के लिए सौधर्म इन्द्र देवों और अप्सराओं के साथ पूजा की सामग्री लेकर भगवान के यहाँ आया और भगवान की आराधना करने की इच्छा से अप्सराओं और गन्धर्वों का नृत्य कराना प्रारंभ कर दिया। भगवान राज्य और भोगों से किस प्रकार विरक्त होंगे? यह विचार कर इन्द्र ने उस समय नृत्य करने के लिए एक ऐसे पात्र को नियुक्त किया, जिसकी आयु अत्यन्त क्षीण हो गई थी। वह अत्यन्त सुन्दरी 'नीलांजना' नाम की देवनर्तकी रस, भाव और लय सहित फिरकी लगाती हुई नृत्य कर रही थी कि इतने में ही आयुरूपी दीपक के क्षय होने से वह बिजली के समान क्षणभर में अदृश्य हो गई। उसके नष्ट होते ही इन्द्र ने रसभंग के भय से उस स्थान पर उसी के समान शरीर वाली दूसरी देवी खड़ी कर दी जिससे नृत्य ज्यों का त्यों चलता रहा। यद्यपि दूसरी देवी खड़ी कर देने के बाद

भी वही नृत्य का परिक्रम था तथापि भगवान ने उसी समय उसके स्वरूप का अन्तर जान लिया था। तत्क्षण ही भोगों से विरक्त और अत्यन्त संवेग तथा वैराग्य भावना को प्राप्त हुए भगवान मन में चिन्तवन करने लगे कि बड़े आश्चर्य की बात है कि यह जगत् विनश्वर है, लक्ष्मी बिजलीरूपी लता के समान चंचल है, यौवन, शरीर, आरोग्य और ऐश्वर्य आदि सभी चलाचल हैं। उस समय विशुद्धियों ने भगवान के हृदय में अपना स्थान जमा लिया था और वे ऐसी मालूम होती थीं कि मानों मुक्तिलक्ष्मी के द्वारा प्रेरित हुई उसकी सखियाँ ही द्वादश अनुप्रेक्षारूप से सामने आकर उपस्थित हुई हों। जगद्गुरु भगवान के अन्तःकरण की समस्त चेष्टाएं इन्द्र ने अपने अवधिज्ञान से जान ली थीं। उसी समय भगवान के वैराग्य की प्रशंसा करने के लिए और उनके तप कल्याणक की पूजा करने के लिए 'लौकांतिक देव' ब्रह्मलोक से उतरे। ये लौकांतिक देव सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट इस तरह आठ प्रकार के हैं। ये सभी देवों में उत्तम देवर्षि कहलाते हैं। पूर्व भव में सम्पूर्ण श्रुतज्ञान के अभ्यास से ग्यारह अंग, चौदह पूर्व के पारंगत, विरक्त और बालब्रह्मचारी होते हैं, पाँचवे स्वर्ग के अन्तभाग में निवास करने वाले हैं और नियम से एक भवावतारी होते हैं। उन देवों ने प्रथम ही कल्पवृक्ष के पुष्पों से भगवान् के चरणों की पूजा की और फिर अनेकों अर्थों से भरे हुए स्तोत्रों से भगवान की स्तुति करने लगे। वे देव अपने इतने ही नियोग से कृतार्थ होकर अपने स्वर्ग को चले गये।

इतने में ही आसनों के कम्पायमान होने से समस्त इन्द्र अपने वाहनों और अपने-अपने निकाय के देवों के साथ आये और अयोध्यापुरी को चारों ओर से घेरकर आकाश में ही अपने-अपने निकाय के अनुसार ठहर गये। अनन्तर इन्द्रों ने क्षीरसागर के जल से उनका महाभिषेक किया और दिव्य आभूषण-वस्त्र आदि से उन्हें अलंकृत किया। भगवान ऋषभदेव ने साम्राज्यपद पर अपने बड़े पुत्र भरत का अभिषेक कर इस भारतवर्ष को उनसे सनाथ किया और युवराज पद पर बाहुबली को स्थापित किया। उस समय भगवान ऋषभदेव का तप कल्याणक महोत्सव और भरत का राज्याभिषेक हो रहा था, इन दोनों प्रकार के उत्सवों के समय स्वर्गलोक और पृथ्वीलोक दोनों ही हर्ष से विभोर हो रहे थे। भगवान ने दोनों ही पुत्रों को राज्य समर्पित करके अपने शेष पुत्रों के लिए यह पृथ्वी विभक्त कर बाँट दी थी।

भगवान का दीक्षा के लिए वनगमन— भगवान ऋषभदेव, महाराज नाभिराज आदि परिवार के लोगों से पूछकर इन्द्र के द्वारा बनाई गई 'सुदर्शन' नामक पालकी पर आरूढ़ हुए। उस समय भगवान की उस पालकी को प्रथम ही राजा लोग सात पैंड तक ले चले और फिर विद्याधर लोग आकाश में सात पैंड तक ले चले अनन्तर वैमानिक और भवनत्रिक देवों ने अत्यन्त हर्षित होकर वह पालकी अपनी कंधों पर रखी और शीघ्र ही उसे आकाश में ले गये। भगवान ऋषभदेव के माहात्म्य की प्रशंसा करना इतना ही पर्याप्त है कि उस समय देवों के अधिपति इन्द्र भी स्वयं उनकी पालकी ढो रहे थे। यक्ष जाति के देव सुगंधित पुष्पों की वर्षा कर रहे थे, शीतल पवन चल रही थी और करोड़ों मंगल वाद्य बज रहे थे। भगवान के प्रस्थान करने पर यशस्वती आदि रानियाँ मंत्रियों सहित भगवान के पीछे-पीछे चलने लगीं, उस समय शोक से उनके नेत्रों में आँसू भर रहे थे। यशस्वती और सुनन्दा महादेवियाँ अन्तःपुर की मुख्य-मुख्य स्त्रियों से परिवृत्त होकर पूजा की सामग्री

लेकर भगवान के पीछे-पीछे जा रही थीं। उस समय महाराज नाभिराज भी मरुदेवी तथा सैकड़ों राजाओं से परिवृत्त होकर भगवान के तप कल्याणक का उत्सव देखने के लिए उनके पीछे-पीछे जा रहे थे। सम्राट् भरत भी नगरनिवासी, मंत्री, उच्चवंश में उत्पन्न हुए राजा और अपने छोटे-छोटे भाइयों के साथ-साथ बड़ी भारी विभूति लेकर भगवान के पीछे-पीछे चल रहे थे। इस प्रकार जगद्गुरु भगवान ऋषभदेव अत्यन्त विस्तृत 'सिद्धार्थक' नामक वन में जा पहुँचे। वह वन अयोध्यापुरी से न तो बहुत दूर था और न बहुत निकट था। इन्द्रों की सेना भी आकाश और पृथ्वी को व्याप्त करती हुई उस सिद्धार्थक वन में जा पहुँची। यह वन अशोक, चंपक, सप्तपर्ण, आम्र और वटवृक्षों से व्याप्त अनेक पक्षियों के कलकल रवों से मनोहर था। उस वन में देवों ने पहले से ही चन्द्रकान्तमणि से निर्मित, घिसे हुए चन्दन द्वारा दिये गये मांगलिक छींटों से चर्चित विस्तृत एक शिला स्थापित कर रखी थी। उस पर इन्द्राणियों ने अपने हाथों से रत्नों के चूर्ण के चौक बनाये थे। उस शिला पर बड़े-बड़े वस्त्रों से आश्चर्यकारी मण्डप बनाया गया जो कि धूपघट, मंगल द्रव्य और ध्वजाओं से मनोहर था। पालकी से उतरकर उस शिला पर विराजमान होकर भगवान ने देवेन्द्रों, मनुष्यों से भरी हुई उस सभा को उपदेश दिया और शोकातुर प्रजा को समझाया कि हे प्रजाजनों! तुम लोग शोक छोड़ो क्योंकि जब प्राणियों का शरीर से वियोग निश्चित है, तब अन्य वस्तुओं के वियोग की बात ही क्या? अतिशय चतुर भरत को मैंने आप लोगों की रक्षा करने में नियुक्त किया है, आप लोग निरन्तर धर्म में स्थिर रहते हुए उनकी सेवा करें। भगवान के ऐसा कहने के बाद प्रजा ने उनकी पूजा की। प्रजा ने जिस स्थान पर भगवान की पूजा की, वह स्थान आगे चलकर पूजा के कारण [१]'प्रयाग' नाम को प्राप्त हुआ।'

प्रभु ने कुटुम्ब के लोगों तथा नम्रीभूत राजाओं से पूछकर अन्तरङ्ग-बहिरंग परिग्रह का त्याग कर दिया। भगवान पूर्व दिशा की ओर मुँह कर पद्मासन से विराजमान हुए और 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' इस मंत्र के द्वारा सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार कर पंचमुष्ठियों से केशलोंच किया। चैत्र कृष्णा नवमी के दिन शुभमुहूर्त, शुभलग्न और उत्तराषाढ़ नक्षत्र में सायंकाल के समय भगवान ने दीक्षा धारण की थी। भगवान के मस्तक पर निवास करने से पवित्र हुए केशों को इन्द्र ने रत्न के पिटारे में रखकर आदरपूर्वक उन्हें क्षीर समुद्र में क्षेपण किया।

उसी समय इक्ष्वाकु, कुरु, उग्र तथा भोज आदि वंशों के चार हजार राजाओं ने भी स्वामिभक्तिवश नग्न दीक्षा धारण कर ली। 'जो हमारे स्वामी को अच्छा लगता है, वही हम लोगों को भी विशेषरूप से अच्छा लगना चाहिए' बस यही सोचकर वे राजा द्रव्यलिंगी साधु हो गये थे, भावों से नहीं। उन राजाओं में कितने ही स्नेह से, कितने ही मोह से और कितने ही भय से भगवान को दीक्षित हुआ देखकर दीक्षित हो गये थे। दीक्षा लेने के पश्चात् इन्द्र भगवान के रूप को एक हजार नेत्रों से देखकर भी तृप्त नहीं हुआ और बहुत देर तक अनेकों स्तोत्रों से स्तुति करता रहा तत्पश्चात् भरत महाराज ने बड़ी भारी शक्ति से सुगंधित जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल और अर्घ्य विशेष से जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों की पूजा की। आम, जामुन, अनार, सुपारी के गुच्छे और नारियल आदि फलों से भगवान के चरणों की पूजा की और बारम्बार नमस्कार करने लगे।

---

१. एवमुक्त्वा प्रजा यत्र प्रजापतिमपूजयत् । प्रदेशः स प्रजागाख्यो यतः पूजार्थ योगतः ।।९६।। हरिवंशपुराण सर्ग ९, पृ. १७४।

मिथ्यात्व की प्रवृत्ति— भगवान को दीक्षा लेते ही मन:पर्यय ज्ञान उत्पन्न हो चुका था। समस्त लोक के अधिपति ऋषभदेव शरीर से ममत्व छोड़कर छह महीने के उपवास की प्रतिज्ञा लेकर मौन से निश्चल ध्यान में लीन हो गये थे। भगवान ऋषभदेव जब परम निस्पृह होकर विराजमान थे, तब बिना विचारे दीक्षित हुए कच्छ, महाकच्छ आदि राजाओं का धैर्य छूटने लगा, दीक्षा धारण किये हुए दो-तीन माह भी नहीं हुए थे कि अपने को मुनि मानने वाले द्रव्यलिंगी साधुओं ने परीषहों से, क्षुधा, तृषा आदि बाधाओं से घबराकर धैर्य छोड़ दिया और भगवान से प्रार्थना करने लगे कि हे भगवन्! हमें क्या करना चाहिए? भगवान प्राय: प्राणों से विरक्त होकर शरीर को छोड़ने की चेष्टा कर रहे हैं परन्तु हम लोग प्राणहरण करने वाले इस तप से ही खिन्न हो गये, इसलिए जब तक भगवान का ध्यान समाप्त नहीं होता, तब तक हम लोग वन में उत्पन्न हुए कन्दमूल, फल आदि द्वारा ही अपना जीवन निर्वाह करेंगे। इस प्रकार कितने ही कातर पुरुष तपस्या से उदासीन होकर अत्यन्त दीन वचन कहते हुए दीनवृत्ति धारण करने के लिए तैयार हो गये और फल लाने की इच्छा से वनखण्डों में फैलने लगे और प्यास से पीड़ित होकर तालाबों पर जाने लगे। उन लोगों को अपने हाथ से फल ग्रहण करते और पानी पीते देखकर वन देवताओं ने उन्हें मना किया और कहा कि ऐसा मत करो। अरे मूर्खों! यह दिगम्बररूप सर्वश्रेष्ठ अरिहंत तथा चक्रवर्ती आदि के द्वारा भी धारण करने योग्य है, इसे तुम लोग कातरता का स्थान मत बनाओ अर्थात् इस उत्कृष्ट वेश को धारण कर दीनों की तरह अपने हाथ से फल मत तोड़ो और न तालाब आदि का अप्रासुक पानी ही पीवो। वन देवताओं के ऐसे वचन सुनकर वे लोग दिगम्बर वेश में वैसा करने से डर गये, इसलिए उन दीन चेष्टा वाले भ्रष्ट तपस्वियों ने अनेकों वेष धारण कर लिए।

उनमें से कितने ही लोग वृक्षों के वल्कल धारण कर फल खाने लगे और पानी पीने लगे, कितने ही जीर्ण-शीर्ण लंगोटी लगाकर अपनी इच्छानुसार कार्य करने लगे, कितने ही लोग शरीर को भस्म से लपेटकर जटाधारी हो गये, कितने ही एक दण्ड को धारण करने वाले और कितने ही तीन दण्ड को धारण करने वाले साधु बन गये। वे लोग भरत महाराज के डर से अपने-अपने नगरों में नहीं गये किन्तु झोंपड़े बनाकर उसी वन में रहने लगे थे, उनमें कितने ही पारिव्राजक हो गये थे। मोहोदय से दूषित होकर पाखण्डियों में प्रमुख हो गये थे। वे लोग जल और फूलों के उपहार से भगवान ऋषभदेव के चरणों की पूजा करते थे। स्वयंभू ऋषभदेव भगवान को छोड़कर उनके अन्य कोई देवता नहीं था। भगवान ऋषभदेव का पौत्र, भरत का पुत्र मरीचि कुमार भी पारिव्राजक होकर उन पाखण्डियों में अग्रणी हो गया था। योगशास्त्र और सांख्यशास्त्र प्रारंभ में उसी के द्वारा कहे गये थे।

भगवान की तपश्चर्या— भगवान ऋषभदेव मेरुपर्वत के समान निष्कम्प ध्यान में लीन थे। उस समय भगवान के केश संस्कार रहित होने के कारण जटाओं के समान हो गये थे। वे जटाएँ वायु से उड़कर महामुनि भगवान ऋषभदेव के मस्तक पर दूर तक फैल गई थीं, सो ऐसी जान पड़ती थीं मानों ध्यानरूपी अग्नि से तपाये हुए जीवरूपी स्वर्ण से निकली हुई कालिमा ही हो। भगवान के तपश्चरण के अतिशय से वहाँ वन में दिन-रात के विभाग से रहित तेज व्याप्त हो गया था, सभी ऋतु के फल, पुष्प आदि वन की शोभा बढ़ा रहे थे। जन्मजात वैरभाव को छोड़कर सिंह, हरिण आदि एक साथ भगवान के चरणों की उपासना कर रहे थे।

इसी बीच में महाराज कच्छ, महाकच्छ के दो पुत्र भगवान के समीप आये। इनका नाम नमि और विनमि था। ये दोनों भक्ति से विभोर होकर भगवान के चरणों में नमस्कार करके बोले— हे भगवन्! आप हम पर प्रसन्न होइये। आपने अपना यह साम्राज्य पुत्र तथा पौत्रों के लिए बांट दिया है और बाँटते समय हम दोनों को भुला ही दिया, इसलिए अब हमें भी कुछ भोग सामग्री दीजिए। ध्यान रहे कि ये नमि-विनमि भगवान के भतीजे लगते थे अर्थात् कच्छ-महाकच्छ राजाओं की बहनें यशस्वती और सुनन्दा भगवान की पत्नी थीं और ये कच्छ महाकच्छ राजाओं के पुत्र थे।

उस समय इन दोनों के द्वारा भगवान के ध्यान में विघ्न होने के निमित्त से धरणेन्द्र देव का आसन कम्पित हुआ और वह आकर इन दोनों को समझाने लगा कि आप लोग भरत के पास जाइये। ये भगवान तो सर्वथा भोगों से निस्पृह हो चुके हैं, भोगों की इच्छा करने वाले तुम दोनों को भोग कैसे दे सकते हैं? ये केवल मोक्ष का उद्योग कर रहे हैं, तुम्हें इनके पास धरना देना व्यर्थ है। धरणेन्द्र के वचन सुनकर वे दोनों भाई बोले कि हमारे बीच में आपको अनधिकारी चेष्टा करना गलत है, हम त्रैलोक्यनाथ भगवान को छोड़कर भरत के पास नहीं जायेंगे।

धरणेन्द्र इनका हठवाद, स्वाभिमान और भगवान के प्रति भक्ति देखकर प्रसन्न हो गया। तब उसने कहा कि मैं पाताल लोक का इन्द्र धरणराज हूँ, भगवान तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न हैं। उन्होंने तुम्हें भोगोपभोग सामग्री देने के लिए मुझे यहाँ भेजा है। तुम मेरे साथ शीघ्र ही चलो। ऐसा सुनकर वे दोनों भगवान की प्रसन्नता तथा आज्ञा समझकर शीघ्र ही धरणेन्द्र के साथ चले पड़े। धरणेन्द्र देव दोनों कुमारों को विमान में बैठाकर आकाशमार्ग से शीघ्र ही विजयार्ध पर्वत पर पहुँचा। यह विजयार्ध पर्वत पचास योजन चौड़ा, पचीस योजन ऊँचा, पूर्वापर लवण समुद्र को स्पर्श करते हुए लम्बा है। यह भरत क्षेत्र के बीच में है। इसकी पहली श्रेणी में दक्षिण में पचास एवं उत्तर दिशा में साठ नगरियाँ हैं। इनमें विद्याधर मनुष्य निवास करते हैं। यहाँ पर आर्यखण्डों की तरह षट्काल का परिवर्तन नहीं होता है किन्तु चतुर्थ काल के आदि-अंत के समान परिवर्तन होता है। यहाँ ईति, भीति, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि नहीं होते हैं।

ऊँची-ऊँची ध्वजाओं से सुशोभित 'रथनूपुरचक्रवाल' नाम के नगर में धरणेन्द्र ने इन दोनों को लेकर प्रवेश किया और वहाँ दोनों को सिंहासन पर बैठाकर विद्याधरों से कहा कि ये तुम्हारे स्वामी हैं और फिर उस धरणेन्द्र ने विद्याधरियों के हाथों से उठाये हुए सुवर्ण के बड़े-बड़े कलशों से इन दोनों का राज्याभिषेक कर दिया। बाद में धरणेन्द्र ने विद्याधरों से कहा कि जिस प्रकार इन्द्र स्वर्ग का अधिपति है, उसी तरह ये नमि महाराज अब दक्षिण श्रेणी के अधिपति हैं और ये विनमि महाराज उत्तर श्रेणी के अधिपति हैं। कर्मभूमिरूपी जगत् को उत्पन्न करने वाले जगद्गुरु भगवान ऋषभदेव ने अपनी सम्मति से इन दोनों को यहाँ भेजा है। इसलिए सब विद्याधर राजा प्रेम से मस्तक झुकाकर इनकी आज्ञा धारण करें। धरणेन्द्र के उपदेश से समस्त विद्याधरों ने उन्हें अपना राजा स्वीकृत कर लिया।

भगवान ऋषभदेव का आहार— जगद्गुरु भगवान ऋषभदेव को योग धारण किये हुए जब छह माह पूर्ण हो गये, तब यतियों की चर्या— आहार लेने की विधि बतलाने के उद्देश्य से शरीर की स्थिति के अर्थ

निर्दोष आहार ढूंढने के लिए वे ऐसा विचार करने लगे कि बड़े दु:ख की बात है कि बड़े-बड़े वंशों में उत्पन्न हुए ये नव-दीक्षित साधु समीचीन मार्ग का परिज्ञान न होने के कारण इन क्षुधा, तृषा आदि परीषहों से शीघ्र ही भ्रष्ट हो गये, इसलिए अब मोक्षमार्ग बतलाने के लिए सुखपूर्वक मोक्ष की सिद्धि के लिए आहार लेने की विधि बतलाता हूँ। मोक्षाभिलाषी मुनियों को यह शरीर न तो केवल कृश ही करना चाहिए और न रसीले मनचाहे तथा मधुर भोजनों से इसे पुष्ट ही करना चाहिए।

जिस प्रकार ये इन्द्रियाँ अपने वश में रहें और कुमार्ग की ओर न दौड़ें, उस प्रकार मध्यमवृत्ति का आश्रय लेकर प्रयत्न करना चाहिए[1]।

इस प्रकार निश्चय करके धीर-वीर भगवान योग समाप्त कर अपने चरण निक्षेपों से इस पृथ्वी तल पर विहार करने लगे। ईर्यापथ से चलते हुए भगवान जिस ओर जाते थे, वहीं-वहीं के लोग प्रसन्न होकर बड़े संभ्रम से आकर उन्हें प्रणाम करते थे। उस समय सभी लोग आहारदान की विधि से अनभिज्ञ थे। भगवान क्यों विहार कर रहे हैं? ये भी नहीं समझते थे। कितने ही लोग भगवान के पीछे-पीछे चलने लगते थे, तो कितने ही लोग महान् अनर्घ्य रत्नों को भेंट में लाकर प्रार्थना करते कि हे देव! प्रसन्न होइये और हमारी तुच्छ पूजा स्वीकार कीजिए, कितने ही लोग करोड़ों पदार्थ, करोड़ों वाहन समीप में ले आते किन्तु भगवान को उनसे कुछ प्रयोजन न होने से वे चुपचाप आगे चले जाते। कितने ही गन्ध, वस्त्र, आभरण आदि ले आते और कितने ही अज्ञानी नवयौवन कन्याओं को ले आते और उनसे विवाह करने की प्रार्थना करने लगते कितने ही भोजन सामग्री ले आते थे।

इस प्रकार जगत् को आश्चर्य करने वाली गूढ़चर्या से उत्कृष्ट चर्या धारण करने वाले भगवान के छह महीने और भी व्यतीत हो गये। इस तरह एक वर्ष पूर्ण होने पर भगवान ऋषभदेव कुरुजांगल देश के आभूषण के समान सुशोभित हस्तिनापुर नगर में पहुँचे। वहाँ के स्वामी राजा सोमप्रभ कुरुवंश के शिखामणि थे और उनके छोटे भाई राजा 'श्रेयांस कुमार' थे। उन श्रेयांस कुमार को रात्रि के पिछले प्रहर में कुछ उत्तम-उत्तम स्वप्न हुए जिसका फल पुरोहित के वचनों से सुनकर दोनों भाई भगवान की कथा करते हुए बैठी ही थे कि इतने में भगवान ऋषभदेव अकेले ही विहार करते हुए हस्तिनापुर में आ गये। सिद्धार्थ नामक द्वारपाल से प्रभु के आगमन का समाचार सुनकर दोनों भाई राजमहल के आँगन तक बाहर और दूर से ही नम्रीभूत होकर भगवान के चरणों को भक्ति से नमस्कार किया, प्रदक्षिणाएँ दीं और जल से चरणों का प्रक्षालन कर पूजा करके अर्घ्य समर्पण करने लगे।

भगवान् के रूप को देखकर राजा 'श्रेयांस कुमार' को जातिस्मरण हो गया, जिससे उन्हें अपने पूर्व भव संबंधी श्रीमती और वज्रजंघ का समस्त वृत्तांत याद हो आया अर्थात् इससे पूर्व आठवें भव में भगवान आदिनाथ का जीव राजा वज्रजंघ था और राजा श्रेयांस कुमार का जीव रानी श्रीमती था। इन युगल दम्पत्तियों ने बड़ी भक्ति से चारण ऋद्धिधारी युगल मुनियों को आहार दान दिया था। उसका राजा श्रेयांस को इस समय स्मरण हो गया। इससे मुनियों के आहारदान की सारी विधि को समझकर राजा श्रेयांस शीघ्र ही भगवान को आहारदान देने में तत्पर हो गये थे। मुनिराज का पड़गाहन करना, उन्हें ऊँचे स्थान पर विराजमान करना,

---

१. वशे यथा स्यूरक्षाणि नोत धावंत्यनूत्पथम। तथा प्रयतितव्यं स्याद् वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम् ।।६।। महा.पु. पृ. २०।

उनके चरण धोना, उनकी पूजा करना, उन्हें नमस्कार करना, अपने मन, वचन, काय की शुद्धि और आहार की शुद्धि का निवेदन करना, ये दान देने वाले की नवधा भक्ति कहलाती है। "इस प्रकार नवधा भक्ति पूर्वक राजा सोमप्रभ, उनकी रानी लक्ष्मीमती और श्रेयांस कुमार आदरपूर्वक भगवान के हाथ की अंजलि में इक्षुरस का आहार दे रहे थे।" उस समय इस महादान के प्रभाव से आकाश से देवों के द्वारा पंचाश्चर्य वृष्टि की गई थी। वह दिन वैशाख शुक्ला तृतीया का था। यही कारण है कि आज भी उस दिन को 'अक्षय तृतीया' कहते हैं।

तदनन्तर देवों से समीचीन दान और उसके फल की घोषणा सुनकर महाराज भरत भी वहाँ आकर श्रेयांस को दानतीर्थ प्रवर्तक मानकर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। चार ज्ञान के धारक भगवान इस प्रकार से एक हजार वर्ष तक तपश्चरण करते रहे।

भगवान ऋषभदेव को केवलज्ञान का उदय— किसी समय विचार करते हुए भगवान 'पुरिमतालपुर' नामक नगर के 'शकटास्य' नामक उद्यान में वटवृक्ष के नीचे एक शिला पर पर्यंकासन से विराजमान हो गये। इस नगर के राजा वृषभसेन भगवान के पुत्र और भरत के छोटे भाई थे। उस समय भगवान ने ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा घातिया कर्मरूपी ईंधन को जला दिया और उन्हें लोक-परलोक प्रकाशी केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। फाल्गुन मास के कृष्ण पक्ष की एकादशी के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में भगवान को केवलज्ञान प्रगट होते ही तीनों लोकों में एक प्रकार का क्षोभ उत्पन्न हो गया था। उस समय अपने आप कल्पवासी देवों के यहाँ घण्टा बजने लगा, ज्योतिषी देवों के यहाँ बड़ा भारी सिंहनाद होने लगा, व्यन्तर देवों के यहाँ नगाड़ों की ध्वनि होने लगी और भवनवासी देवों के भवनों में शंखनाद शुरू हो गया। समस्त इन्द्रों के आसन एक साथ कम्पित हो उठे और कल्पवृक्षों से पुष्पवृष्टि होने लगी। अवधिज्ञानी इन्द्र ने इन सब चिन्हों से भगवान के केवलज्ञानरूपी वैभव को जान लिया और भक्ति से मस्तक झुकाकर नमस्कार किया।

इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने तत्क्षण ही देव कारीगरों के साथ सुन्दर समवसरण बना दिया। इन्द्रनीलमणि से निर्मित गोल यह समवसरण बारह योजन विस्तृत कमल के आकार का होता है। इसके मध्य में गंधकुटी कर्णिका के आकार की ऊँची उठी हुई होती है। समवसरण की दिव्यभूमि स्वाभाविक भूमि से एक हाथ ऊँची रहती है और उससे एक हाथ ऊपर कल्पभूमि होती है। केवलज्ञान होने के बाद भगवान इस पृथ्वी तल से पाँच हजार धनुष प्रमाण ऊपर चले जाते हैं। एक धनुष चार हाथ का होता है। समवसरण में बीस हजार सीढ़ियाँ होती हैं जो कि एक हाथ प्रमाण ऊँची रहती हैं। समवसरण में चार कोट, पाँच वेदियाँ, इनके बीच में आठ भूमियाँ और सर्वथा प्रत्येक अन्तर भाग में तीन पीठ होते हैं। समवसरण की चार महावीथियों में चार मानस्तंभ होते हैं, जिनके दर्शन से ही मिथ्यादृष्टि भव्यों के मानगलित हो जाते हैं।

समवसरण में बाहरी भाग में सबसे पहले रत्नों के चूर्ण से निर्मित धूलिसाल नाम का कोट (परकोट) है अनन्तर मानस्तंभ, परिखाभूमि और लता भूमि हैं। आगे सुवर्णमय कोट है जिसके चारों गोपुर द्वारों पर व्यंतर देव गदा आदि हाथ में लेकर पहरेदार बने हुए हैं। अनन्तर अशोक, चंपक आदि वन भूमि, वन वेदिका, ध्वज भूमि हैं। इनके बाद रजतमय द्वितीय कोट है जिस पर भवनवासी देव पहरा देते हैं। इसके बाद कल्पवृक्ष भूमि, वनवेदिका स्तूप आदि हैं अनन्तर स्फटिक मणि से निर्मित तृतीय कोट है। इनके गोपर द्वारों

पर कल्पवासी देव गदा आदि हाथ में लेकर पहरेदार बने हुए हैं। इस स्फटिक मणि के कोट को लेकर पीठ पर्यंत लम्बी और महावीथियों के आश्रित सोलह दीवाले हैं। ये दीवालें स्फटिक कोट से लेकर पीठ पर्यंत लम्बी हैं और बारह सभाओं का विभाग कर रही हैं। उन दीवालों के ऊपर रत्नमय खम्भों से खड़ा हुआ और आकाश स्फटिक मणि का बना हुआ बहुत बड़ा अतिशय शोभायुक्त "श्रीमण्डप" बना हुआ है, उस श्रीमण्डप का ऐसा अतिशय है कि वह अपने में एक साथ तीनों लोकों के समस्त जीवों को स्थान दे सकता है। वह महान् ऊँचा तथा स्वच्छ है और द्वितीय आकाश के समान मालूम पड़ता है।

उस श्रीमण्डप से घिरे क्षेत्र के मध्य भाग में पहले पीठिका स्थित है, जो वैडूर्यमणि निर्मित है। इस पीठिका पर सुवर्ण निर्मित दूसरी पीठिका है तथा इसके ऊपर सर्वरत्नों से निर्मित तृतीय पीठिका है। यह पीठ तीन कटनियों से युक्त है, धर्म चक्रों से सुशोभित है। तृतीय पीठ के सिंहासन पर चार अंगुल अधर भगवान श्री ऋषभदेव विराजमान हो रहे हैं। समवसरण में बारह सभाएँ होती हैं, उनमें भगवान के दाहिनाँ ओर से लेकर (१) मुनि (२) कल्पवासिनी देवियाँ (३) आर्यिकाएं (४) ज्योतिषी देवों की देवियाँ (५) व्यंतर देवों की देवियाँ (६) भवनवासी देवों की देवियाँ (७) भवनवासी देव (८) व्यंतर देव (९) ज्योतिषी देव (१०) कल्पवासी देव (११) मनुष्य और (१२) तिर्यंच ये बारह गण पृथक्-पृथक् अपने-अपने विस्तृत स्थानों पर बैठते हैं।

संक्षेप में समवसरण की रचना— सबसे पहले धूलिसाल के बाद चार दिशाओं में चार मानस्तंभ हैं, मानस्तंभों के चारों ओर सरोवर हैं, फिर निर्मल जल से भरी हुई परिखा हैं, फिर पुष्पवाटिका (लतावन) हैं, उसके आगे पहला कोट है, उसके आगे दोनों ओर दो-दो नाट्यशालाएं हैं, उसके आगे दूसरा अशोक, आम्र आदि का वन है, उसके आगे वेदिका है, तदनन्तर ध्वजाओं की पंक्तियाँ हैं, फिर दूसरा कोट है, उसके आगे वेदिका सहित कल्पवृक्षों का वन है, उसके बाद स्तूप और स्तूपों के बाद मकानों की पंक्तियाँ हैं, फिर स्फटिक मणिमय तीसरा कोट है, उसके भीतर मनुष्य, तिर्यंच, देव और मुनियों की बाहर सभाएँ हैं, तदनन्तर पीठिका है और पीठिका के अग्रभाग पर स्वयंभू भगवान अरिहन्त देव विराजमान हैं।

भगवान के आठ प्रातिहार्य— अशोक वृक्ष, रत्नमय सिंहासन, छत्रत्रय, भामंडल, दिव्यध्वनि (वाणी) पुष्पवृष्टि, चौंसठ चँवरों का ढुरना और दुंदुभि बाजे बजना ये आठ महाप्रातिहार्य होते हैं।

तीर्थंकर अर्हंतों के आठ प्रातिहार्य, चौंतीस अतिशय और चार अनन्त चतुष्टय ये ४६ गुण माने गये हैं।

जन्म के दस अतिशय— स्वेदरहितता, निर्मल शरीरता, दूध के समान धवल रुधिर आदि का होना, वज्रवृषभनाराच संहनन, समचतुरस्रसंस्थान, अनुपम रूप, चंपक पुष्प की उत्तम गंध के समान सुगंधि धारण करना, अनन्त बलवीर्य और हित-मित एवं मधुर भाषण तथा १००८ लक्षणों का होना ये दश अतिशय तीर्थंकर के जन्मकाल से ही होते हैं।

केवलज्ञान के दश अतिशय— अपने पास की चारों दिशाओं में सौ-सौ योजन तक सुभिक्षता, आकाशगमन, हिंसा का अभाव, भोजन का अभाव, उपसर्ग का अभाव, चारों तरफ मुख का दिखना, छायारहितता, निर्निमेषदृष्टि, सब विद्याओं की ईश्वरता, नख और केशों का न बढ़ना, ये दश अतिशय घातिकर्म

के क्षय से उत्पन्न होते हैं।

विशेष चौदह अतिशय या देवकृत चौदह अतिशय—(१) अठारह महाभाषा, सात सौ क्षुद्रभाषा तथा और भी जो संज्ञी जीवों की अक्षरात्मक अनक्षरात्मक भाषाएँ हैं उनमें तालु, दंत, ओष्ठ और कंठ के व्यापार से रहित होकर एक साथ भव्य जनों को दिव्य उपदेश देना। भगवान की स्वभावत: अस्खलित और अनुपम दिव्यध्वनि तीनों संध्या कालों में नव मुहूर्तों तक खिरती है और एक योजन पर्यंत जाती है। इसके अतिरिक्त गणधर देव, इन्द्र अथवा चक्रवर्ती के प्रश्नानुरूप वह दिव्यध्वनि शेष समयों में भी निकलती है। यह दिव्यध्वनि[1] छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्वों का नाना प्रकार के हेतुओं द्वारा निरूपण करती है। (२) तीर्थंकरों के माहात्म्य से असमय में संख्यात योजनों तक षट्ऋतु के फल-फूलों का फलना (३) कटंक, धूलि आदि को दूर करते हुए मंद सुगंध वायु का चलना (४) सभी जीवों का परस्पर में मैत्रीभाव (५) दर्पणतल सदृश भूमि का स्वच्छ रत्नमय होना (६) इन्द्र की आज्ञा से मेघकुमार द्वारा सुगंधित जल की वर्षा का होना (७) फलों के भार से नम्रीभूत शालि आदि खेती का होना (८) सब जीवों को नित्य आनन्द का उत्पन्न होना (९) वायुकुमार द्वारा शीतल पवन का चलना (१०) कूप और तालाब आदि का शीतल जल से पूर्ण होना (११) आकाश का स्वच्छ होना (१२) सम्पूर्ण जीवों को रोगादि बाधाओं का नहीं होना (१३) धर्मचक्रों का आगे-आगे चलना (१४) तीर्थंकरों के विहार में चरण कमलों के तले दिव्यसुवर्ण कमलों की रचना का होना ये चौदह अतिशय देवकृत माने गये हैं, ऐसे चौंतीस अतिशय भगवान के होते हैं।

अनन्तचतुष्टय—अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य ये चार अनन्तचतुष्टय कहलाते हैं।

प्रथम गणधरदेव—उसी समय अनेक राजाओं से परिवृत्त राजा ऋषभसेन भगवान के पास आये और संयम धारण करते ही मन:पर्ययज्ञान तथा सप्तऋद्धियों से सहित होकर भगवान के प्रथम गणधर हो गये। राजा श्रेयांस कुमार और सोमप्रभ ने भी दीक्षा ले ली और गणधर हो गये। ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दोनों कन्याएं भी अनेक स्त्रियों के साथ आर्यिका दीक्षा लेकर आर्यिकाओं की स्वामिनी बन गईं।

भरत का आगमन—उसी समय भरत महाराज को पुत्रोत्पत्ति, चक्ररत्न प्राप्ति और भगवान को केवलज्ञान का लाभ ये तीनों समाचार एक साथ मिले। तब भरत महाराज ने धर्म के माहात्म्य को समझकर सर्वप्रथम समवसरण में जिनेन्द्र भगवान की पूजा की और अन्त में पुत्र जन्मोत्सव मनाया।

भगवान के पुत्र अनन्तवीर्य का प्रथम ही मोक्षगमन—भरत के भाई अनन्तवीर्य ने भी संबोधन पाकर भगवान से दीक्षा प्राप्त की थी, देवों ने उनकी भी पूजा की। वह इस अवसर्पिणी युग में मोक्ष प्राप्त करने के लिए सबमें अग्रगामी हुए अर्थात् इस युग में अनन्तवीर्य ने सबसे पहले मोक्ष प्राप्त किया था। जो तपस्वी पहले भ्रष्ट हो गये थे, उनमें से मरीचिकुमार को छोड़कर बाकी सब तपस्वी लोग भगवान के समीप संबोधन पाकर तत्त्वों का यथार्थस्वरूप समझकर फिर से दीक्षित हो तपस्या करने लगे और अपने-अपने परिणामों के अनुसार उत्तमगति को प्राप्त हो गये।

---

१. अतिशय को तिलोयपण्णत्तिकार ने तीर्थंकरों के केवलज्ञान के अतिशय में ले करके उसके ११ भेद कर दिए हैं।

भगवान ने एक हजार वर्ष बाद मौन खोला था अर्थात् दीक्षा लेने के बाद भगवान ने मौन रखा था और एक हजार वर्ष बाद केवलज्ञान होने पर उनकी दिव्यध्वनि खिरी थी, इसलिए ऐसा कथन है।

चतुर्विधसंघ— भगवान ऋषभदेव के समवसरण में ८४ गणधर, ८४००० ऋषिगण, ३५०००० आर्यिकाएँ, ३००००० श्रावक और ५००००० श्राविकाएँ थीं। प्रत्येक तीर्थंकरों के तीर्थ में असंख्यात देव-देवियाँ, असंख्यात मनुष्य एवं असंख्यात तिर्यंच जीव उपदेश का लाभ लेते हैं।

तीर्थ प्रवर्तन काल— भगवान ऋषभदेव का तीर्थ प्रवर्तन काल एक पूर्वांग अधिक पचास लाख करोड़ सागर प्रमाण कहा गया है।

भगवान का उपदेश— सौधर्म इन्द्र ने चतुर्निकाय देवों के साथ समवसरण में आकर भगवान की तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, सैकड़ों स्तुतियों से स्तुति की और उपदेश सुनने के इच्छुक होते हुए अपनी सभा में बैठ गये, वैसे ही महाराज भरत भी भगवान की दिव्य वस्तुओं से पूजा और स्तुति करके मनुष्यों के कोठे में बैठ गये। भगवान की अनक्षरी दिव्यध्वनि खिरी। इस दिव्यध्वनि में आचारांग आदि बारह अंगों का उपदेश हुआ और प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग ऐसे चार अनुयोगों का भी उपदेश हुआ है।

ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति— यह पहले बताया जा चुका है कि भगवान ऋषभदेव जब गृहस्थाश्रम में थे, तब अपने अवधिज्ञान से विदेह क्षेत्र की स्थिति को समझकर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण स्थापित किये थे।

किसी समय भरत चक्रवर्ती अनेक राजाओं के साथ भारतवर्ष को जीतकर साठ हजार वर्ष में दिग्विजय से वापस लौटे। तब उनके मन में एक विचार उत्पन्न हुआ कि हम भगवान की पूजा को चाहे जितने विशेष रूप से कर सकते हैं किन्तु दान लेने में नि:स्पृह रहने वाले दिगम्बर मुनि हम लोगों से धन लेते नहीं हैं परन्तु ऐसा गृहस्थ कौन है जो धन-धान्य आदि सम्पत्ति के द्वारा पूजा करने योग्य है। चक्रवर्ती ने ऐसे अणुव्रत धारी श्रावकों की परीक्षा करके उन्हें दान-मान आदि सत्कार से सम्मानित किया, पद्म नाम की निधि से ब्रह्मसूत्र लेकर इन व्रतिकों को यज्ञोपवीत प्रदान किये, उपासकाध्ययन अंग से उन्हें इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप का उपदेश दिया।

व्रतों के संस्कार से ब्राह्मण, शास्त्र धारण करने से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धन कमाने से वैश्य और सेवा कर्म करने से शूद्र कहलाते हैं।

जो एक बार गर्भ से, दूसरी बार क्रिया से ऐसे दो बार जन्म लेते हैं वे द्विजन्मा या द्विज कहलाते हैं। महाराज भरत ने इन्हें गर्भान्वय क्रिया, दीक्षान्वय क्रिया और कर्त्रन्वय क्रिया का भी उपदेश दिया था।

किसी समय भरत महाराज ने पूछा कि हे भगवन्! मैंने यह ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति की है सो इसमें गुण हैं या दोष? कृपा कर कहिए। भगवान ने कहा कि हे भरत! जो तुमने धर्मात्मा द्विजों की पूजा की है सो अच्छा किया है किन्तु इसमें कुछ दोष हैं उसे तुम सुनो। जब तक चतुर्थ काल की स्थिति रहेगी, तब तक तो प्राय: ये उचित आचार का पालन करते रहेंगे परन्तु जब कलियुग निकट आ जायेगा, तब ये जातिवाद के अभिमान से सदाचार से भ्रष्ट होकर समीचीन मोक्षमार्ग के विरोधी बन जायेंगे। यद्यपि यह ब्राह्मणों की सृष्टि कालान्तर में

दोष का बीजरूप है तथापि धर्म सृष्टि का उल्लंघन न हो, इसलिए इस समय इसका परिहार करना भी अच्छा नहीं है। वर्णाश्राम की रक्षा करने वाले भरत ने गुरुदेव के वचन सुनकर संदेह दूर कर अपना चित्त निर्मल किया।

भगवान ऋषभदेव का निर्वाण गमन— इस प्रकार सज्जनों को मोक्षरूपी उत्तम फल की प्राप्ति कराने के लिए भगवान ने अपने गणधरों के साथ-साथ एक हजार वर्ष और चौदह दिन कम एक लाख पूर्व वर्षों तक विहार किया और जब आयु के चौदह दिन बाकी रह गये, तब योगों का निरोध कर पौषमास की पूर्णमासी के दिन श्रीशिखर और सिद्धशिखर के बीच में कैलाशपर्वत पर जाकर विराजमान हो गये। उसी रात्रि में भरत महाराज ने स्वप्न में देखा कि महामेरुपर्वत अपनी लम्बाई से सिद्धक्षेत्र तक पहुँच गया है। अर्ककीर्ति, गृहपति, प्रधानमंत्री आदि ने भी कुछ-कुछ स्वप्न देखे। सभी ने प्रातः निर्णय किया कि भगवान ऋषभदेव का मोक्ष होने वाला है। भरत महाराज उसी दिन वहाँ कैलाशपर्वत पर आ गये और चौदह दिन बराबर अखंड पूजा करते रहे।

माघ कृष्ण चतुर्दशी के दिन सूर्योदय के शुभ मुहूर्त और अभिजित् नक्षत्र में भगवान ऋषभदेव पूर्व दिशा की ओर मुँह करके अनेक मुनियों के साथ पर्यंकासन से विराजमान थे, उन्होंने तीसरे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नाम के शुक्लध्यान से तीनों योगों का निरोध किया और फिर अंतिम गुणस्थान में ठहरकर पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण प्रमाण काल में चतुर्थ व्युपरतक्रियानिवृत्ति नाम के शुक्लध्यान से अघातिया कर्मों का नाश किया। औदारिक, तैजस और कार्माण इन तीनों शरीरों के नाश से सिद्धत्व पर्याय प्राप्तकर वे सम्यक्त्व आदि निज के आठ गुणों से युक्त हो क्षणभर में ही तनुवातवलय में जा पहुँचे तथा वहाँ पर नित्य, निरंजन अपने अंतिम शरीर से कुछ न्यून, अमूर्त, आत्मसुख में तल्लीन और निरन्तर संसार को देखते हुए विराजमान हो गये।

उसी समय मोक्षकल्याणक की पूजा करने की इच्छा से सब देवगणों ने "यह भगवान का शरीर पवित्र, उत्कृष्ट, मोक्ष का साधन, स्वच्छ और निर्मल है" यह विचार कर उसे बहुमूल्य पालकी में विराजमान किया। तदनन्तर जो अग्निकुमार देवों के इन्द्र के रत्नों की कान्ति से दैदीप्यमान उन्नत मुकुट से उत्पन्न हुई है तथा चन्दन, अगुरु, कपूर, केशर आदि सुगंधित पदार्थों और घी, दूध आदि से बढ़ाई गई है, ऐसी अग्नि से जगत् की अभूतपूर्व सुगंधि प्रगट कर उसका वर्तमान आकार नष्ट कर दिया और इस प्रकार उसे दूसरी पर्याय प्राप्त करा दी। तदनन्तर उन्हीं इन्द्रों ने पंचकल्याणक को प्राप्त होने वाली श्री ऋषभदेव के शरीर की भस्म उठाई और हम लोग भी ऐसे ही हों, यही सोचकर बड़ी भक्ति से अपने ललाट पर, दोनों भुजाओं में, गले में और वक्षस्थल में लगाई।

उधर भरत महाराज पिता के वियोग से विह्वल हुए शोकरूपी अग्नि से पीड़ित हो गये, तब श्री वृषभसेन गणधर ने उन्हें बहुत समझाया और उनके संतप्त चित्त को धर्मामृत वचनों से शान्त किया।

जब चतुर्थकाल के प्रारंभ होने में तीन वर्ष, आठ माह और पन्द्रह दिन शेष थे, तब भगवान ऋषभदेव ने मोक्षपद प्राप्त किया था। अनन्तर चतुर्थकाल में अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ पर्यंत २२ तीर्थंकर और हुए हैं तत्पश्चात भगवान महावीर हुए हैं।

अंतिम तीर्थंकर

भगवान महावीर कैसे बने— सब द्वीपों के मध्य में रहने वाले इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर किनारे पर पुष्कलावती नाम का देश है, उसकी पुण्डरीकिणी नगरी में एक मधु नाम का वन है। उसमें पुरुरवा नाम का एक भीलों का राजा रहता था। उसकी कालिका नाम की स्त्री थी। किसी एक दिन दिग्भ्रम हो जाने के कारण सागरसेन नाम के मुनिराज उस वन में इधर-उधर भ्रमण कर रहे थे। उन्हें देख पुरुरवा मृग समझकर उन्हें मारने को उद्यत हुआ परन्तु उसकी स्त्री ने यह कहकर मना कर दिया कि 'ये वन के देवता घूम रहे हैं, इन्हें मत मारो'। उस पुरुरवा भील ने उसी समय प्रसन्नचित्त होकर मुनिराज के पास जाकर नमस्कार किया और गुरु के उपदेश से मद्य, मांस, मधु इन तीनों का त्याग कर जीवनपर्यंत व्रत का पालन कर आयु के अंत में सौधर्म स्वर्ग में एक सागर की आयु वाला देव हो गया।

इसी भरत क्षेत्र की अयोध्या नगरी के प्रथम चक्रवर्ती राजा भरत की अनन्तमती रानी से पुरुरवा भील का जीव मरीचि नाम का ज्येष्ठ पुत्र उत्पन्न हुआ। आपने बाबा ऋषभदेव की दीक्षा के समय स्वयं ही गुरुभक्ति से प्रेरित हो मरीचिकुमार ने कच्छ आदि चार हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली। भगवान के छह महीने के योग के समय आहार की विधि से अनभिज्ञ ये सभी साधु क्षुधा, तृषा आदि परिषहों से भ्रष्ट होकर स्वयं तालाब का जल, वन के फल-फूल ग्रहण करके खाने लगे। यह देख वन-देवताओं ने कहा कि निर्ग्रंथ वेश धारण करने वाले मुनियों का यह क्रम नहीं है। इस वेश में तुम ऐसी प्रवृत्ति नहीं कर सकते। तब मिथ्यात्व से प्रेरित मरीचि ने इन वचनों को सुनकर सबसे पहले परिव्राजक दीक्षा धारण कर ली।

जब ऋषभदेव को केवलज्ञान प्राप्त हो गया, तब समवसरण में सभी भ्रष्ट हुए साधुओं ने दीक्षा धारण करके आत्मकल्याण कर लिया किन्तु इस अकेले मरीचि ने तीर्थंकर की दिव्यध्वनि को सुनकर भी सच्चा धर्म ग्रहण नहीं किया। वह सोचता था कि जैसे भगवान ऋषभदेव ने समस्त परिग्रह का त्याग कर तीन लोक में क्षोभ उत्पन्न करने वाली सामर्थ्य प्राप्त की है, उसी प्रकार मैं भी अपने द्वारा चलाये गये दूसरे मत की व्यवस्था करके इन्द्र द्वारा की गई पूजा को प्राप्त करूँगा। इस प्रकार मान कषाय से कल्पित तत्त्व का उपदेश करते हुए आयु के अंत में मरकर ब्रह्मस्वर्ग में देव हो गया। वहाँ से च्युत हो अयोध्या नगरी के कपिल ब्राह्मण की काली स्त्री से जटिल नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वहाँ भी संस्कारवश परिव्राजक बनकर प्रकृति पुरुष आदि पच्चीस तत्त्वों का उपदेश देकर आयु के अंत में मरकर सौधर्म स्वर्ग में एक सागर आयु वाला देव हुआ। वहाँ से आकर इसी भरत क्षेत्र के सूतिका नामक गाँव में अग्निभूत ब्राह्मण की गौतम स्त्री से अग्निसह नाम का पुत्र हुआ। वहाँ भी मिथ्या-पाखण्डी साधु होकर मरकर स्वर्ग प्राप्त किया। वहाँ से आकर इसी भरत क्षेत्र के मंदिर नामक ग्राम में गौतम ब्राह्मण की कौशिकी ब्राह्मणी से अग्निमित्र नाम का पुत्र हुआ। वहाँ भी उसने वही परिव्राजक दीक्षा धारण कर माहेन्द्र स्वर्ग को प्राप्त किया। वहाँ से च्युत होकर मंदिर नामक नगर में शालंकायन ब्राह्मण की मन्दिरा नाम की स्त्री से भारद्वाज नाम का पुत्र हुआ। वहाँ वह त्रिदण्ड से सुशोभित साधु

बना, तदनन्तर माहेन्द्र स्वर्ग को प्राप्त किया।

फिर वहाँ से च्युत होकर कुमार्ग के प्रगट करने के फलस्वरूप मिथ्यात्व के निमित्त से समस्त अधोगतियों में जन्म लेकर उसने भारी दु:ख भोगे। इस प्रकार त्रस-स्थावर योनियों में असंख्यात वर्षों तक भ्रमण करता हुआ बहुत ही श्रान्त हो गया।

अन्यत्र लिखा है कि भारद्वाज ब्राह्मण त्रिदण्डी साधु होकर माहेन्द्र स्वर्ग को प्राप्त हुआ पश्चात् वहाँ से च्युत होकर मिथ्यात्व के प्रभाव से इतरनिगोद में चला गया, वहाँ सागरोपम काल व्यतीत हो गया। अनन्तर अनेकों भवधारण किये।

इस प्रकार अनेकों भव धारण करते हुए कभी सुपात्र दान के प्रभाव से यह जीव भोगभूमि में गया। अस्सी लाख बार देवपद को प्राप्त हुआ इसलिए आचार्य कहते हैं कि यह मिथ्यात्व बहुत ही बुरा है, तीन लोक और तीन काल में इससे बढ़कर और कोई भी इस जीव का शत्रु नहीं है। बुद्धिमान पुरुषों का कथन है कि यदि मिथ्यात्व और हिंसादि पापों की तुलना की जावे, तो मेरु और राई के समान अन्तर मालूम होगा।

इसके बाद कदाचित् यही जीव कुछ पाप के मंद होने से राजगृह नगर में 'स्थावर' नाम का ब्राह्मण हो गया।

तदनन्तर मगध देश के इसी राजगृह नगर में वेद पारंगत शांडिल्य नामक ब्राह्मण की पारशरी ब्राह्मणी से 'स्थावर' नाम का पुत्र हुआ, वह भी वेद पारंगत, सम्यक्त्व से शून्य पुनरपि परिव्राजक के मत को धारण कर अन्त में मरकर माहेन्द्र स्वर्ग में सात सागर आयु वाला देव हो गया। वहाँ से च्युत होकर इसी राजगृह नगर में विश्वभूति राजा के जैनी नामक रानी से विश्वनंदी नाम का पुत्र हो गया। इसी विश्वभूति राजा का छोटा भाई विशाखभूति था, उसका पुत्र विशाखनन्दी नाम का था। एक दिन विश्वभूति राजा विरक्त हो अपने छोटे भाई को राज्यपद और पुत्र विश्वनंदी को युवराज पद देकर जैनेश्वरी दीक्षा लेकर कठिन तप करने लगे।

किसी दिन विश्वनन्दी युवराज के मनोहर नामक बगीचे को देखकर चाचा के पुत्र विशाखनन्दी ने अपने पिता से उसकी याचना की। विशाखभूति राजा ने भी मायाचारी से विश्वनन्दी को शत्रुओं पर आक्रमण के लिए भेजकर वह उद्यान अपने पुत्र को दे दिया। विश्वनन्दी को इस घटना का पता लगते ही उसने वापिस आकर विशाखनन्दी को पराजित कर दिया और उसको भयभीत देख विरक्त होकर उसको उद्यान सौंप कर आप स्वयं दैगम्बरी दीक्षा लेकर तप करने लगा।

घोर तपश्चरण करते हुए अत्यन्त कृतशरीरी वह विश्वनन्दी मुनिराज एक दिन मथुरा नगरी में आहार के लिए आये। व्यसनों से भ्रष्ट या विशाखनन्दी उस समय किसी राजा का दूत बनकर वहाँ आया हुआ था और एक वेश्या की छत पर बैठा मुनि को देख रहा था। दैवयोग से वहाँ एक गाय ने मुनिराज को धक्का देकर गिरा दिया। उन्हें गिरता देख क्रोधित हुआ विशाखनन्दी बोला कि "तुम्हारा पराक्रम हमें मारने को पत्थर का खम्भा तोड़ते समय देखा गया था, वह आज कहाँ गया?" इस प्रकार खोटे वाक्यों को सुनकर मुनिराज के मन में भी क्रोध आ गया और बोले कि इस हँसी का फल तुझे अवश्य मिलेगा और अन्त में निदान सहित सन्यास से मरण कर महाशुक्र स्वर्ग में देव हुए और विशाखभूति (चाचा का जीव) भी तप करके वहाँ पर देव हुआ। चिरकाल तक सुख भोगकर वे दोनों वहाँ से च्युत होकर सुरम्य देश के पोदनपुर नगर में प्रजापति महाराज

की जयावती रानी से विशाखभूति का जीव 'विजय' नाम का बलभद्र पदवी धारक पुत्र हुआ और उन्हीं की दूसरी मृगावती रानी से विश्वनन्दी का जीव, नारायण पदधारक त्रिपृष्ठ नाम का पुत्र हुआ एवं विशाखनन्दी का जीव चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण कर विजयार्ध पर्वत की उत्तरश्रेणी के अलकापुर नगर में मयूरग्रीव विद्याधर की नीलांजना रानी से अश्वग्रीव नाम का प्रतिनारायण पद का धारक पुत्र हुआ। पूर्व जन्म के संस्कार से त्रिपृष्ठ नारायण ने अश्वग्रीव प्रतिनारायण को मारकर चक्र-रत्न प्राप्त किया। चिरकाल तक राज्य सुख भोग कर अन्त में भोगासक्ति से मरकर सातवें नरक को प्राप्त किया। वहाँ के दु:खों को सागरोंपर्यन्त सहकर इसी भरतक्षेत्र की गंगा नदी तट के समीपवर्ती वन में सिंहगिरि पर्वत पर सिंह हुआ, वहाँ भी तीव्र पाप से पुन: प्रथम नरक को प्राप्त किया। वहाँ एक सागर तक दु:ख भोगकर जम्बूद्वीप में सिंहकूट की पूर्व दिशा में हिमवन पर्वत के शिखर पर सिंह हो गया।

सिंह का उत्थान— किसी समय यह सिंह किसी एक हरिण को पकड़ कर खा रहा था, उसी समय अतिशय दयालु 'अजितंजय' नामक चारण मुनि, अमितगुण नामक मुनिराज के साथ आकाश में जा रहे थे। उन्होंने उस सिंह को देखा, देखते ही के तीर्थंकर के वचनों का स्मरण कर दयावश आकाशमार्ग से उतरकर उस सिंह के पास पहुँचे और शिलातल पर बैठकर उच्चस्वर से सिंह को सम्बोधन कर धर्ममय वचन कहने लगे। उन्होंने कहा कि हे मृगराज! तूने पहले त्रिपृष्ठ नारायण के भव में इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होकर मरकर नरक पर्याय प्राप्त की। वहाँ के दु:ख भोगकर वहाँ से निकलकर सिंह पर्याय पाकर क्रूरकर्मी होकर पुन: नरक गया, अब वहाँ से निकलकर पुनरपि सिंह पर्याय को प्राप्त हुआ। अरे मृगराज! अब[1] इस भव से तू दसवें भव में अंतिम तीर्थंकर होगा। यह सब मैंने श्रीधर तीर्थंकर के मुख से सुना है। हे बुद्धिमान! अब तू आज से संसाररूपी अटवी में गिराने वाले मिथ्यामार्ग से विरक्त हो और आत्मा का हित करने वाले मार्ग में रमणकर।

इस प्रकार से उस सिंह ने मुनिराज के वचन हृदय में धारण किये तथा उन दोनों मुनिराजों की भक्ति के भार से नम्र होकर बार-बार प्रदक्षिणाएं दीं, बार-बार प्रणाम किया, काल आदि लब्धियों के मिल जाने से शीघ्र ही तत्त्वश्रद्धान धारण किया और मन स्थिर कर श्रावक के व्रत ग्रहण किये।

इस[2] प्रकार संयमासंयम के व्रतों का पालन करते हुए अंत में संन्यास धारणकर वह एकाग्रचित्त से मरा और शीघ्र ही सौधर्म स्वर्ग में सिंहकेतु नाम का देव हुआ। वहाँ दो सागर पर्यन्त दिव्य सुखों का अनुभव कर वहाँ से च्युत होकर धातकीखण्ड के पूर्व विदेह की मंगलावती देश के विजयार्ध पर्वत की उत्तम श्रेणी में अत्यन्त श्रेष्ठ कनकप्रभ नगर के राजा कनकपुंख विद्याधर और कनकमाला रानी के गर्भ से कनकोज्ज्वल नाम का पुत्र हुआ। किसी दिन मंदर पर्वत पर प्रियमित्र मुनिराज से दीक्षा लेकर अंत में समाधि से मरणकर सातवें स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से च्युत होकर इसी अयोध्या नगरी के राजा वज्रसेन की शीलवती रानी से हरिषेण

१. इतोऽस्मिन् दशमे भावी भवेऽन्त्यस्तीर्थकृद्भवान् । सर्वमश्रावि तीर्थेशान् मयेदं श्रीधराह्वयात्।।२०४।।
अद्यप्रभृति संसारघोरारण्यप्रपातनात् । धीमन् विरम दुर्मार्गादारमात्महिते मते।।२०५।।
विधाय हृदि योगीन्द्रयुग्मं भक्तिभराहित:। मुहु: प्रदक्षिणीकृत्य प्रप्रणम्य मृगाधिप:।।२०७।।
तत्त्व श्रद्धानमासाद्य सद्य: कालादिलब्धित:। प्रणिधाय मन: श्रावकव्रतानि समाददे।।२०८।। (उत्तर पु. पर्व ७४)

२. एवं व्रतेन संन्यस्य समाहितमतिर्व्यसु:। सद्य: सौधर्मकल्पेऽसौ सिंहकेतु: सुरोऽजनि।।२१९।। (उत्तर पुराण पर्व ७४)

नाम का पुत्र हुआ। यहाँ भी राज्यभार को छोड़कर श्री श्रुतसागर मुनिराज के समीप दीक्षा लेकर आयु के अंत में महाशुक्र स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से च्युत होकर धातकीखण्ड के पूर्व विदेह संबंधी पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी के राजा सुमित्र और उनकी मनोरमा रानी से प्रियमित्र नाम का पुत्र हुआ, इन प्रियमित्र ने चक्रवर्ती पद के वैभव को प्राप्त किया था।

अनन्तर क्षेमंकर तीर्थंकर से दीक्षा लेकर आयु के अंत में सहस्रार स्वर्ग में देव सुख का अनुभव कर जम्बूद्वीप के छत्रपुर नगर में नन्दिवर्धन महाराज की महारानी से 'नन्द' नाम का पुत्र हुआ। यहाँ पर भी अभिलक्षित राज्य सुख को भोग कर 'प्रोष्ठिल' नाम के गुरु के पास दीक्षा लेकर उग्र तपश्चरण करते हुए ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त कर लिया और दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिंतवन करके तीर्थंकर नामकर्म का बंध कर लिया। आयु के अंत में सब प्रकार की आराधानाओं को प्राप्त कर अच्युत स्वर्ग के 'पुष्पोत्तर' विमान में श्रेष्ठ इन्द्र हुआ।

भगवान का गर्भावतरण— जब इस इन्द्र की आयु छह महीने बाकी रही थी, तब इसी भरतक्षेत्र के विदेह नामक देश संबंधी 'कुण्डलपुर' नगर के राजा 'सिद्धार्थ' के भवन के आँगन में सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर के द्वारा की गई प्रतिदिन साढ़े सात करोड़ रत्नों की मोटी धारा बरसने लगी।

आषाढ़ शुक्ला षष्ठी की रात्रि के पिछले प्रहर में सिद्धार्थ महाराज की रानी प्रियकारिणी ने सोलह स्वाप्न देखे एवं प्रभात में अपने पतिदेव से उन स्वाप्नों का फल सुनकर संतोष प्राप्त किया। अनन्तर देवों ने आकर भगवान का गर्भ कल्याणक उत्सव मनाते हुए माता-पिता की विधिवत् पूजा की अर्थात् माता त्रिशला के गर्भ में अच्युतेन्द्र का जीव आ गया।

भगवान महावीर का जन्म उत्सव— नवमास व्यतीत होने के बाद चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन माता त्रिशला ने पुत्र को जन्म दिया। उस समय सारे विश्व में हर्ष की लहर दौड़ गई। देवों के स्थान में बिना बजाये वाद्य ध्वनि होने लगी। सौधर्म इन्द्र का आसन कम्पायमान हो गया। अवधिज्ञान के बल से तीर्थंकर महापुरुष के जन्म को जानकर इन्द्र ऐरावत हाथी पर चढ़कर अपने वैभव के साथ आकर कुण्डलपुर नगर की प्रदक्षिणा करके जिन बालक को लेकर सुमेरु पर्वत पर गये और वहाँ क्षीरसागर के जल से भरे हुए १००८ कलशों द्वारा पांडुक शिला पर जिन भगवान का अभिषेकोत्सव मनाया पुनः उत्तमोत्तम आभूषणों से विभूषित करके इन्द्र ने 'वीर' और 'वर्धमान' ऐसे दो नाम रखे और वापस लाकर माता-पिता को देकर स्वस्थान को चले गये।

भगवान की बाल्यकाल की विशेषताएँ— एक बार संजय और विजय नामक दो चारण मुनियों को किसी पदार्थ में संदेह उत्पन्न हुआ था परन्तु भगवान के जन्म के बाद ही वे उनके समीप आए और उनके दर्शन मात्र से ही उनका संदेह दूर हो गया। इसलिए उन्होंने बड़ी भक्ति से कहा था कि यह बालक 'सन्मति' तीर्थंकर होने वाला है अर्थात् उन्होंने उनका 'सन्मति' नाम रखा।

किसी समय भगवान देव बालकों के साथ वन में खेल रहे थे। संगम नामक देव उनके धैर्य की परीक्षा करने के लिए सौ जिह्वाओं से सहित अत्यन्त भयंकर सर्प का रूप लेकर वृक्ष की जड़ से स्कंध तक लिपट

गया। सब बालक भय से काँप उठे किन्तु भगवान वीर बालक निर्भय होकर उसके फण पर पैर रखकर उतर गये और उसके साथ क्रीड़ा करने लगे, तब संगम देव ने भक्तिवश भगवान की स्तुति करके 'महावीर' यह नाम घोषित किया था।

भगवान महावीर का दीक्षा महोत्सव— इस प्रकार से तीस वर्ष का कुमार काल व्यतीत हो जाने के बाद एक दिन स्वयं ही भगवान को जातिस्मरण हो जाने से वैराग्य हो गया। उसी समय स्तुति पढ़ते हुए लौकांतिक देवों ने आकर उनकी पूजा की। देवों द्वारा लाई गई "चन्द्रप्रभा" पालकी पर भगवान को विराजमान करके उस पालकी को पहले भूमिगोचरी राजाओं ने, फिर विद्याधर राजाओं ने और फिर इन्द्रों ने उठाया और वे 'षण्ड' नामक वन में ले गए। वहाँ रत्नमयी बड़ी शिला पर उत्तर की ओर मुँह करके बेला का नियम लेकर विराजमान हो गये और आभरणों का त्याग कर पंचमुष्टि लोंच करके 'ॐ नमः सिद्धं' कहते हुए जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। वह मगसिर वदी दशमी का दिन था। उस दिन देवों ने दीक्षा कल्याणक उत्सव मनाया। उसी समय संयम ने उन भगवान को केवलज्ञान के बयाने के समान चौथा मनःपर्यय ज्ञान भी समर्पित किया था।

अनन्तर पारणा के दिन वे भगवान आहार के लिए कूल ग्राम में पहुँचे। राजा कूल ने तीन प्रदक्षिणा देकर नवधाभक्ति से भगवान को खीर का आहार देकर पंचाश्चर्यों को प्राप्त किया था।

भगवान का उपसर्ग विजय— किसी एक दिन अतिशय धीर-वीर भगवान वर्धमान उज्जयिनी नगरी के अतिमुक्तक नामक श्मशान में प्रतिमायोग से विराजमान थे। उन्हें देखकर महादेव नामक रुद्र ने अपनी दुष्टता से उनके धैर्य की परीक्षा करनी चाही। उसने रात्रि के समय ऐसे अनेक बड़े-बड़े वेतालों का रूप बनाकर भयंकर उपसर्ग किया। जब वह भगवान को ध्यान से चलायमान करने में समर्थ नहीं हुआ, तब अन्त में भगवान का 'महति महावीर' यह नाम रखकर अनेक प्रकार से स्तुति की, पार्वती के साथ नृत्य किया और सब मत्सर भाव को छोड़कर वह वहाँ से चला गया।

चन्दना के द्वारा भगवान का आहार— किसी एक दिन राजा चेटक की पुत्री चन्दना क्रीड़ा में आसक्त थी कि उसे कोई विद्याधर उठा कर ले गया। पीछे अपनी स्त्री के डर से उसे भयंकर वन में छोड़ दिया। वहाँ किसी भील ने देखकर उसको साथ ले जाकर धन की इच्छा से वृषभदत्त सेठ को दे दी।

उस सेठ की पत्नी सुभद्रा ने 'इसका सेठ से संबंध न हो जावे' इस आशंका से उसे मिट्टी के सकोरे में काँजी से मिला हुआ कोदों का भात दिया करती थी और क्रोधवश उसे सांकल में बांधे रहा करती थी।

"किसी[१] दूसरे दिन वत्सदेश की उसी कौशाम्बी नगरी में आहारार्थ भगवान महावीर स्वामी आये। उन्हें नगरी में प्रवेश करते देख चन्दना उनके सामने जाने लगी। उसी समय उसके सांकल के सब बंधन टूट गये, मुँडाए हुए सिर पर केश आ गए, वह वस्त्राभरण से सुन्दर हो गई और भक्तिभार से झुकी हुई नवधाभक्ति समेत

---

१. परेद्युर्वत्सदेशस्य कौशाम्बीनगरान्तरम् । कायस्थित्यै विशंतं तं महावीरं विलोक्य सा।।३४३।।
प्रत्युद्व्रजन्ती विच्छिन्नशृंखलाकृतबंधना। लोलालिकुललीलोरुकेशभाराच्चलाचलात् ।।३४४।।
शीलमाहात्म्यसंभूत पृथुहेमशराविका। शाल्यन्नभाववत्कोद्रवौदनं विधिवत्सुधीः ।।३४६।।
अन्नमाश्राणयत्तस्मै तेनाप्याश्चर्यपञ्चकम्। बन्धुभिश्च समायोगः कृतश्चन्दनया तदा।।३४७।। (उत्तरपुराण पर्व ७४, पृ. ४६६)।

आहार देने को तत्पर हुई। शील के माहात्म्य से उसका मिट्टी का सकोरा सुवर्ण पात्र बन गया और कोदों का भात शाली चावलों की खीर हो गया। उस बुद्धिमती चन्दना ने विधिपूर्वक पड़गाहन करके भगवान को आहार दान दिया, इसलिए उसके यहाँ पंचाश्चर्यों की वर्षा हुई और भाई-बन्धुओं के साथ उसका समागम हो गया।"

भगवान का केवलज्ञान— जगद्बन्धु भगवान के छद्मस्थ अवस्था में बारह वर्ष व्यतीत हो गये। किसी एक दिन वे जृंभिक ग्राम के समीप ऋजुकूला नदी के किनारे मनोहर नामक वन में रत्नमयी शिला के ऊपर सालवृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर प्रतिमायोग से विराजमान हुए। वैशाख शुक्ला दशमी के दिन अपराह्न काल में हस्त और उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के बीच में चन्द्रमा के आ जाने पर परिणामों की विशुद्धता को बढ़ाते हुए वे क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हुए। उसी समय उन्होंने शुक्लध्यान के द्वारा चारों घातिया कर्मों को नष्ट कर अनंत चतुष्टय प्राप्त किये और चौंतीस अतिशयों से सुशोभित होकर परमात्मा बन गये।

उसी समय सौधर्म इन्द्र ने चारों प्रकार के देवों के साथ आकर समवसरण की रचना करके केवलज्ञान कल्याणक की विधिवत् पूजा की। भगवान महावीर के समवसरण का प्रमाण एक योजन का था। पूर्ववत् ऋषभदेव के समवसरण के सदृश अगणित महिमाशाली वैभवों से युक्त इस समवसरण में बारह सभा में मनुष्य, देव, तिर्यंच आदि बैठे थे किन्तु भगवान की दिव्यध्वनि नहीं खिरी।

गौतम स्वामी का आगमन— तदनन्तर इन्द्र केवलज्ञान के बाद दिव्यध्वनि के न खिरने के कारण को जानकर युक्ति से गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति ब्राह्मण को वहाँ लाया। वे इन्द्रभूति काललब्धि के निमित्त से पाँच सौ शिष्यों के साथ भगवान के चरणों में दीक्षित हो प्रथम गणधर बन गये और तत्क्षण ही उन्हें सात ऋद्धियाँ प्राप्त हो गईं। उस दिन श्रावण कृष्णा प्रतिपदा तिथि को पूर्वाह्न काल में भगवान की दिव्यध्वनि प्रगट हुई और रात्रि के पूर्वभाग में श्री गौतम गणधर ने ग्यारह अंगों की एवं पश्चिम भाग में चौदह पूर्वों की रचना की थी।

इनके बाद वायुभूति, अग्निभूति, सुधर्म, मौर्य, मौन्द्रय, पुत्र, मैत्रेय, अकम्पन, अन्धवेला तथा प्रभास ये दश गणधर और हुए। इस प्रकार से भगवान महावीर स्वामी की सभा में गणधर ११, ग्यारह अंग-चौदह पूर्वों के धारक मुनि ३११, शिक्षक मुनि ९९००, अवधिज्ञानी १३००, केवलज्ञानी ७००, विक्रिया ऋद्धि धारक मुनि ९००, मनःपर्यय ज्ञानी ५००, अनुत्तरवादी मुनि ४००, इस प्रकार सब मिलाकर १४००० मुनि, चन्दना आदि को लेकर ३६००० आर्यिकाएं, श्रावक १००००० , श्राविकाएं ३००००० , असंख्यातों देव-देवियाँ और संख्यातों तिर्यञ्च थे।

भगवान महावीर का निर्वाण गमन— भगवान तीस वर्ष तक भव्य जीवों को धर्म का उपदेश देकर पावापुरी से कार्तिक कृष्णा अमावस्या की प्रत्यूष बेला में सिद्धपद को प्राप्त हो गये।

बारह चक्रवर्ती

भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्ति, कुंथु, अर, सुभौम, पद्म, हरिषेण, जयसेन और ब्रह्मदत्त क्रम से ये बारह चक्रवर्ती सब तीर्थंकरों की प्रत्यक्ष एवं परोक्ष वन्दना में आसक्त और अत्यन्त गाढ़ भक्ति से परिपूर्ण थे। भरत चक्रवर्ती ऋषभेश्वर के समक्ष, सगरचक्री अजितेश्वर के समक्ष तथा मघवा और सनत्कुमार ये दो

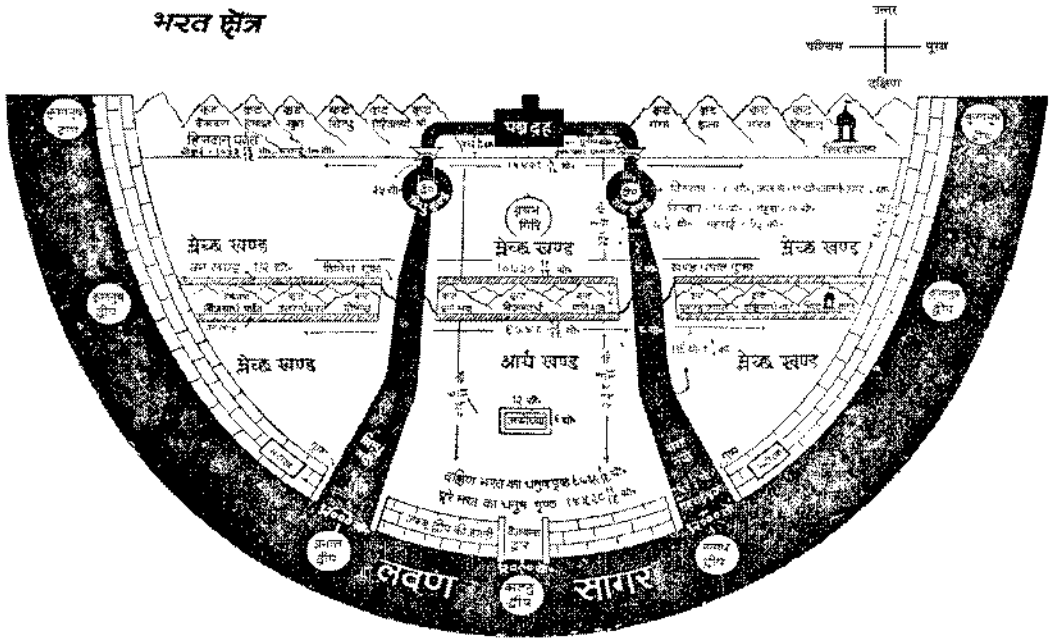

चक्री धर्मनाथ और शान्तिनाथ के अन्तराल में हुए हैं। शान्तिनाथ, कुंथुनाथ और अरनाथ ये तीन चक्री होते हुए तीर्थंकर भी थे। सुभौम चक्री अरनाथ और मल्लिनाथ भगवान के अन्तराल में, पद्मचक्री मल्लि और मुनिसुव्रत के अन्तराल में, हरिषेण चक्री मुनिसुव्रत और नमिनाथ के अन्तराल में, जयसेन चक्री नमि और नेमिनाथ के अन्तराल में तथा ब्रह्मदत चक्री नेमि और पार्श्वनाथ के अन्तराल में हुए हैं।

पूर्व जन्म में किये गये तप के बल से भरत आदि की आयुधशालाओं में भुवन को विस्मित करने वाला 'चक्ररत्न' उत्पन्न होता है, तब अतिशय हर्ष को प्राप्त चक्रवर्ती जिनेन्द्र भगवान की पूजा करके विजय के निमित्त पूर्व दिशा में प्रयाण करते हैं। क्रम से दक्षिण भरत क्षेत्र के दो खण्डों को सिद्ध करके पुन: उत्तर भरत क्षेत्र में सम्पूर्ण भूमिगोचरी और विद्याधरों को वश में कर लेते हैं।

ये चक्रवर्ती वृषभगिरि पर्वत पर अपना नाम लिखने के लिए विजय प्रशस्तियों से सर्वत्र व्याप्त उस वृषभाचल को देखकर और अपने नाम को लिखने के लिए तिलमात्र भी स्थान न पाकर विजय के अभिमान से रहित होकर चिन्तायुक्त खड़े रह जाते हैं। तब मंत्रियों और देवों के अनुरोध से एक स्थान के किसी चक्रवर्ती का नाम अपने दण्डरत्न से नष्ट करके अपना नाम अंकित करते हैं। इस प्रकार ये सभी चक्रवर्ती सम्पूर्ण षट्खण्ड को जीतकर अपने नगर में प्रवेश करते हैं।

चक्रवर्तियों का वैभव— प्रत्येक चक्री उत्तम संहनन, उत्तम संस्थान से युक्त सुवर्ण वर्ण वाले होते हैं। उनके छ्यानवे हजार रानियाँ होती हैं— इनमें ३२००० आर्यखण्ड की कन्याएँ, ३२००० विद्याधर कन्याएं

और ३२००० म्लेच्छ खण्ड की कन्याएँ होती हैं। प्रत्येक चक्रियों के संख्यात हजार पुत्र-पुत्रियाँ, ३२००० गणबद्ध राजा, ३६० अंगरक्षक, ३६० रसोइये, ३५००००० (साढ़े तीन करोड़) बंधुवर्ग, ३००००००० गायें, १००००००० थालियाँ, ८४००००० भद्र हाथी, ८४००००० रथ, १८००००००० घोड़े, ८४००००००० उत्तर वीर, ८८००० म्लेच्छ राजा, अनेकों करोड़ विद्याधर, ३२००० मुकुटबद्ध राजा, ३२००० नाट्यशालाएँ, ३२००० संगीतशालाएँ और ४८००००००० पदातिगण होते हैं।

सभी चक्रवर्तियों में से प्रत्येक ९६००००००० ग्राम, ७५००० नगर, १६००० खेट, २४००० कर्वट, ४००० मटंब, ४८००० पत्तन, ९९००० द्रोणमुख, १४००० संवाहन, ५६ अन्तर्द्वीप, ७०० कुक्षि निवास, २८००० दुर्गादि होते हैं एवं चौदह रत्न, नवनिधि और दशांग भोग होते हैं।

चौदह रत्न— गज, अश्व, गृहपति, स्थपति, सेनापति, पट्टरानी और पुरोहित ये सात जीवरत्न हैं। छत्र, असि, दण्ड, चक्र, कांकिणी, चिन्तामणि और चर्म ये सात रत्न निर्जीव होते हैं। चक्रवर्तियों के चामरों को बत्तीस यक्ष ढोरते हैं।

नवनिधि— काल, महाकाल, पांडु, मानव, शंख, पद्म, नैसर्प, पिङ्गल और नाना रत्न ये नवनिधियाँ श्रीपुर में उत्पन्न हुआ करती हैं। इन नव निधियों में से प्रत्येक क्रम से ऋतु के योग्य द्रव्य, भाजन, धान्य, आयुध, वादित्र, वस्त्र, हर्म्य, आभरण और रत्नसमूहों को दिया करती हैं।

चक्रवर्तियों के २४ दक्षिण मुखावर्त धवल व उत्तम शंख, एक कोड़ाकोड़ी १००००००००००००० हल होते हैं। रमणीय भेरी और पट बारह-बारह होते हैं, जिनका शब्द बारह योजन प्रमाण देश में सुना जाता है।

दशांग भोग— दिव्यपुर, रत्न, निधि, सैन्य, भाजन, भोजन, शय्या, आसन, वाहन और नाट्य ये उन चक्रवर्तियों के दशांग भोग कहे जाते हैं।

इन चक्रवर्तियों की अवगाहना, आयु, राज्यकाल आदि का वर्णन चार्ट में देखिए।

भरत चक्रवर्ती प्रथम चक्रवर्ती थे और भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र थे, उन्हीं के नाम से यह भरतभूमि 'भारत' कहलाती है। इन्होंने दीक्षा लेते ही अन्तर्मुहूर्त मात्रकाल में केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया था। इनका जीवनवृत्त महापुराण और भरतेशवैभव में देखिए। इनके भाई कामदेव पदधारक बाहुबली से इनका मानभंग, विजयभंग हुआ है, इसे हुण्डावसर्पिणी काल का दोष बताया है।

भरत चक्रवर्ती

भगवान ऋषभदेव की यशस्वती रानी से भरत महाराज का जन्म हुआ था। भगवान ने दीक्षा के लिए जाते समय भरत को साम्राज्य पद पर प्रतिष्ठित किया था। एक समय राज्यलक्ष्मी से युक्त राजर्षि भरत को एक ही साथ नीचे लिखे हुए तीन समाचार मालूम हुए थे। पूज्य पिता को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, अन्तःपुर में पुत्र का जन्म हुआ है और आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ है। क्षणभर में भरत ने मन में सोचा कि केवलज्ञान का उत्पन्न होना धर्म का फल है, चक्र का प्रकट होना अर्थ का फल है और पुत्र का उत्पन्न होना काम का फल है अतः भरत महाराज ने सबसे पहले समवसरण में जाकर भगवान की पूजा की, उपदेश सुना,

तदनन्तर चक्ररत्न की पूजा करके पुत्र का जन्मोत्सव मनाया।

अनन्तर भरत महाराज ने दिग्विजय के लिए प्रस्थान कर दिया। चक्ररत्न सेना के आगे-आगे चलता था। सम्पूर्ण षट्खण्ड पृथ्वी को जीत लेने के बाद वापस आते समय कैलाश पर्वत को समीप देखकर सेना को वहाँ ठहराकर स्वयं समवसरण में जाकर राजा भरत ने विधिवत् भगवान की पूजा की और वहाँ से आकर सेना सहित अयोध्या के समीप आ गये।

उस समय भरत महाराज का चक्ररत्न नगर के गोपुर द्वार को उल्लंघन कर आगे नहीं जा सका, तब चक्ररत्न की रक्षा करने वाले कितने ही देवगण चक्र को एक स्थान पर खड़ा हुआ देखकर आश्चर्य को प्राप्त हुए। भरत महाराज भी सोचने लगे कि समस्त दिशाओं को विजय करने में जो चक्र कहीं नहीं रुका, आज मेरे घर के आँगन में क्यों रुक रहा है?

इस प्रकार से बुद्धिमान भरत ने पुरोहित से प्रश्न किया। उसके उत्तर में पुरोहित ने निवेदन किया कि हे देव! आपने यद्यपि बाहर के लोगों को जीत लिया है तथापि आपके घर के लोग आज भी आपके अनुकूल नहीं हैं, वे आपको नमस्कार न करके आपके विरुद्ध खड़े हुए हैं। इस बात को सुनकर भरत ने हृदय में बहुत कुछ विचार किया। अनन्तर मंत्रियों से सलाह करके कुशल दूत को सबसे पहले अपने निन्यानवे भाइयों के पास भेज दिया।

वे भाई दूत से सब समाचार विदित करके विरक्तमना भगवान ऋषभदेव के समवसरण में जाकर दीक्षित हो गये। अनन्तर भरत ने मन में दुःख का अनुभव करते हुए चक्र के अभ्यन्तर प्रवेश न करने से विचार-विमर्शपूर्वक एक दूत को युवा बाहुबली भाई के पास भेजा। दूत के समाचार से बाहुबली ने कहा कि "मैं भरत को भाई के नाते नमस्कार कर सकता हूँ किन्तु राजाधिराज कहकर उन्हें नमस्कार नहीं कर सकता, पूज्य पिता की दी हुई पृथ्वी का मैं पालन कर रहा हूँ, इसमें उनसे मुझे कुछ लेना-देना नहीं है", इत्यादि समाचारों से बाहुबली ने यह बात स्पष्ट कर दी कि यदि वे मुझसे जबरदस्ती नमस्कार कराना चाहते हैं तो युद्ध भूमि में ही अपनी-अपनी शक्ति का परिचय दे देना चाहिए। इस वातावरण से महाराज भरत सोचने लगे, अहो! जिन्हें हमने बालकपन से ही स्वतंत्रतापूर्वक खिला-पिलाकर बड़ा किया है, ऐसे अन्य कुमार यदि मेरे विरुद्ध आचरण करने वाले हों तो खुशी से हों परन्तु बाहुबली तरुण, बुद्धिमान, परिपाटी को जानने वाला, विनयी, चतुर और सज्जन होकर भी मेरे विषय में विकार को कैसे प्राप्त हो गया? इस प्रकार छह प्रकार की सेना सामग्री से सम्पन्न हुए महाराज भरतेश्वर ने अपने छोटे भाई को जीतने की इच्छा से अनेक राजाओं के साथ प्रस्थान किया।

दोनों तरफ की सेना के प्रवाह को देखकर दोनों ओर के मुख्य-मुख्य मंत्री विचार कर इस प्रकार कहने लगे कि क्रूर ग्रहों के समान इन दोनों का युद्ध शान्ति के लिए नहीं है क्योंकि ये दोनों ही चरमशरीरी हैं, इनकी कुछ भी क्षति नहीं होगी, केवल इनके युद्ध के बहाने से दोनों ही पक्ष के लोगों का क्षय होगा, इस प्रकार निश्चय कर तथा भारी मनुष्यों के संहार से डरकर मंत्रियों ने दोनों की आज्ञा लेकर धर्म युद्ध करने की घोषणा कर दी अर्थात् इन दोनों के बीच जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध और बाहुयुद्ध में जो विजय प्राप्त करेगा, वही विजय लक्ष्मी का स्वयं स्वीकार किया हुआ पति होगा।

मनुष्यों से एवं असंख्य देवों से भूमण्डल और आकाशमण्डल के व्याप्त हो जाने पर इन दोनों का दृष्टियुद्ध प्रारंभ हुआ किन्तु बाहुबली ने टिमकार रहित दृष्टि से भरत को जीत लिया, जलयुद्ध में भी बाहुबली ने भरत के मुँह पर अत्यधिक जल डालकर आकुल करके जीत लिया क्योंकि भरत की ऊँचाई पाँच सौ धनुष और बाहुबली की पाँच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण थी। मल्लयुद्ध में भी बाहुबली ने भरत को जीतकर उठाकर अपने कंधे पर बिठा लिया। दोनों पक्ष के राजाओं के बीच ऐसा अपमान देख भरत ने क्रोध से अपने चक्ररत्न का स्मरण किया और उसे बाहुबली पर चला दिया परन्तु उनके अवध्य होने से वह चक्र बाहुबली की प्रदक्षिणा देकर तेजरहित हो उन्हीं के पास ठहर गया। उस समय बड़े-बड़े राजाओं ने चक्रवर्ती को धिक्कार दिया और दु:ख के साथ कहा कि 'बस-बस' यह साहस रहने दो, बंद करो, यह सुनकर चक्रवर्ती और भी अधिक संताप को प्राप्त हुए। आपने खूब पराक्रम दिखाया, ऐसा कहकर बाहुबली ने भरत को उच्चासन पर बैठाया।

इस घटना से बाहुबली उसी समय विरक्त हो गये और संसार, शरीर, वैभव आदि की क्षणभंगुरता का विचार करते हुए बड़े भाई भरत से अपने अपराध की क्षमा कराकर तपोवन को जाने लगे, तब भरत भी अत्यधिक दु:खी होकर बाहुबली को समझाने और रोकने लगे। बाहुबली अपने वैराग्य को अचल करके तपोवन को चले गये और दीक्षा लेकर एक वर्ष का योग धारण कर लिया। एक वर्ष की ध्यानावस्था में सर्पों ने चरणों के आश्रय वामीरन्ध्र बना लिये, पक्षियों ने घोंसले बना लिये और लताएँ ऊपर तक चढ़कर बाहुबली के शरीर को ढँकने लगीं किन्तु योग चक्रवर्ती बाहुबली भगवान योग में लीन थे।

इधर भरत महाराज का चक्रवर्ती पट्ट पर महासाम्राज्य अभिषेक हुआ। दीक्षा लेते समय बाहुबली ने एक वर्ष का उपवास किया था, जिस दिन उनका वह उपवास पूर्ण हुआ, उसी दिन भरत ने आकर उनकी पूजा की और पूजा करते ही उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। "वह[१] भरतेश्वर मुझे से संक्लेश को प्राप्त हुआ है अर्थात् मेरे निमित्त से उसे दु:ख पहुँचा है, यह विचार बाहुबली के हृदय में विद्यमान रहता था, इसलिए भरत के पूजा करते ही बाहुबली का हृदय विकल्प रहित हो गया और उसी समय उन्हें केवलज्ञान प्रकट हो गया। भरतेश्वर ने बहुत ही विशेषता से बाहुबली की पूजा की। केवलज्ञान प्रकट होने के पहले जो भरत ने पूजा की थी, वह अपना अपराध नष्ट करने के लिए ही थी और अनन्तर की पूजा केवलज्ञान के महोत्सव की थी। उस समय देव कारीगरों ने बाहुबली भगवान की गंधकुटी बनाई थी। समस्त पदार्थों को जानने वाले बाहुबली अपने वचन रूपी अमृत के द्वारा समस्त संसार को संतुष्ट करते हुए पूज्य पिता भगवान ऋषभदेव के सामीप्य से पवित्र हुए कैलाशपर्वत पर जा पहुँचे।

ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति— किसी समय भरत सोचते हैं कि मैं जिनेन्द्र देव का महामह यज्ञ कर धन वितरण करता हुआ समस्त संसार को संतुष्ट करूँ, सदा नि:स्पृह रहने वाले मुनि तो हमसे धन लेते नहीं परन्तु ऐसा गृहस्थ भी कौन है जो धन-धान्य आदि सम्पत्ति के द्वारा पूजा करने योग्य है? जो

---

१. संक्लिष्टो भरताधीश: सोऽस्मत्त इति यत्किल। हृद्यस्य हार्दं तेनासीत् तत्पूजापेक्षि केवलम् ।।१८६।।
आदिपुराण पु. ३६, पृ. २१७।

अणुव्रतों में मुख्य है, श्रावकों में श्रेष्ठ है उसे दान देना उचित है। ऐसा सोचकर भरत ने योग्य व्यक्तियों की परीक्षा करने की इच्छा से समस्त राजाओं को बुलाया और घर के आँगन में हरे-भरे अंकुर, पुष्प और फल खूब डलवा दिये। उन लोगों में जो अव्रती थे वे बिना कुछ सोच विचार के राजमंदिर में चले आये। राजा भरत ने उन्हें एक ओर हटाकर बाकी बचे हुए लोगों को बुलाया। पाप से डरने वाले कितने लोग तो वापस चले गये और कितने लोग वापस लौटने लगे, परन्तु चक्रवर्ती के विशेष आग्रह से जब कुछ लोग दूसरे प्रासुक मार्ग से ले जाये गये तब प्रश्न करने पर उन्होंने कहा—महाराज! आज पर्व के दिन कोंपल, हरे पत्ते तथा पुष्प आदि का विघात नहीं किया जाता, हे देव! हरे अंकुर आदि में अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं ऐसे सर्वज्ञ देव के वचन हैं। इस उत्तर से भरत महाराज बहुत प्रभावित हुए और व्रतों में दृढ़ रहने वाले उन सबकी प्रशंसा कर उन्हें दान, मान आदि से सम्मानित कर पद्म नामक निधि से प्राप्त हुए एक से लेकर ग्यारह तक की संख्या वाले ब्रह्मसूत्र नाम के व्रतसूत्र से उन सबके चिन्ह किये। भरत ने इन्हें उपासकाध्ययनांग से इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप का उपदेश दिया। त्रेपन गर्भान्वय क्रियाएँ, अड़तालीस दीक्षान्वय क्रियाएं और सात कर्त्रन्वय क्रियाएं भी बतलाईं। व्रतों के संस्कार से ब्राह्मण, शस्त्र धारण करने से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धन कमाने से वैश्य और नीच वृत्ति का आश्रय लेने से शूद्र कहलाते हैं।

भरत के सोलह स्वप्न—कुछ काल बीत जाने के बाद एक दिन चक्रवर्ती भरत ने अद्भुत फल दिखाने वाले कुछ स्वप्न देखे। उनके देखने से खेद खिन्न हो भरत ने यह समझ लिया कि इनका फल कटु है और ये पंचम काल में फल देने वाले होंगे। इस प्रकार विचार कर भरत ने भगवान के समवसरण में जाकर पूजा-भक्ति आदि करके भगवान से प्रार्थना की—हे भगवन्! मैंने सिंह, सिंह के बालक आदि सोलह स्वप्न देखे हैं, उनका फल क्या है? और मैंने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की है, वह योग्य है या अयोग्य? कृपया हमारे संशय को दूर कीजिए। यद्यपि अवधिज्ञान से भरत ने इन स्वप्नों का फल जान लिया था, फिर भी सभी को विशेष जानकारी होने के लिए भगवान से सुनना चाहते थे। भरत का प्रश्न समाप्त होने पर जगद्गुरु भगवान अपनी दिव्यध्वनि से सभा को संतुष्ट करने लगे। हे भरतराज! सुनो! (१) तुमने जो 'पृथ्वी पर अकेले विहार कर पर्वत की चोटी पर चढ़ते हुई तेईस सिंह देखे हैं' उसका फल यह है कि महावीर स्वामी को छोड़कर शेष तीर्थंकरों के समय दुष्ट नयों की उत्पत्ति नहीं होगी। (२) 'अकेले सिंह के पीछे हिरणों के बच्चे' देखने से महावीर के तीर्थ में परिग्रही कुलिंगी बहुत हो जावेंगे। (३) 'बड़े हाथी के बोझ को घोड़े पर लदा' देखने से पंचम काल के साधु तपश्चरण के समस्त गुणों को धारण करने में समर्थ नहीं होंगे। (४) 'सूखे पत्ते खाने वाले बकरों को देखने' से आगामी काल में मनुष्य दुराचारी हो जावेंगे। (५) 'गजेन्द्र के कंधे पर चढ़े हुए वानरों' को देखने से आगे चलकर क्षत्रियवंश नष्ट हो जावेंगे, नीच कुल वाले पृथ्वी का पालन करेंगे। (६) 'कौवों के द्वारा उलूक को त्रास दिया जाना' देखने से मनुष्य धर्म की इच्छा से जैन मुनियों को छोड़कर अन्य साधुओं के पास जावेंगे। (७) 'नाचते हुए बहुत से भूतों के देखने से' लोग व्यंतरों को देव समझकर उनकी उपासना करने लगेंगे। (८) 'मध्य भाग में शुष्क और चारों तरफ से पानी से भरे हुए तालाब' के देखने से धर्म मध्य भागों से हटकर यत्र-

तत्र रह जावेगा। (९) 'धूल से मलिन हुए रत्नों की राशि के देखने से' पंचमकाल में ऋद्धिधारी उत्तम मुनि नहीं होंगे। (१०) 'कुत्ते को नैवेद्य खाते हुए' देखने से व्रत रहित ब्राह्मण गुणी पात्रों के समान आदर पावेंगे। (११) 'ऊँचे स्वर से शब्द करते हुए तरुण बैल का विहार' देखने से पंचमकाल में अधिकतर लोग तरुण अवस्था में मुनिपद को धारण करेंगे। (१२) 'परिमण्डल से घिर हुए चन्द्रमा' के देखने से पंचमकाल के मुनियों में अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान नहीं होगा। (१३) 'परस्पर मिलकर जाते हुए दो बैलों के' देखने से पंचमकाल में मुनिजन साथ-साथ रहेंगे, अकेले विहार करने वाले नहीं होंगे। (१४) 'मेघों के आवरण में रुके हुए सूर्य' के देखने से प्राय: पंचमकाल में केवलज्ञानरूपी सूर्य का उदय नहीं होता है। (१५) 'सूखे वृक्ष के देखने से' स्त्री-पुरुषों का चारित्र भ्रष्ट हो जायेगा। (१६) 'जीर्ण पत्तों के देखने से' महा औषधियों का रस नष्ट हो जावेगा।

हे भरत! इन स्वप्नों को तुम बहुत समय बाद का फल देने वाला समझो तथा जो तुमने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की है, सो आज तो ठीक है किन्तु ये भी पंचमकाल में जाति के मद से युक्त होकर प्राय: धर्मद्रोही हो जावेंगे, फिर भी अब जिनकी सृष्टि की है, उन्हें नष्ट करना ठीक नहीं है।

भगवान के उपर्युक्त वचन को सुनकर भरत महाराज अपना संशय दूर करके ऋषभदेव को बार-बार प्रणाम करके वहाँ से लौटे। खोटे स्वप्नों से होने वाले अनिष्ट की शांति के लिए जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक और उत्तम पात्र को दान देना आदि पुण्य कार्य किये।

बहुत काल तक साम्राज्य सुख का अनुभव करते हुए महाराज भरत ने किसी समय दर्पण में मुख देखते हुए एक श्वेत केश देखा और तत्क्षण भोगों से विरक्त हो गये। अपने पुत्र अर्ककीर्ति को राज्यपद देकर जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली, उन्हें उसी समय मन:पर्ययज्ञान प्रकट हो गया और उसके बाद ही केवलज्ञान प्रकट हो गया। ये भरतकेवली अब देवाधिदेव भगवान हो गये और इन्द्रों द्वारा वन्दनीय गंधकुटी में विराजमान हो गये। बहुत काल तक भव्य जीवों को धर्मोपदेश देते हुए अन्त में शेष कर्मों का नाश करके मुक्तिधाम को प्राप्त हो गये।

(परिशिष्ट में चार्ट नं. ३ में चक्रवर्तियों का वर्णन देखिए)

बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण

विजय, अचल, धर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दी, नन्दिमित्र, राम और पद्म ये नौ बलभद्र हुए हैं।

त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुरुषपुंडरीक, पुरुषदत्त, नारायण और कृष्ण ये नौ नारायण हुए हैं।

अश्वग्रीव, तारक, मेरक, मधुकैटभ, निशुम्भ, बलि, प्रहरण, रावण और जरासंध ये नौ प्रतिनारायण हुए हैं।

त्रिपृष्ठ आदि पाँच नारायणों में से प्रत्येक क्रम से श्रेयांसनाथ आदिक पाँच तीर्थंकरों की वंदना करते थे। अर और मल्लिनाथ तीर्थंकर के अन्तराल में दत्तनामक नारायण हुए हैं। सुव्रत और नमि स्वामी के मध्य में

लक्ष्मण और भगवान नेमिनाथ के समय में कृष्ण नारायण हुए हैं। नारायण के बड़े भाई ही बलदेव और नारायण के प्रतिशत्रु ही प्रतिनारायण होते हैं।

नारायण के सात महारत्न—शक्ति, धनुष, गदा, चक्र, कृपाण, शंख और दण्ड ये सात महारत्न अर्द्धचक्रियों के पास शोभायमान रहते हैं।

बलभद्र के चार रत्न—मूसल, हल, रथ और रत्नावली ये चार रत्न प्रत्येक बलदेव के पास शोभित रहते हैं।

नौ प्रतिनारायण युद्ध में नव नारायण के हाथों से उन्हीं के चक्रों से मृत्यु को प्राप्त होकर नरक भूमि में जाते हैं। सब नारायण पूर्व भव में तपश्चरण करके निदान से सहित होकर मरकर देव होते हैं तथा वहाँ से आकर नारायण होकर भोगों की आसक्ति में ही मरकर अर्थात् राज्य में ही मरकर नरक जाते हैं। आठ बलदेव मोक्ष और अंतिम बलदेव ब्रह्म स्वर्ग को प्राप्त हुए हैं। यह अंतिम बलदेव स्वर्ग से च्युत होकर कृष्ण के तीर्थ में सिद्ध पद को प्राप्त होंगे।[१]

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र

अयोध्या के राजा दशरथ के चार रानियाँ थीं, उनके नाम थे—अपराजिता, सुमित्रा, केकयी और सुप्रभा। अपराजिता (कौशल्या) ने पद्म (रामचन्द्र) नाम के पुत्र को जन्म दिया। सुमित्रा से लक्ष्मण, केकयी से भरत और सुप्रभा से शत्रुघ्न ऐसे दशरथ के चार पुत्र हुए। राजा दशरथ ने इन चारों को विद्याध्ययन आदि में योग्य कुशल कर दिया।

लंका नगरी—किसी समय अजितनाथ के समवसरण में राक्षसों के इन्द्र भीम और सुभीम ने प्रसन्न होकर पूर्व जन्म के स्नेहवश विद्याधर मेघवाहन को कहा कि हे वत्स! इस लवण समुद्र में अतिशय सुन्दर हजारों महाद्वीप हैं। उन द्वीपों में से एक 'राक्षस द्वीप' है, जो सात सौ योजन लम्बा तथा इतना ही चौड़ा है। इसके मध्य में नौ योजन ऊँचा, पचास योजन चौड़ा, 'त्रिकूटाचल' नाम का पर्वत है। उस पर्वत के नीचे तीस योजन विस्तार वाली लंका नगरी है। हे विद्याधर! तुम अपने बंधुवर्ग के साथ उस नगरी में जाओ और सुख से रहो। ऐसा कहकर भीम इन्द्र ने उसे एक देवाधिष्ठित हार भी दिया था। इन्हीं की परम्परा में राजा रत्नश्रवा की रानी केकसी से दैदीप्यमान प्रतापी पुत्र ने जन्म लिया। बहुत पहले राजा मेघवाहन को राक्षसों के इन्द्र भीम ने जो हार दिया था, हजार नागकुमार जिसकी रक्षा करते थे, जिसकी किरणें सब ओर फैल रही थीं और राक्षसों के भय से इतने दिनों तक जिसे किसी ने नहीं पहना था, उस बालक ने उसे मुट्ठी से खींच लिया। माता ने बड़े प्रेम से बालक को वह हार पहना दिया, तब उसके असली मुख के सिवाय उस हार में नौ मुख और दीखने लगे, जिससे सबने बालक का नाम 'दशानन' रख दिया। उसके बाद रानी ने भानुकर्ण, चन्द्रनखा और विभीषण को जन्म दिया था। राक्षसों द्वारा दी गई लंका नगरी में रहने से ये लोग राक्षस वंशी कहलाते थे।

सीता का विवाह—मिथिला नगरी के राजा जनक की रानी विदेहा की सुपुत्री सीता थी। किसी

---

१. परिशिष्ट चार्ट नं. ४, ५, ६ में देखिये।

समय राजा जनक ने पुत्री के ब्याह के लिए स्वयंवर मंडप बनवाया और यह घोषणा कर दी कि जो वज्रावर्त धनुष को चढ़ायेगा, वही सीता का पति होगा। श्री रामचन्द्र ने उस वज्रावर्त धनुष को चढ़ाया और लक्ष्मण ने समुद्रावर्त धनुष को चढ़ाया। रामचन्द्र के गले में सीता ने वर-माला डाली एवं चन्द्रवर्धन विद्याधर ने अपनी अठारह कन्याओं की शादी लक्ष्मण से कर दी। उस समय भरत को विरक्त देख केकयी की प्रेरणा से पुनः स्वयंवर विधि से राजा कनक ने अपनी लोकसुन्दरी का ब्याह भरत के साथ कर दिया।

रामचन्द्र का वनवास— किसी समय राजा दशरथ वैराग्य को प्राप्त हो गये और रामचन्द्र को राज्यभार देकर दीक्षा लेने का निश्चय किया। उसी समय भरत भी विरक्तचित्त होकर दीक्षा के लिए उद्यत होने लगे। इसी बीच भरत की माता केकयी घबराकर तथा मन में कुछ सोचकर पति के पास पहुँची और समयोचित वार्तालाप के अनन्तर उसने पूर्व में ब्याह के समय सारथी का कुशल कार्य करने के उपलक्ष्य में राजा द्वारा प्रदत्त 'वर' जो कि अभी तक धरोहर रूप में था, उसे माँगा और पति की आज्ञा के अनुसार उसने कहा कि 'मेरे पुत्र के लिए राज्य प्रदान कीजिए'। यह वर देकर राजा दशरथ ने रामचन्द्र को बुलाकर रामचन्द्र से शोकपूर्ण शब्दों में यह सब हाल कह दिया। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र पिता को अनेक प्रकार से समझाकर शोकमुक्त करके भ्राता लक्ष्मण और सती सीता के साथ वन में चले गये और दशरथ ने भी मुनि दीक्षा ले ली। उस समय भरत ने बड़ी जबरदस्ती से राज्यभार संभाला।

रावण की मृत्यु— वनवास के प्रवास में किसी समय धोखे से रावण ने सीता का अपहरण कर लिया। तब हनुमान और सुग्रीव आदि विद्याधरों की सहायता से रामचन्द्र ने रावण से युद्ध प्रारंभ किया। रावण प्रतिनारायण था। उसके चक्ररत्न से ही लक्ष्मण के द्वारा उसकी युद्धभूमि में मृत्यु हो गई और लक्ष्मण उसी चक्ररत्न से 'नारायण' पदधारी हो गये।

सीता का निष्कासन— बलभद्र पदधारी रामचन्द्र और लक्ष्मण नारायण बहुत काल तक अयोध्या में सुखपूर्वक राज्य करते हुए समय व्यतीत कर रहे थे कि एक समय अकारण ही सीता के अपवाद की चर्चा रामचन्द्र तक आई और राम ने उस निर्दोष गर्भवती सीता को धोखे से वन में भेज दिया। जब वन में विह्वलचित्त सीता विलाप कर रही थी, तब पुंडरीकपुर का स्वामी राजा वज्रजंघ वहाँ हाथी पकड़ने के लिए सेना सहित आया था। वह बड़े ही धर्मप्रेम से सीता को अपने साथ ले गया। वहीं सीता को युगल पुत्र उत्पन्न हुए जिनका अनंगलवण और मदनांकुश नाम रखा। बाल लीला से माता को प्रसन्न करते हुए ये बालक किशोर अवस्था को प्राप्त हुए। उनके पुण्य से प्रेरित 'सिद्धार्थ' नामक क्षुल्लक उन्हें विद्याध्ययन कराने लगे। वे क्षुल्लक जी प्रतिदिन तीनों संध्याओं में मेरुपर्वत के चैत्यालयों की वंदना करके क्षणभर में वापस आ जाते थे। थोड़े ही समय में क्षुल्लक जी ने उस बालकों को सम्पूर्ण शस्त्र और शास्त्र विद्याएँ ग्रहण करा दीं।

रामचन्द्र का पुत्रों के साथ युद्ध— किसी समय घूमते-घूमते नारद क्षुल्लक वेष में वहाँ आ गये और नमस्कार करते हुए दोनों कुमारों को आशीर्वाद दिया कि 'राजा रामचन्द्र और लक्ष्मण जैसी विभूति

शीघ्र ही आप दोनों को प्राप्त हों'। इसके उत्तर में उन्होंने कहा— हे भगवन्! वे राम-लक्ष्मण कौन हैं? नारद ने सीता के वन में छोड़ने तक का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। तब इन बालकों ने पूछा— यहाँ से अयोध्या कितनी दूर है? नारद ने कहा— साठ योजन दूर है। दोनों कुमार अयोध्या पर चढ़ाई करने के लिए उद्यत हो गये। माता ने बहुत कुछ समझाया कि हे पुत्रों! तुम विनय से जाकर पिता और चाचा को नमस्कार करो, यही न्यायसंगत है किन्तु वे बोले कि "इस समय वे रामचन्द्र हमारे शत्रु के स्थान को प्राप्त हैं।" इत्यादि कहकर वे जैसे-तैसे माता की आज्ञा लेकर और सिद्ध भगवान को नमस्कार कर युद्ध करने के लिए चल पड़े। वहाँ संग्राम भूमि में महा भयंकर युद्ध होने लगा।

अनन्तर कोपवश लक्ष्मण ने चक्ररत्न का स्मरण करके मदनांकुश को मारने के लिए चला दिया किन्तु वह चक्ररत्न वापस लक्ष्मण के पास आ गया। इसी बीच में सिद्धार्थ क्षुल्लक ने रामचन्द्र और लक्ष्मण को सच्ची घटना सुना दी। तब उन लोगों ने शस्त्र डाल दिये और पिछले शोक एवं वर्तमान के हर्ष से विह्वल हो पुत्रों से मिले। पुत्रों ने भी विनय से सिर झुकाकर पिता को नमस्कार किया।

सीता की अग्नि परीक्षा— अनंतर रामचन्द्र की आज्ञा से भामंडल, विभीषण, हनुमान, सुग्रीव आदि बड़े-बड़े राजा पुंडरीकपुर से सीता को ले आये। सभा में रामचन्द्र की मुखाकृति को देख सीता किंकर्त्तव्यविमूढ़ सी वहाँ खड़ी रहीं। तब राम ने कहा कि सीते! सामने क्यों खड़ी है? दूर हट, मैं तुझे देखने के लिए समर्थ नहीं हूँ। तब सीता ने कहा कि "आपके समान दूसरा कोई निष्ठुर नहीं है, दोहला के बहाने मुझ गर्भिणी को, वन में भेजना क्या उचित था? यदि मेरे प्रति आपको थोड़ी भी कृपा होती तो आर्यिकाओं की वसति में मुझे छोड़ देते। अस्तु! हे देव! आप मुझ पर प्रसन्न हों और जो भी आज्ञा दें मैं पालने को तैयार हूँ। तब राम ने सोचकर अग्नि परीक्षा का निर्णय दिया। तब सीता ने हर्षयुक्त हो 'एवमस्तु' ऐसा कहकर स्वीकार किया। उस समय हनुमान, नारद आदि घबरा गये।

महाविकराल अग्निकुंड धधकने लगा। सीता पंचपरमेष्ठी की स्तुति-पूजा करके मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर को नमस्कार करके बोलीं 'मैंने स्वप्न में भी राम के सिवा किसी अन्य मनुष्य को मन, वचन, काय से चाहा हो तो हे अग्नि देवते! तू मुझे भस्मासात् कर दे अन्यथा नहीं जलावे' इतना कहकर वह सीता उस अग्निकुण्ड में कूद पड़ी। उसी समय उसके शील के प्रभाव से वह अग्नि शीतल जल हो गयी और कल-कल ध्वनि करती हुई बावड़ी लहराने लगी। वह जल बाहर चारों तरफ फैल गया और लोक समुदाय घबराने लगा किन्तु वह जल रामचन्द्र के चरण स्पर्श करके सौम्य दशा को प्राप्त हो गया, तब लोग सुखी हुए। वापी के मध्य कमलासन पर सीता विराजमान थीं, आकाश से देव पुष्पवृष्टि कर रहे थे। देवदुंदुभि बाजे बज रहे थे। लवण और अंकुश आजू-बाजू खड़े थे।

ऐसी सीता को देखकर रामचन्द्र उसके पास गये और बोले— हे देवि! प्रसन्न होवो और मेरे अपराध क्षमा करो। इत्यादि वचनों को सुनकर सीता ने कहा— हे राजन्! मैं किसी पर कुपित नहीं हूँ आप विवाद को छोड़ो। इसमें आपका या अन्य किसी का दोष नहीं है, मेरे पूर्वकृत पाप कर्मों का ही यह विपाक था। अब मैं स्त्री पर्याय को प्राप्त न करूँ, ऐसा कार्य करना चाहती हूँ, ऐसा कहते हुए सीता ने

नि:स्पृह को अपने केश उखाड़कर राम को दे दिये। यह देख रामचंद्र मूर्च्छित हो गये। इधर जब तक चन्दन आदि द्वारा राम को सचेत किया गया, तब तक सीता पृथ्वीमती आर्यिका से दीक्षित हो गई। जब रामचन्द्र सचेत हुए, तब सीता को न देखकर शोक और क्रोध में बहुत ही दु:खी हुए और सीता को वापस लाने के लिए देवों से व्याप्त उद्यान में पहुँचे। वहाँ मुनियों में श्रेष्ठ सर्वभूषण केवली को देखा और शांत होकर अंजलि जोड़कर नमस्कार करके मनुष्यों के कोठे में बैठ गये। वहीं पर आर्यिकाओं के कोठे में वस्त्रमात्र परिग्रह को धारण करने वाली आर्यिका सीता बैठी थीं। केवली भगवान का विशेष उपदेश सुनकर राम ने संतोष प्राप्त किया।

श्रीरामचन्द्र का शोक— किसी समय सौधर्म इन्द्र देवों की सभा में विराजमान था। अनेकों धर्म चर्चाओं के मध्य राम और लक्ष्मण के परस्पर के स्नेह की चर्चा हुई। इस चर्चा को सुनकर कुतूहलवश परीक्षा करने के लिए रत्नचूल और मृगचूल नामक दो देव अयोध्या आ गये। विक्रिया से अन्त:पुर में रुदन का शब्द करा दिया तथा कोई पुरुष जाकर लक्ष्मण से बोला—हे देव! राम की मृत्यु हो गई है' बस इस शब्द को सुनते ही "हाय यह क्या हुआ? ऐसा कहते हुए लक्ष्मण के प्राण निकल गये। यह दृश्य देख दोनों देव विषाद और आश्चर्य से भरे हुए स्वर्ग को चले गये और सदैव पश्चात्ताप की अग्नि में झुलसते रहे। उस समय लक्ष्मण की सत्रह हजार स्त्रियाँ शोक से संतप्त हो गईं।

जब रामचन्द्र वहाँ आये और सब ओर से मृतक के चिन्ह देख रहे हैं, फिर भी मोह से मुग्ध हुए उसे जीवित समझ रहे थे। छह मास तक लक्ष्मण के मृतक कलेवर को लिए पागलवत् चेष्टा करते रहे थे। इसी मध्य सीता के दोनों पुत्रों ने 'पुन: गर्भवास में न जाना पड़े, इससे भयभीत होकर पिता के चरणों को नमस्कार करके वन में जाकर दीक्षा ले ली थी। अनेक इष्ट मित्रों और राजाओं के समझाने पर भी रामचन्द्र प्रबोध को नहीं प्राप्त हुए थे। उस समय 'कृतांतवक्र सारथी और जटायु के जीव जो कि स्वर्ग में देव हुए थे' वे दोनों आकर यद्वातद्वा क्रिया करने लगे। एक देव सूखे वृक्ष को सींचने लगा, दूसरा पत्थर पर बीज बोने लगा, इन सब विपरीत क्रियाओं को देख राम उनको समझाने लगे परन्तु स्वयं नहीं समझे तत्पश्चात् देव एक मृतक कलेवर को कंधे पर लेकर सामने खड़ा हो गया, तब उसे भी समझाने लगे, तब उसने कहा—देव! आप भी तो मृतक को लिए घूम रहे हैं, सदृश में ही मैत्री होती है। हम सब मूर्खों के आप राजा हैं। इत्यादि प्रकार के देव के वचनों से राम का मोह शिथिल हो गया, वे स्वयं अपनी इस चेष्टा पर लज्जित हो उठे और शोक का त्याग कर लक्ष्मण का दाह संस्कार किया।

रामचन्द्र की दीक्षा और निर्वाणगमन— अनन्तर अनंगलवण के पुत्र अनन्तलवण को राज्य देकर रामचन्द्र ने आकाशगामी सुव्रत मुनि के समीप निर्ग्रन्थ दीक्षाधारण कर ली। उस समय शत्रुघ्न, विभीषण, सुग्रीव आदि कुछ अधिक सोलह हजार राजा साधु हुए और सत्ताईस हजार प्रमुख-प्रमुख स्त्रियाँ श्रीमती नामक साध्वी के पास आर्यिका हुईं। रामचन्द्र उत्तम चर्या से युक्त गुरु की आज्ञा लेकर एकाकी विहार करने लगे।

पाँच दिन का उपवास कर धीर वीर योगी रामचन्द्र पारणा के लिए नन्दस्थली नगरी में आये।

उनकी दीप्ति और सुन्दरता को देखकर नगर में बड़ा भारी कोलाहल हो गया। पड़गाहन के समय हे स्वामिन्! यहाँ आइये! यहाँ ठहरिये! इत्यादि अनेकों शब्दों से आकाश व्याप्त हो गया, हाथियों ने भी खम्भे तोड़ डाले, घोड़े हिनहिनाने लगे और बंधन तोड़ डाले, उनके रक्षक दौड़ पड़े। प्रतिनन्दी ने भी क्षुभित हो वीरों को आज्ञा दी कि जाओ! इन मुनिराज को मेरे पास ले आओ। इस प्रकार भटों के कहने से महामुनि रामचन्द्र अन्तराय जानकर वापस चले गये, तब वहाँ और अधिक क्षोभ मच गया।

अनन्तर रामचन्द्र ने पाँच दिन का दूसरा उपवास ग्रहण कर यह प्रतिज्ञा ले ली कि मुझे वन में आहार मिलेगा तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं। कारणवश गये हुए इन्हीं राजा प्रतिनन्दी ने रानी सहित वन में रामचन्द्र को आहारदान देकर पंचाश्चार्य प्राप्त किये। रामचन्द्र को अक्षीणमहानस ऋद्धि थी अत: उस बर्तन का अन्न उस दिन अक्षीण हो गया। घोराघोर तपश्चरण करते हुए रामचन्द्र को माघ शुक्ल द्वादशी के दिन केवलज्ञान प्रगट हो गया। तब देवों ने आकर गंधकुटी की रचना की। रामचन्द्र की आयु सत्तर हजार वर्ष की और शरीर की ऊँचाई सोलह धनुष प्रमाण थी। ये रामचन्द्र सर्वकर्म रहित होकर तुंगी से मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। आज भी राम, लक्ष्मण और सीता का आदर्शजीवन सर्वत्र गाया जाता है।

इस प्रथमानुयोग में 'सृष्टि का क्रम' बताकर भगवान ऋषभदेव का जीवनवृत्त कहा गया है पुन: कुछ प्रधान शलाका पुरुषों का इतिहास बताया गया है। विशेष जिज्ञासुओं को आदिपुराण, उत्तरपुराण, हरिवंश पुराण आदि ग्रंथों का स्वाध्याय करना चाहिए।

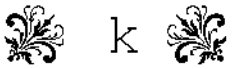

द्वितीय खण्ड

करणानुयोग

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च।।४४।।

अर्थ— उक्त प्रकार का सम्यग्ज्ञान ही लोक-अलोक के विभाग को, युगों के परिवर्तन द्वारा चारों गतियों को दर्पण सदृश ऐसे करणानुयोग को जानता है अर्थात् जिसमें लोक-अलोक, युग परिवर्तन और चतुर्गति परिवर्तन का वर्णन है, इस अनुयोग से सम्पूर्ण विश्व का स्वरूप जान लिया जाता है।

तीन लोक

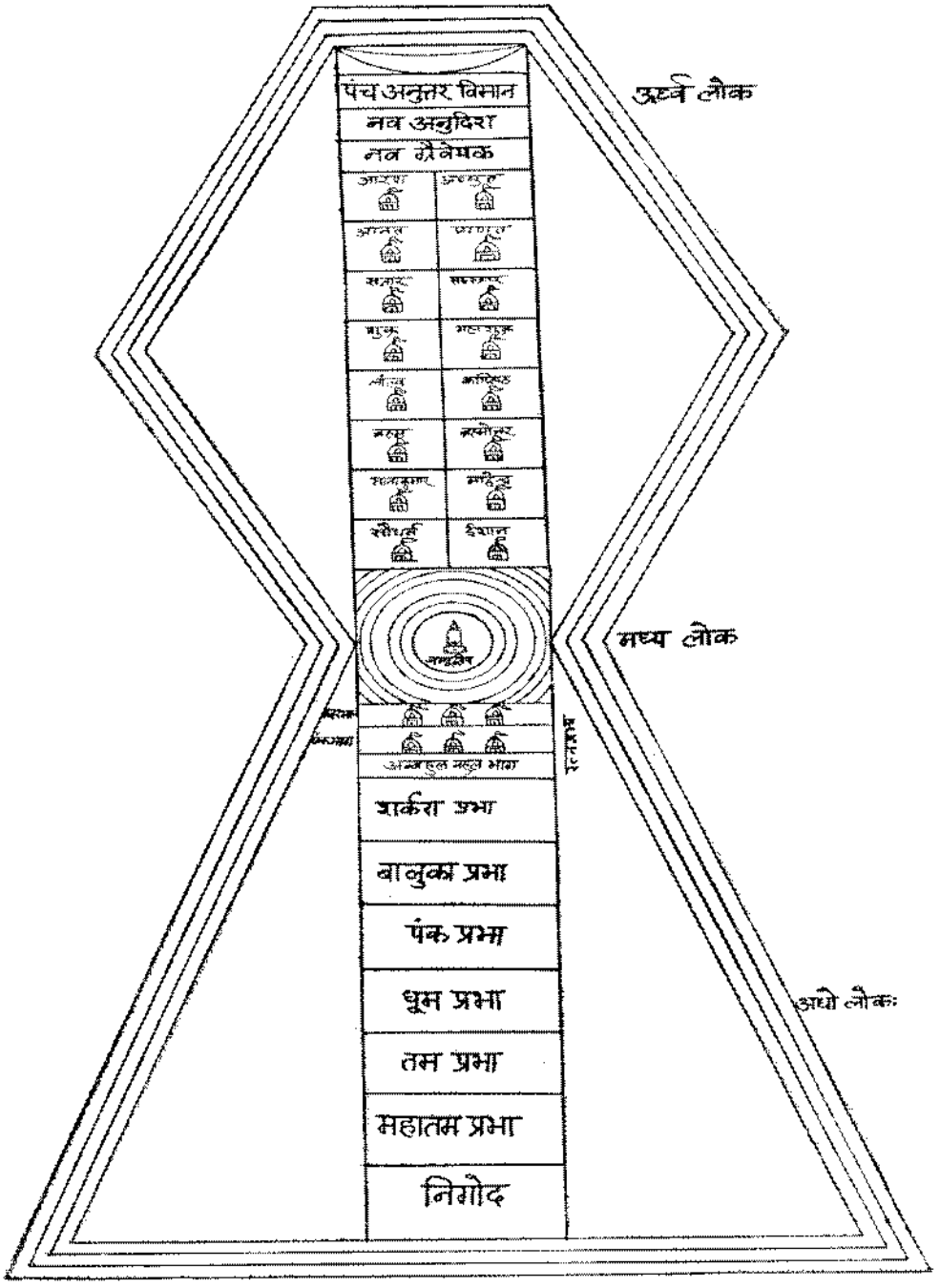
पंच अनुत्तर विमान
नव अनुदिश
नव ग्रैवेयक
ऊर्ध्व लोक
मध्य लोक
अधो लोक
खरभाग
पंकभाग
अब्बहुल बहुल भाग
शर्करा प्रभा
बालुका प्रभा
पंक प्रभा
धूम प्रभा
तम प्रभा
महातम प्रभा
निगोद

सामान्य लोक

सर्वज्ञ भगवान से अवलोकित अनन्तानन्त अलोकाकाश के बहुमध्य भाग में ३४३ राजु प्रमाण पुरुषाकार लोकाकाश है। यह लोकाकाश जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल इन पाँचों द्रव्यों से व्याप्त है। अनादि अनन्त है। इस लोक के तीन भेद हैं—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। सम्पूर्ण लोक की ऊँचाई १४ राजुप्रमाण है एवं मोटाई सर्वत्र ७ राजु है।

लोक की ऊँचाई—असंख्यातों योजनों का १ राजु होता है। १४ राजु ऊँचे लोक में, ७ राजु में अधोलोक एवं ७ राजु में स्वर्गादि हैं। इन दोनों के मध्य में ९९ हजार ४० योजन ऊँचा मध्यलोक है जो कि ऊर्ध्वलोक का कुछ भाग है, वह राजु में नहीं के बराबर है।

लोक की चौड़ाई—लोक के तल भाग में चौड़ाई ७ राजु है। घटते-घटते मध्यलोक में १ राजु रह गई है पुनः मध्यलोक से ऊपर बढ़ते-बढ़ते पाँचवें स्वर्ग तक चौड़ाई ५ राजु होकर आगे घटते-घटते लोक के अग्रभाग तक चौड़ाई १ राजु रह गई है।

त्रसनाली—तीनों लोकों के बीचों-बीच में १ राजु चौड़ी एवं १ राजु मोटी तथा कुछ कम १३ राजु ऊँची त्रसनाली है। इस त्रसनाली में ही त्रसजीव पाये जाते हैं।

लोक का घनफल—यह लोक तल में ७ राजु, मध्य में १, पाँचवें स्वर्ग में ५ और अन्त में १ राजु है। इन चारों स्थानों की चौड़ाई को जोड़ देने से ७+१+५+१=१४ राजु हुए। इन १४ में ४ का भाग देने से १४÷४= ३(१/२) राजु हुए। इसमें लोक के दक्षिण-उत्तर की मोटाई का गुणा कर देने से ३(१/२)×७=२४(१/२) हुए। फिर इस चौड़ाई और मोटाई के गुणनफल में १४ राजु का गुणा कर देने से २४(१/२)×१४=३४३ राजु हो जाते हैं। इस लोकाकाश का घनफल ३४३ राजु प्रमाण है।

वातवलय—इस लोकाकाश को चारों तरफ से वेष्ठित करके तीन वातवलय हैं। ये तीनों वातवलय, वायुकायिक जीवों के शरीरस्वरूप स्थिर स्वभाव वाले वायुमण्डल हैं। सर्वप्रथम लोक को चारों तरफ से वेष्टित करके घनोदधिवातवलय है, इसको वेष्टित करके घनवात है एवं इसको वेष्ठित करके तनुवातवलय स्थित है। तनुवात के चारों तरफ अनन्त अलोकाकाश है।

वातवलय के वर्ण—घनोदधिवात गोमूत्रवर्ण वाला है, घनवात मूँग के समान वर्ण वाला एवं तनुवात अनेक वर्ण वाला है।

वातवलयों की मोटाई—तल भाग से १ राजु ऊँचाई तक तीनों की मोटाई बीस-बीस हजार योजन है। सातवें नरक के पास ७, ५ और ४ योजन है। मध्यलोक के पार्श्व भाग में ५, ४, ३ योजन है। आगे बढ़ते-बढ़ते ब्रह्मस्वर्ग के पार्श्व भाग में ७, ५, ४ योजन, ऊर्ध्वलोक के अंत में पार्श्वभाग में ५, ४, ३ योजन है। लोक शिखर के ऊपर क्रमशः २ कोश, १ कोश और कुछ कम १ कोश प्रमाण है।

अधोलोक

अधोलोक में सबसे पहली मध्यलोक से लगी हुई 'रत्नप्रभा' पृथ्वी है। इसके कुछ कम एक राजु नीचे 'शर्कराप्रभा' है। इसी प्रकार से एक-एक के नीचे बालुका प्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तम:प्रभा और महातम: प्रभा भूमियाँ हैं। ये सात पृथ्वियाँ छह राजु में हैं और अंतिम सातवें राजु में निगोद स्थान हैं।

नरकों के दूसरे नाम— घम्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी ये इन पृथ्वियों के अनादिनिधन नाम हैं।

रत्नप्रभा पृथ्वी के ३ भाग हैं— खरभाग, पंकभाग और अब्बहुलभाग। खरभाग और पंकभाग में भवनवासी तथा व्यंतरवासी देवों के निवास हैं और अब्बहुलभाग में प्रथम नरक के बिल हैं, जिनमें नारकियों के आवास हैं।

नरकों के बिलों की संख्या— सातों नरकों के बिलों की संख्या चौरासी लाख प्रमाण है। प्रथम पृथ्वी के ३० लाख, द्वितीय के २५ लाख, तृतीय के १५ लाख, चतुर्थ के १० लाख, पाँचवीं के ३ लाख, छठी के ५ कम १ लाख एवं सातवीं पृथ्वी के ५ बिल हैं।

उष्ण और शीतबिल— पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी पृथ्वी के सभी बिल एवं पाँचवीं पृथ्वी के एक चौथाई भाग प्रमाण बिल अत्यन्त उष्ण होने से नारकियों को तीव्र गर्मी की बाधा पहुँचाने वाले हैं। पाँचवीं पृथ्वी के अवशिष्ट एक चौथाई भाग प्रमाण बिल और छठी, सातवीं पृथ्वी के सभी बिल अत्यन्त शीत होने से नारकी जीवों को भयंकर शीत की वेदना देने वाले हैं। यदि उष्ण बिल में मेरु के समान लोहे का गोला डाल देवें तो वह गलकर पानी हो जावे, ऐसे ही शीत बिलों में मेरु पर्वतवत् लोह पिंड विलीन हो जावे।

नरक में उत्पत्ति के दु:ख— नारकी जीव महापाप से नरक बिल में उत्पन्न होकर एक मुहूर्त काल में छहों पर्याप्तियों को पूर्ण कर छत्तीस आयुधों के मध्य में औंधे मुँह गिरकर वहाँ से गेंद के समान उछलता है। प्रथम पृथ्वी में नारकी सात योजन, छह हजार, पाँच सौ धनुष प्रमाण ऊपर को उछलता है। इसके आगे शेष नरकों में उछलने का प्रमाण दूना-दूना है।

नरक की मिट्टी— कुत्ते, गधे आदि जानवरों के अत्यन्त सड़े हुए मांस और विष्ठा आदि की अपेक्षा भी अनन्तगुणी दुर्गन्धि से युक्त वहाँ की मिट्टी है, जिसे वे नारकी भक्षण करते हैं। यदि सातवें नरक की मिट्टी का एक कण भी यहाँ आ जावे, तो यहाँ के पच्चीस कोस तक के जीव मर जावें।

नरक के दु:ख— वे नारकी परस्पर में चक्र, बाण, शूली, करोंत आदि से एक दूसरे को भयंकर दु:ख दिया करते हैं। एक मिनट भी आपस में शांति को प्राप्त नहीं करते हैं। करोंत से चीरना, कुम्भीपाक में पकाना आदि महान दु:खों का सामना करते हुए उन जीवों की मृत्यु भी नहीं हो सकती। जब आयु पूर्ण होती है, तभी वे मरते हैं।

नारकियों की आयु—

नरक	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु
१	१० हजार वर्ष	१ सागर
२	१ सागर	३ सागर
३	३ सागर	७ सागर
४	७ सागर	१० सागर
५	१० सागर	१७ सागर
६	१७ सागर	२२ सागर
७	२२ सागर	३३ सागर

नरक में जाने वाले जीव— कर्मभूमि के पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य ही इन नरकों में जाते हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच पहले नरक तक, सरीसृप दूसरे नरक तक, पक्षी तृतीय नरक तक, भुजंग चतुर्थ नरक तक, सिंह पाँचवें तक, स्त्रियाँ छठे तक, मत्स्य और मनुष्य सातवें तक जाते हैं।

नरक में सम्यक्त्व के कारण— तीसरे नरक तक के नारकी कोई जाति-स्मरण से, कोई दुर्वार वेदना से, कोई देवों के सम्बोधन को प्राप्त कर अनन्त भवों को चूर्ण करने में समर्थ सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर लेते हैं। शेष चार नरकों के नारकी जातिस्मरण और वेदना अनुभव से सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेते हैं।

नोट— (परिशिष्ट में चार्ट नं. ८ देखिए)

मध्यलोक

मध्यलोक १ राजु चौड़ा १ लाख ४० योजन ऊँचा है। यह चूड़ी के आकार का है। इस मध्यलोक में असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं। इस मध्यलोक के बीचों-बीच में एक लाख योजन व्यास वाला अर्थात् ४० करोड़ मील विस्तार वाला जम्बूद्वीप स्थित है। जम्बूद्वीप को घेरे हुए २ लाख योजन विस्तार वाला

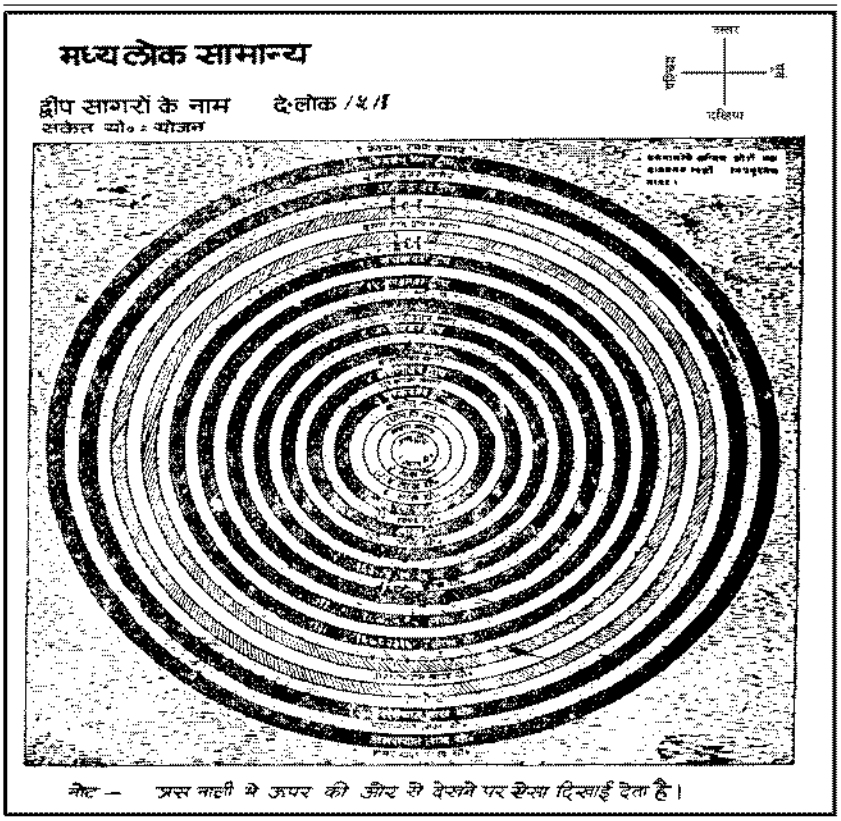

लवण समुद्र है। लवण समुद्र को घेरे हुए ४ लाख योजन व्यास वाला धातकी खण्ड है, इसको घेरे हुए ८ लाख योजन व्यास वाला कालोदधि समुद्र है। उसके बाद १६ लाख योजन व्यास वाला पुष्कर द्वीप है। इसी तरह आगे-आगे क्रम से द्वीप तथा समुद्र दूने-दूने प्रमाण वाले होते गये हैं। अन्त के द्वीप और समुद्र का नाम स्वयंभूरमण द्वीप और स्वयंभूरमण समुद्र है।

जम्बूद्वीप

जम्बूद्वीप के मध्य में एक लाख योजन ऊँचा तथा दस हजार योजन विस्तार वाला सुमेरु पर्वत है। इस जम्बूद्वीप में छह कुलाचल एवं सात क्षेत्र हैं।

६ कुलाचलों के नाम— हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी।

७ क्षेत्रों के नाम— भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक्, हैरण्यवत और ऐरावत।

क्षेत्र एवं पर्वतों का प्रमाण— भरतक्षेत्र का विस्तार जम्बूद्वीप के विस्तार का १९०वाँ भाग है अर्थात् १०००००+१९०=५२६ ६/१९ योजन, (२१०५२६३ ३/१९ मील) है। भरत क्षेत्र से आगे हिमवान् पर्वत का विस्तार भरत क्षेत्र से दूना है। ऐसे ही विदेह क्षेत्र तक दूना-दूना और आगे आधा-आधा होता गया है। आगे कोष्ठक में देखिए-

नोट-(परिशिष्ट में चार्ट नं. ९ देखिये)।

विजयार्ध पर्वत— भरतक्षेत्र के मध्य में विजयार्ध पर्वत है। यह ५० योजन (२००००० मील) चौड़ा और २५ योजन विस्तृत (१००००० मी.) ऊँचा है एवं लम्बाई दोनों तरफ से लवण समुद्र को स्पर्श कर रही है। पर्वत के ऊपर दक्षिण और उत्तर दोनों तरफ इस धरातल से १० योजन ऊपर तथा १० योजन ही भीतर समतल में विद्याधरों की नगरियाँ हैं जो कि दक्षिण में ५० एवं उत्तर में ६० हैं। उसमें १० योजन ऊपर एवं अन्दर जाकर आभियोग्य जाति के देवों के भवन हैं। उससे ऊपर (अवशिष्ट) ५ योजन जाकर समतल पर ९ कूट हैं। इनमें १ कूट सिद्धायतन नाम का है, जिसमें जिनमंदिर है, बाकी में देवों के आवास हैं।

यह विजयार्ध पर्वत रजतमयी है। इसी प्रकार का विजयार्ध पर्वत ऐरावत क्षेत्र में भी इसी प्रमाण वाला है।

हिमवान् पर्वत— यह पर्वत १०५२ १२/१९ योजन (४२१०५२६ ६/१९ मी.) विस्तार वाला एवं १०० योजन ऊँचा है। इस पर्वत पर 'पद्म' नामक सरोवर है, यह सरोवर १००० योजन लम्बा, ५०० योजन चौड़ा एवं १० योजन गहरा है। इससे आगे के पर्वतों पर क्रम से महापद्म, तिगिंच्छ, केशरी, पुण्डरीक, महापुण्डरीक नाम के सरोवर हैं।

कमल— पद्म सरोवर के मध्य में एक योजन वाला एक कमल है जो कि पृथ्वीकायिक रत्नमयी है। इस कमल की कर्णिका पर बने हुए भवन में 'श्री देवी' निवास करती हैं। इसी सरोवर में श्रीदेवी के परिवार स्वरूप १४०११५ कमल और हैं, जिन पर श्री देवी के परिवार देव रहते हैं, ऐसे ही आगे-आगे के सरोवरों में भी कमल हैं और उनमें क्रम से 'ह्री' 'धृति' 'कीर्ति' 'बुद्धि' और 'लक्ष्मी' देवियाँ रहती हैं।

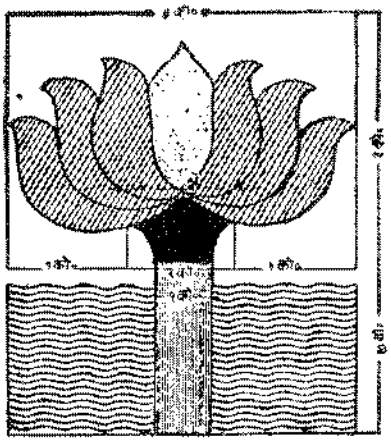

नोट— (परिशिष्ट चार्ट नं. १० देखिये)

गंगादि नदियाँ— इन छह सरोवरों से १४ नदियाँ निकलती हैं जो कि एक-एक क्षेत्र में दो-दो बहती हैं। भरत क्षेत्र में गंगा-सिंधु, हैमवत क्षेत्र में रोहित-रोहितास्या आदि। पद्म और महापुण्डरीक इन दो सरोवरों से तीन-तीन नदियाँ निकलती हैं एवं बीच के चार सरोवरों से दो-दो नदियाँ निकलती हैं।

गंगा नदी— पद्म सरोवर के पूर्व दिशा के तोरण द्वार से गंगा नदी निकल कर पाँच सौ योजन तक पूर्व की ओर जाती हुई गंगाकूट के दो कोस इधर से दक्षिण की ओर मुड़कर भरत क्षेत्र में २५ योजन पर्वत से उसे छोड़कर जिह्विका नाली में प्रवेश करके पर्वतसे नीचे गिरती है।

गंगाकुण्ड— जहाँ गंगा नदी गिरती है, वहाँ पर ६० योजन विस्तृत एवं १० योजन गहरा एक कुण्ड है। उसमें १० योजन ऊँचा वज्रमय एक पर्वत है। उस पर्वत के कूट पर गंगा देवी का प्रासाद बना हुआ है। प्रासाद की छत पर कमलासन पर अकृत्रिम जिन प्रतिमा केशों के जटाजूट युक्त शोभायमान है। गंगा नदी अपनी चंचल तरंगों से युक्त होती हुई जलधारा से जिनेन्द्रदेव का अभिषेक करते हुए के समान ही उस जिनप्रतिमा पर पड़ती है।

पुन: इस कुण्ड के दक्षिण तोरण द्वार से निकलकर आगे भूमि पर कुटिलता को प्राप्त होती हुई विजयार्ध की गुफा में आठ योजन विस्तृत होती हुई प्रवेश करती है। अन्त में चौदह हजार परिवार नदियों से युक्त होकर पूर्व की ओर जाती हुई लवण समुद्र में प्रविष्ट हुई है, ये १४ हजार परिवार नदियाँ आर्य खण्ड में न बहकर म्लेच्छ खण्डों में ही बहती हैं। इसी गंगा नदी के समान ही सिंधु नदी का वर्णन है जो कि पद्म सरोवर के पश्चिम तोरण द्वार से निकलकर भरत क्षेत्र में आती है। आगे की युगल-युगल नदियों का विस्तार आदि सीता नदी तक दूना-दूना और आगे आधा-आधा होता गया है।

छह खण्ड— भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र में विजयार्ध पर्वत और युगल नदियों के निमित्त से छह-छह खण्ड हो जाते हैं। इनमें से समुद्र की तरफ के मध्य का आर्य खण्ड और शेष म्लेच्छ खण्ड कहलाते हैं।

सुमेरु पर्वत

विदेह क्षेत्र के बीचों बीच में सुमेरु पर्वत स्थित है। यह एक लाख ४० योजन ऊँचा है। इसकी नींव एक हजार योजन की है। पृथ्वी तल पर इस पर्वत का विस्तार दस हजार योजन है। सुमेरु पर्वत की नींव के बाद पृथ्वी तल पर भद्रसाल वन स्थित है, जिसकी पूर्व, दक्षिण आदि चारों दिशाओं में चार चैत्यालय स्थित हैं। मेरु पर्वत के ऊपर पाँच सौ योजन जाकर नन्दन वन है, यह पाँच सौ योजन प्रमाण कटनीरूप है। इसकी भी चारों दिशाओं में चार चैत्यालय हैं। इससे ऊपर साढ़े बासठ हजार योजन जाकर सौमनस वन है। यह भी पाँच सौ योजन प्रमाण चौड़ा कटनीरूप है। इसके भी चारों दिशाओं में चार जिनालय हैं। सौमनस वन से छत्तीस हजार योजन ऊपर जाकर पाण्डुक वन है, यह भी चार सौ चौरानवे योजन प्रमाण कटनीरूप है, इसमें भी चारों दिशाओं में चार चैत्यालय हैं।

पाण्डुक वन के ऊपर मध्य में बारह योजन चौड़ी, चालीस योजन ऊँची चूलिका है।

मेरु पर्वत नीचे से घटते-घटते चूलिका के अग्रभाग पर चार योजनमात्र का रह जाता है।

सुमेरु का वर्ण— यह पर्वत नीचे जड़ में एक हजार योजन तक वज्रमय है। पृथ्वी तल से इकसठ हजार योजन तक उत्तम चित्र-विचित्र रत्नमय, आगे अड़तीस हजार योजन तक सुवर्णमय है एवं ऊपर की चूलिका नीलमणि से बनी हुई है।

पाण्डुक शिला आदि— पाण्डुक वन की चारों दिशाओं में चार शिला हैं। ये शिलाएँ ईशान दिशा से लेकर क्रम से पाण्डुक शिला, पाण्डुकंबला, रक्ताशिला और रक्तकंबला नाम वाली हैं। ये अर्ध चन्द्राकार हैं, सिंहासन, छत्र, मंगल, द्रव्य आदि से सुशोभित हैं। सौधर्म इन्द्र पाण्डुक शिला पर भरतक्षेत्र के तीर्थंकरों का अभिषेक करते हैं, ऐसे ही 'पाण्डुकंबला' शिला पर पश्चिम विदेह के तीर्थंकरों का, 'रक्ता-शिला' पर ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों का एवं 'रक्तकंबला' शिला पर पूर्व विदेह के तीर्थंकरों का अभिषेक करते हैं।

जम्बूद्वीप के भरत और ऐरावत में षट्काल परिवर्तन से कर्मभूमि और भोगभूमि, दोनों की व्यवस्था होती रहती है। हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र में जघन्य भोगभूमि हरि और रम्यक् क्षेत्र में मध्यम भोगभूमि तथा विदेह क्षेत्र में मेरु के दक्षिण-उत्तर भाग में क्रम से देवकुरु-उत्तरकुरु नाम की उत्तम भोगभूमियाँ हैं। पूर्व और

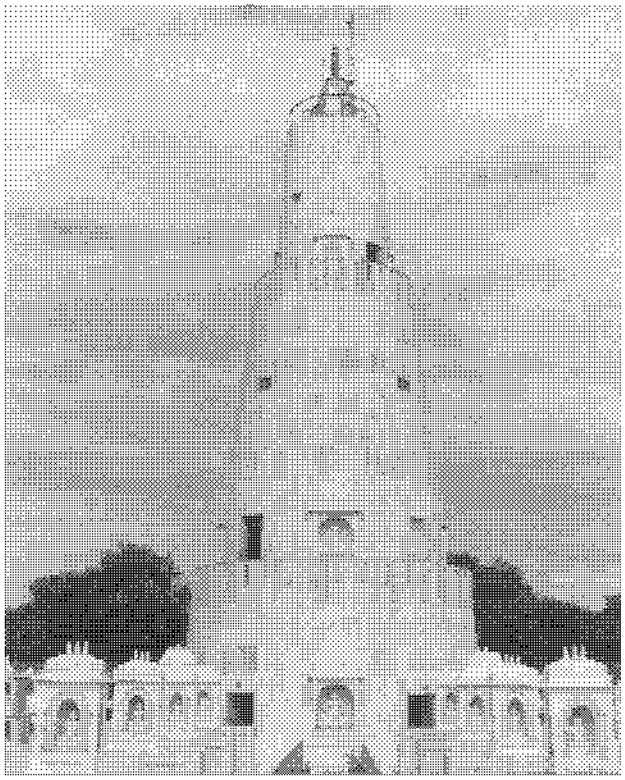

पश्चिम दोनों विदेहों में आठ-आठ वक्षार और ६-६ विभंगा नदियों से विदेह के १६-१६ भेद होने से बत्तीस विदेह क्षेत्र हो जाते हैं। उनमें शाश्वत कर्मभूमि है।

लवण समुद्र

जम्बूद्वीप को घेरे हुए २ लाख योजन व्यासवाला लवणसमुद्र है। उसका पानी अनाज के ढेर के समान शिखाऊ ऊँचा उठा हुआ है। बीच में गहराई १००० योजन की है। समतल से जल की ऊँचाई अमावस्या के दिन ११००० योजन की रहती है। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से बढ़ते-बढ़ते ऊँचाई पूर्णिमा के दिन १६००० योजन की हो जाती है पुन: कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से घटते-घटते ऊँचाई क्रमश: अमावस्या के दिन ११००० योजन की रह जाती है।

धातकीखण्ड— यह द्वीप लवण समुद्र को घेरकर चार लाख योजन व्यास वाला है। इसके अन्दर पूर्व दिशा में बीचों-बीच में विजय मेरु और पश्चिम दिशा में बीच में 'अचल' नाम का मेरु पर्वत स्थित है। दक्षिण और उत्तर में दोनों तरफ समुद्र को स्पर्श करते हुए दो इष्वाकार पर्वत हैं, जिससे इस द्वीप के पूर्व धातकीखण्ड और पश्चिम धातकीखण्ड ऐसे दो भेद हो जाते हैं। वहाँ पर भी पूर्व धातकी खण्ड में हिमवान् आदि छह पर्वत, भरत आदि सात क्षेत्र, गंगादि चौदह प्रमुख नदियाँ बहती हैं तथैव पश्चिम धातकीखण्ड में

यही सब व्यवस्था है। धातकी खण्ड को वेष्टित करके कालोदधि समुद्र है।

पुष्करार्ध द्वीप— कालोदधि को वेष्टित करके १६ लाख योजन वाला पुष्कर द्वीप है। इसके बीचों-बीच में चूड़ी के समान आकार वाला मानुषोत्तर पर्वत स्थित है। इस पर्वत के इधर के भाग में कर्मभूमि जैसी व्यवस्था है। इसमें भी दक्षिण-उत्तर में इष्वाकार पर्वत है और पूर्व पुष्करार्ध में 'मन्दर' मेरु तथा पश्चिम पुष्करार्ध में 'विद्युन्माली' मेरु पर्वत स्थित हैं। इसमें भी दोनों तरफ भरत आदि क्षेत्र, हिमवान् आदि पर्वत पूर्ववत् हैं।

१७० कर्मभूमि— जम्बूद्वीप के बीच में सुमेरु पर्वत है। इसके दक्षिण में निषध एवं उत्तर में नील पर्वत है। यह मेरु विदेह के ठीक बीच में है। निषध पर्वत से सीतोदा और नील पर्वत से सीता नदी निकलकर सीता नदी पूर्व समुद्र में, सीतोदा नदी पश्चिम समुद्र में प्रवेश करती है। इसलिए इनसे विदेह के ४ भाग हो गये। दो भाग मेरु के पूर्व की ओर और दो भाग मेरु के पश्चिम की ओर। एक-एक विदेह में ४-४ वक्षार पर्वत और ३-३ विभंगा नदियाँ होने से १-१ विदेह के ८-८ भाग हो गये हैं। इन चार विदेहों के बत्तीस भाग— विदेह हो गये हैं। ये ३२ विदेह एक मेरु संबंधी हैं। इसी प्रकार ढाई द्वीप के ५ मेरु संबंधी ३२×५=१६० विदेह क्षेत्र हो जाते हैं।

इस प्रकार १६० विदेह क्षेत्रों में १-१ विजयार्ध एवं गंगा-सिंधु तथा रक्ता-रक्तोदा नाम की दो-दो नदियों से ६-६ खण्ड होते हैं। जिसमें मध्य का आर्यखण्ड और शेष पाँचों म्लेच्छ खण्ड कहलाते हैं। ऐसे पाँच मेरु संबंधी ५ भरत, ५ ऐरावत और ५ महाविदेहों के १६० विदेह ५+५+१६०=१७० क्षेत्र हो गये। ये १७० ही कर्मभूमियाँ हैं।

एक राजु विस्तृत इस मध्यलोक में असंख्यातों द्वीप समुद्र हैं। उनके अन्तर्गत ढाई द्वीप की १७० कर्मभूमियों में ही मनुष्य तपश्चरणादि के द्वारा कर्मों का नाश करके मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, इसलिए ये क्षेत्र कर्मभूमि कहलाते हैं।

३० भोगभूमि— हैमवत, हैरण्यवत क्षेत्र में जघन्य, हरि, रम्यक क्षेत्र में मध्यम और देवकुरु-उत्तरकुरु में उत्तम ऐसी छह भोगभूमि जम्बूद्वीप में हैं। धातकी खण्ड की १२ तथा पुष्करार्ध की १२ ऐसे ६+१२+१२=३० भोगभूमि ढाई द्वीप संबंधी हैं।

९६ कुभोगभूमि— इस लवण समुद्र के दोनों तटों पर २४ अन्तर्द्वीप हैं अर्थात् चार दिशाओं के ४ द्वीप, ४ विदिशाओं के ४ द्वीप, दिशा-विदिशा के आठ अन्तरालों के ८ द्वीप, हिमवान् पर्वत और शिखरी पर्वत के दोनों तटों के ४ और भरत, ऐरावत के दोनों विजयार्धों के दोनों तटों के ४ इस तरह ४+४+८+४+४=२४ हुए।

ये २४ अन्तर्द्वीप लवण समुद्र के इस तटवर्ती हैं। उस तट के भी २४ तथा कालोदधि के उभय तट के ४८, सभी मिलकर ९६ अन्तर्द्वीप कहलाते हैं। इनमें रहने वाले मनुष्यों के सींग, पूँछ आदि होते हैं अत: इन्हें ही कुभोगभूमि कहते हैं। इन द्वीपों के मनुष्य कुभोगभूमियाँ कहलाते हैं। इनकी आयु असंख्यात वर्षों की होती है।

कुमानुष— पूर्व दिशा में रहने वाले मनुष्य एक पैर वाले होते हैं। पश्चिम दिशा के पूँछ वाले, दक्षिण

दिशा के सींग वाले एवं उत्तर दिशा के गूँगे होते हैं। विदिशा आदि संबंधी सभी कुभोगभूमियाँ कुत्सित रूप वाले होते हैं। ये मनुष्य युगल ही जन्म लेते हैं और युगल ही मरते हैं। इनको शरीर संबंधी कोई कष्ट नहीं होता है। कोई-कोई वहाँ की मधुर मिट्टी का भक्षण करते हैं तथा अन्य मनुष्य वहाँ के वृक्षों के फलफूल आदि का भक्षण करते हैं। उनका कुरूप होना कुपात्रदान आदि का फल है।

स्वयंभूरमण पर्वत— अंतिम स्वयंभूरमण द्वीप के बीचों-बीच वलयाकार स्वयंभूरमण नाम का पर्वत है जो कि मानुषोत्तर के समान द्वीप के दो भाग कर देता है।

मानुषोत्तर पर्वत से आगे असंख्यातों द्वीपों में स्वयंभूरमण पर्वत के इधर-उधर तक जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था है। इन सभी में असंख्यातों तिर्यञ्च युगल रहते हैं।

स्वयंभूरमण पर्वत के उधर आधे द्वीप में और स्वयंभूरमण समुद्र में कर्मभूमि की व्यवस्था है अर्थात् यहाँ के तिर्यंच कर्मभूमि के तिर्यञ्च हैं। वहाँ प्रथम गुणस्थान से पंचम गुणस्थान तक हो सकता है। देवों द्वारा सम्बोधन पाकर या जातिस्मरण आदि से असंख्यातों तिर्यञ्च सम्यग्दृष्टि देशव्रती बनकर स्वर्ग प्राप्त कर लेते हैं।

जम्बूद्वीप के अकृत्रिम चैत्यालय

सुमेरु के १६, सुमेरु पर्वत की विदिशा में चार गजदन्त के ४, हिमवान् आदि षट् कुलाचलों के ६, विदेह क्षेत्र में सोलह वक्षार पर्वतों के १६, विदेह क्षेत्र के बत्तीस विजयार्ध के ३२, भरत, ऐरावत के विजयार्ध के २, देवकुरु और उत्तरकुरु में स्थित जम्बूवृक्ष, शाल्मलीवृक्ष की शाखाओं के २, इस प्रकार १६+४+६+१६+३२+२+२=७८ ऐसे जम्बूद्वीप के ७८ जिन चैत्यालय हैं।

मध्यलोक के अकृत्रिम जिनालय

जम्बूद्वीप के समान ही धातकी खण्ड एवं पुष्करार्ध में २-२ मेरु के निमित्त से सारी रचना दूनी-दूनी होने से चैत्यालय भी दूने-दूने हैं तथा धातकी खण्ड एवं पुष्करार्ध में २-२ इष्वाकार पर्वत पर २-२ चैत्यालय हैं। मानुषोत्तर पर्वत पर चारों दिशाओं के ४, नन्दीश्वर द्वीप की चारों दिशाओं में १३-१३ चैत्यालय होने से १३×४=५२, ग्यारहवें कुण्डलवर द्वीप के कुण्डलवर पर्वत पर चारों दिशाओं के ४, तेरहवें रुचकवर द्वीप के रुचकवर पर्वत पर चारों दिशाओं के ४, सब मिलकर ७८+१५६+१५६+४+४+५२+४+४=४५८ चैत्यालय होते हैं। इन मध्यलोक संबंधी ४५८ चैत्यालयों को एवं उनमें स्थित सर्व जिनप्रतिमाओं को मैं मन, वचन, काय से नमस्कार करता हूँ।

देवों के भेद

देवों के चार भेद हैं— भवनवासी, व्यंतरवासी, ज्योतिर्वासी और कल्पवासी।

भवनवासी देव

भवनवासी देवों के स्थान— पहले रत्नप्रभा पृथ्वी के ३ भाग बताये जा चुके हैं। उसमें से खर भाग

में राक्षस जाति के व्यंतर देवों को छोड़कर सात प्रकार के व्यंतर देवों के निवास स्थान हैं और भवनवासी के असुरकुमार जाति के देवों को छोड़कर नव प्रकार के भवनवासी देवों के स्थान हैं। रत्नप्रभा के पंकभाग नाम के द्वितीय भाग में असुरकुमार जाति के भवनवासी एवं राक्षस जाति के व्यंतरों के आवास स्थान हैं।

भवनवासी देवों के भेद— असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार, दिक्कुमार, उदधिकुमार, स्तनितकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार और वायुकुमार।

भवनवासी देवों के भवनों का प्रमाण— असुरकुमार के ६४ लाख, नागकुमार के ८४ लाख, सुपर्णकुमार के ७२ लाख, वायुकुमार के ९६ लाख और शेष देवों के ७६-७६ लाख भवन हैं अत: ७६×६= ४५६-६४+८४+७२+९६+४५६=७७२००००० (सात करोड़ बहत्तर लाख) भवन हैं।

जिनमंदिर— इन एक-एक भवनों में एक-एक जिनमंदिर होने से भवनवासी देवों के ७,७२,००००० प्रमाण जिनमंदिर हैं। उनमें स्थित जिनप्रतिमाओं को मन, वचन, काय से नमस्कार होवे।

भवनवासी देवों के इन्द्र— भवनवासी देवों के १० कुलों में पृथक्-पृथक् दो-दो इन्द्र होते हैं। सब मिलकर २० इन्द्र होते हैं, जो अपनी विभूति से शोभायमान हैं।

इन्द्र के परिवार देव— प्रत्येक इन्द्र के परिवार देव दस प्रकार हैं। प्रतीन्द्र, त्रायस्त्रिंश, सामानिक, लोकपाल, आत्मरक्ष, तीन पारिषद, सात अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषक।

इनमें से इन्द्र राजा के सदृश, प्रतीन्द्र युवराज के सदृश, त्रायस्त्रिंश देवपुत्र के सदृश, सामानिक देवपत्नी के तुल्य, चारों लोकपाल तंत्रपालों के सदृश और सभी तनुरक्षक देव राजा के अंगरक्षक के समान हैं। राजा की बाह्य, मध्य और अभ्यन्तर समिति के समान देवों में भी तीन प्रकार की परिषद होती हैं। इन तीनों परिषदों में बैठने वाले देव क्रमश: बाह्य पारिषद, मध्यमपारिषद और आभ्यन्तरपारिषद कहलाते हैं। अनीक देव सेना के तुल्य, प्रकीर्णक देव प्रजा के सदृश, आभियोग्य जाति के देव दास के सदृश और किल्विषक देव चाण्डाल के समान होते हैं। इनमें से प्रतीन्द्र इन्द्र के बराबर २० होते हैं। इसलिए भवनवासियों के २० इन्द्र और २० प्रतीन्द्र मिलकर ४० इन्द्र हो जाते हैं।

भवनवासियों के निवास स्थान के भेद— इन देवों के निवास स्थान के भवन, भवनपुर और आवास के भेद से तीन भेद होते हैं। रत्नप्रभा पृथ्वी में स्थित निवास स्थानों को भवन, द्वीप समुद्रों के ऊपर स्थित निवास स्थानों को भवनपुर और रमणीय तालाब, पर्वत तथा वृक्षादि के ऊपर स्थित निवास स्थानों को आवास कहते हैं।

इनमें नागकुमार आदि देवों में से किन्हीं के तो भवन, भवनपुर और आवासरूप तीनों ही तरह के निवास स्थान होते हैं परन्तु असुरकुमारों के केवल एक भवनरूप ही निवास स्थान हैं। इनमें भवनवासियों के भवन चित्रा पृथ्वी के नीचे दो हजार से एक लाख योजनपर्यन्त जाकर हैं। ये सब भवन समचतुष्कोण, तीन सौ योजन ऊँचे हैं और विस्तार में संख्यात एवं असंख्यात योजन प्रमाण वाले हैं।

जिनमंदिर— प्रत्येक भवन के मध्य में एक सौ योजन ऊँचे एक-एक कूट हैं, इन कूटों के ऊपर

पद्मराग मणिमय कलशों से सुशोभित चार गोपुर, तीन मणिमय प्राकार, वनध्वजाओं एवं मालाओं से संयुक्त जिनगृह शोभित हैं। प्रत्येक जिनगृह में १०८-१०८ जिनप्रतिमाएं विराजमान हैं। जो देव सम्यग्दर्शन से युक्त हैं, वे कर्मक्षय के निमित्त नित्य ही जिन भगवान की भक्ति से पूजा करते हैं, इसके अतिरिक्त सम्यग्दृष्टि देवों से सम्बोधित किए गए अन्य मिथ्यादृष्टि देव भी कुलदेवता मानकर उन जिनेन्द्र प्रतिमाओं की नित्य ही बहुत प्रकार से पूजा करते हैं।

देवप्रासाद— जिनमंदिर के चारों तरफ अनेक रचनाओं से युक्त सुवर्ण और रत्नों से निर्मित भवनवासी देवों के महल हैं। इन देवों की आयु आदि का वर्णन आगे यंत्र से समझ लेना चाहिए।

नोट— (परिशिष्ट चार्ट नं. ११ देखिए)।

व्यन्तर देव

व्यंतर देव— रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग में व्यंतर देवों के सात भेद रहते हैं— किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, भूत और पिशाच। पंक भाग में राक्षस जाति के व्यंतरों के भवन हैं। सभी व्यन्तरवासियों के असंख्यात भवन हैं। उनमें तीन भेद हैं— भवन, भवनपुर और आवास। खर भाग, पंक भाग में भवन हैं। असंख्यातों द्वीप समुद्रों के ऊपर भवनपुर हैं और सरोवर, पर्वत, नदी, आदिकों के ऊपर आवास होते हैं।

मेरु प्रमाण ऊँचे मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक में व्यन्तर देवों के निवास हैं। इन व्यन्तरों में से किन्हीं के भवन हैं, किन्हीं के भवन और भवनपुर दोनों हैं एवं किन्हीं के तीनों ही स्थान होते हैं। ये सभी आवास प्राकार (परकोटे) से वेष्टित हैं।

जिनमंदिर— इस प्रकार व्यन्तरवासी देवों के स्थान असंख्यात होने से उनमें स्थित जिनमंदिर भी असंख्यात प्रमाण हैं। क्योंकि जितने भवन, भवनपुर और आवास हैं, उतने ही जिनमंदिर हैं।

इनके कार्य— ये व्यन्तर देव क्रीड़ाप्रिय होने से इस मध्यलोक में यंत्र-तंत्र शून्य स्थान, वृक्षों की कोटर, श्मशान भूमि आदि में भी विचरण करते रहते हैं। कदाचित्, क्वचित् किसी के साथ पूर्व जन्म का बैर होने से उसे कष्ट भी दिया करते हैं। किसी पर प्रसन्न होकर उसकी सहायता भी करते हैं। जब सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लेते हैं, तब पापभीरू बनकर धर्मकार्यों में ही रुचि लेते हैं।

व्यंतर इन्द्र— किन्नर, किंपुरुष आदि आठ प्रकार के व्यंतर देवों में प्रत्येक के दो-दो इन्द्र होते हैं। किन्नर जाति के दो इन्द्र— किंपुरुष, किन्नर। किंपुरुष जाति में— सत्पुरुष, महापुरुष। महोरग जाति में— महाकाय, अतिकाय। गंधर्व जाति में— गीतरति, गीतरस। यक्ष जाति में— मणिभद्र, पूर्णभद्र। राक्षस जाति में— भीम, महाभीम। भूत जाति में— स्वरूप, प्रतिरूप। पिशाच जाति में— काल, महाकाल। ऐसे व्यन्तर देवों में १६ इन्द्र होते हैं।

परिवार देव— इन १६ इन्द्रों में से प्रत्येक के प्रतीन्द्र, सामानिक, आत्मरक्ष, तीनों पारिषद, सात अनीक, प्रकीर्णक, किल्विषक और आभियोग इस प्रकार से परिवार देव होते हैं अर्थात् भवनवासी के जो इन्द्र, सामानिक आदि दस भेद बतलाये हैं, उनमें से इन व्यन्तरों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल ये दो भेद नहीं

होते हैं अत: यहाँ आठ भेद कहे गये हैं। प्रत्येक इन्द्र के एक-एक प्रतीन्द्र होने से १६ इन्द्रों के १६ प्रतीन्द्र ऐसे व्यन्तरों के ३२ इन्द्र कहलाते हैं।

इस प्रकार परिवार देवों से सहित, सुखों का अनुभव करने वाले व्यन्तर देवेन्द्र अपने-अपने पुरों में बहुत प्रकार की क्रीड़ाओं को करते हुए मग्न रहते हैं।

व्यन्तर देवों का आहार— किन्नर आदि एवं उनकी देवियाँ दिव्य अमृतमय मानसिक आहार ग्रहण करते हैं। देवों को कवलाहार नहीं होता है। पल्य प्रमाण आयु वाले देवों का आहार ५ दिन में एवं दस हजार की आयु वालों का दो दिन बाद होता है।

देवों का उच्छ्वास— पल्य प्रमाण आयु वाले ५ मुहूर्त में एवं दस हजार वर्ष की आयु वाले, सात उच्छ्वास काल में उच्छ्वास लेते हैं।

व्यन्तर देवों में जन्म लेने के कारण— जो कुमार्ग में स्थित हैं, दूषित आचरण वाले हैं, अकाम निर्जरा करने वाले हैं, अग्नि आदि द्वारा मरण को प्राप्त करते हैं, सम्यक्त्व से रहित, चारित्र के विघातक, पञ्चाग्नि तप करने वाले, मन्द कषायी हैं, ऐसे जीव मरकर व्यन्तर पर्याय में जन्म ले लेते हैं। ये देव कदाचित् वहाँ सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते हैं। सम्यक्त्व रहित देव कोई-कोई विशेष आर्तध्यान आदि से मरकर एकेन्द्रिय पर्याय में भी जन्म ले लेते हैं।

व्यंतर देवों का अवधिज्ञान, शक्ति और विक्रिया— जघन्य आयु १०००० वर्ष प्रमाण वाले देवों का अवधिज्ञान का विषय ५ कोस है एवं उत्कृष्ट अवधि का विषय ५० कोस है। पल्योपम प्रमाण आयु वाले व्यन्तर देवों की अवधि का विषय नीचे व ऊपर एक लाख योजन प्रमाण है। जघन्य आयुधारक प्रत्येक व्यन्तर देव १०० मनुष्यों को मारने व तारने के लिए समर्थ हैं तथा १५० धनुष तक विस्तृत क्षेत्र को अपनी शक्ति से उखाड़ कर अन्यत्र फेंकने में समर्थ हैं। पल्य प्रमाण आयु वाले व्यन्तर देव छह खण्डों को उलट सकते हैं। जघन्य आयु वाले व्यन्तर देव उत्कृष्ट रूप से १०० रूपों की एवं जघन्य रूप से ७ रूपों की विक्रिया कर सकते हैं। बाकी देव अपने-अपने अवधिज्ञान के क्षेत्र को विक्रिया से पूर्ण कर सकते हैं।

इन देवों की अवगाहना १० धनुष है। ये देव उपपाद शय्या पर जन्म लेकर अन्तर्मुहूर्त में १६ वर्ष के युवक के समान शरीर और पर्याप्तियों को पूर्ण कर लेते हैं।

ज्योतिर्वासी देव

ज्योतिष्क देवों के पाँच भेद हैं— सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा। इनके विमान चमकीले होने से इन्हें ज्योतिष्क देव कहते हैं, ये सभी विमान अर्धगोलक सदृश हैं। ये सभी देव मेरुपर्वत को ११२१ योजन (४४,८४००० मी.) छोड़कर नित्य ही प्रदक्षिणा के क्रम से भ्रमण करते हैं। इनमें चन्द्र, सूर्य और ग्रह ५१० ४८/८१ योजन प्रमाण गमन क्षेत्र में स्थित परिधियों के क्रम से पृथक्-पृथक् गमन करते हैं परन्तु नक्षत्र और तारे अपनी-अपनी परिधिरूप मार्ग में ही गमन करते हैं।

ज्योतिष्क देवों की ऊँचाई— पाँच प्रकार के देवों के विमान इस चित्रा पृथ्वी से ७९० योजन से

प्रारंभ होकर ९०० योजन की ऊँचाई तक अर्थात् ११० योजन में स्थित हैं। सबसे प्रथम ताराओं के विमान हैं, जो सबसे छोटे १/४ कोस (२५० मी.) प्रमाण हैं। इन सभी विमानों की मोटाई अपने-अपने विमानों से आधी-आधी है। राहु के विमान चन्द्र के नीचे एवं केतु के विमान सूर्य के नीचे रहते हैं अर्थात् ४ प्रमाणांगुल (२००० उत्सेधांगुल) प्रमाण ऊपर चन्द्र-सूर्य के विमान स्थित होकर गमन करते हैं। ये राहु-केतु के विमान ६-६ महीने में पूर्णिमा एवं अमावस्या को क्रम से चन्द्र एवं सूर्य के विमानों को ढँक देते हैं, इसे ही ग्रहण कहते हैं। इस पृथ्वी से तारा आदि विमानों की ऊँचाई एवं उनका प्रमाण यंत्र में देखिए।

(नोट — परिशिष्ट में चार्ट नम्बर १२ देखिए)।

वाहन जाति के देव — इन सूर्य, चन्द्र के प्रत्येक विमानों को आभियोग्य जाति के ४००० देव विमान के पूर्व में सिंह के आकार को धारण कर, दक्षिण में ४००० देव हाथी के आकार को, पश्चिम में ४००० देव बैल के आकार को एवं उत्तर में ४००० देव घोड़े के आकार को धारण कर ऐसे १६००० देव सतत खींचते रहते हैं, इसी प्रकार ग्रहों के ८०००, नक्षत्रों के ४००० एवं ताराओं के २००० वाहनजाति के देव होते हैं।

ज्योतिष्क देवों की गति — गमन में चन्द्रमा सबसे मंद है। सूर्य उसकी अपेक्षा तीव्रगामी, उससे शीघ्रतर ग्रह, इनसे शीघ्रतर नक्षत्र एवं नक्षत्रों से भी शीघ्रतर गति वाले तारागण हैं।

सूर्यादि की किरणें — ये विमान पृथ्वीकायिक (चमकीली धातु) से बने हुए अकृत्रिम हैं। सूर्य के बिम्ब में स्थित पृथ्वीकायिक जीव के आतप नामकर्म का उदय होने से उसकी किरणें उष्ण हैं। चन्द्र के बिम्ब में स्थित पृथ्वीकायिक के उद्योत नामकर्म का उदय होने से उनके मूल में शीतलता है और किरणें भी शीतल हैं, ऐसे ही तारा आदि के समझना।

विमान और जिनमंदिरों का प्रमाण — सभी ज्योतिर्वासी देवों के विमानों के बीचों-बीच में एक-एक जिनमंदिर है और चारों ओर देवों के निवास स्थान बने हुए हैं। ये विमान एक राजु प्रमाण चौड़े इस मध्यलोक तक हैं अत: असंख्यात हैं, इसी निमित्त से जिनमंदिर भी असंख्यात ही हो जाते हैं। उनमें स्थित १०८-१०८ प्रतिमाओं को मेरा नमस्कार होवे।

सूर्य का गमन क्षेत्र — सूर्य का गमन क्षेत्र जम्बूद्वीप के भीतर १०८ योजन एवं लवण समुद्र में ३३० ४८/८१ योजन है अर्थात् समस्त गमन क्षेत्र ५१० ४८/८१ योजन (२०४३१४७ १३/६१) मील है। इतने प्रमाण में १८४ गलियाँ हैं। इन गलियों में दो सूर्य क्रमश: एक-एक गली में संचार करते हैं।

दक्षिणायन-उत्तरायण — जब सूर्य प्रथम गली में रहता है, तब श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन दक्षिणायन प्रारंभ होता है और जब वह अंतिम गली में पहुँचता है, तब उत्तरायण प्रारंभ होता है।

एक मिनट में सूर्य का गमन — एक मिनट में सूर्य का गमन ४४७६२३ ११/१८ मील प्रमाण है।

चक्रवर्ती द्वारा सूर्य के जिनबिम्ब का दर्शन — जब सूर्य पहली गली में आता है, तब अयोध्या नगरी के भीतर अपने भवन के ऊपर स्थित चक्रवर्ती सूर्य विमान में स्थित जिनबिम्ब का दर्शन कर लेते हैं। चक्रवर्ती की दृष्टि का विषय ४७२६३ ७/२० योजन (१८९०५३४००० मील) प्रमाण है।

चन्द्र का गमन क्षेत्र— सूर्य के इसी गमन क्षेत्र में चन्द्र की १५ गलियाँ हैं। इनमें वह प्रतिदिन एक-एक गली में गमन करता है।

एक मिनट में चन्द्र का गमन— एक मिनट में चन्द्रमा ४२२७९६ ३१/१६४७ मील तक गमन करता है।

कृष्णपक्ष-शुक्लपक्ष— जब चन्द्रबिम्ब पूर्ण दिखता है, तब पूर्णिमा होती है। राहु विमान चन्द्रविमान के नीचे गमन करता है। राहु प्रतिदिन एक-एक मार्ग में चन्द्रबिम्ब की एक-एक कला को ढँकते हुए १५ दिन तक १५ कलाओं को ढँक लेता है, तब अंतिम दिन की १६ कला में १ कला शेष रह जाती है, उसी का नाम अमावस्या है। फिर वह राहु प्रतिपदा के दिन में प्रत्येक गली में १-१ कला को छोड़ते हुए पूर्णिमा को १५ कलाओं को छोड़ देते हैं, तब पूर्णिमा हो जाती है। इस प्रकार कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष का विभाग हो जाता है।

एक चन्द्र का परिवार— इन ज्योतिषी देवों में चन्द्रमा इन्द्र है तथा सूर्य प्रतीन्द्र है अतः एक चन्द्रमा इन्द्र के एक सूर्य प्रतीन्द्र, ८८ ग्रह, २८ नक्षत्र, ६६ हजार ९७५ कोड़ा-कोड़ी तारे ये सब परिवार देव हैं। जम्बूद्वीप में दो चन्द्रमा और दो सूर्य हैं।

दिन-रात्रि का विभाग— सूर्य के गमन से ही दिन-रात्रि का विभाग होता है। मानुषोत्तर पर्वत के अन्दर के ही सूर्य आदि ज्योतिषी देव गमन करते हैं। आगे के सभी ज्योतिष विमान स्थिर हैं।

कल्पवासी देव

१६ स्वर्गों के नाम— सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत।

बारह कल्प— सौधर्म-ईशान युगल के २ इन्द्र, सनत्कुमार-माहेन्द्र युगल के २ इन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर युगल का १ इन्द्र, लांतव-कापिष्ठ युगल का १ इन्द्र, शुक्र-महाशुक्र युगल का १ इन्द्र, शतार-सहस्रार युगल का १ इन्द्र, आनत-प्राणत युगल के २ इन्द्र और आरण-अच्युत युगल के २ इन्द्र ऐसे १२ इन्द्र होते है। इनके स्थानों की 'कल्प' संज्ञा होने से १२ कल्प कहलाते हैं।

कल्पातीत— बारह कल्प (१६ स्वर्ग) के ऊपर ९ ग्रैवेयक, ९ अनुदिश और ५ अनुत्तर विमान हैं, इनमें इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि भेद न होने से ये कल्पातीत कहलाते हैं। यहाँ के सभी देव अहमिंद्र कहलाते हैं।

नौ ग्रैवेयक— अधस्तन ३, मध्यम ३ और उपरिम ३ ऐसे नौ ग्रैवेयक हैं।

अनुदिश— अर्चि, अर्चिमालिनी, वैर, वैरोचन ये चार दिशा में होने से श्रेणीबद्ध एवं सोम, सोमरूप, अंक और स्फटिक ये चार विदिशा में होने से प्रकीर्णक एवं मध्य में आदित्य नाम का विमान हैं, ऐसे ये ९ अनुदिश संज्ञक हैं।

पाँच अनुत्तर— विजय, वैजयन्त, जयंत और अपराजित ये चार विमान चार दिशा में एवं 'सर्वार्थसिद्धि' नाम का विमान मध्य में है।

कल्प और कल्पातीतों के स्थान— मेरु तल से लेकर १ १/२ राजु मे सौधर्म युगल, उसके ऊपर १ (१/२) राजु में सानत्कुमार युगल, आगे आधे-आधे राजु में ६ युगल हैं अत: १ १/२+११/२=३,१/२×६=३, ऐसे ६ राजु में ८ युगल हैं। इसके आगे १ राजु में ९ ग्रैवेयक, ९ अनुदिश, ५ अनुत्तर और सिद्धशिला है।

विमानों की संख्या— सौधर्म स्वर्ग में ३२०००००, ईशान में २८०००००, सानत्कुमार में १२०००००, माहेन्द्र में ८००००० ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर युगल में ४००००० लांतव-कापिष्ठ में ५००००० शुक्र-महाशुक्र में ४०००० शतार-सहस्रार युगल में ६०००, आनत-प्राणत, आरण और अच्युत ऐसे चार कल्पों में ७००, तीन अधोग्रैवेयक में १११, तीन मध्यग्रैवेयक में १०७, तीन ऊर्ध्व ग्रैवेयक में ९१, अनुदिश में ९ और पाँच अनुत्तर में ५ ऐसे सब मिलाकर ३२०००००+२८०००००+१२०००००+८०००००+४०००००+५००००+४०००० +६०००+७००+१०७+९१+९+५=८४९७०२३ विमान हैं और एक-एक विमान में १+१ जिनमंदिर होने से इतने ही मंदिर हो जाते हैं। उनमें स्थित जिन प्रतिमाओं को मेरा मन, वचन, काय से नमस्कार होवे।

विमानों के भेद— इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक ऐसे ३ भेद हैं। जो मध्य में है, वह इन्द्रक कहलाता है। दिशाओं के विमान श्रेणीबद्ध और अन्तरालसंबंधी विमान प्रकीर्णक कहलाते हैं।

इन्द्रक की संख्या— इन्द्रक विमान को प्रतर भी कहते हैं। सौधर्म युगल में ३१, सनत्कुमार युगल में ७, ब्रह्मयुगल में ४, लांतव युगल में २, शुक्रयुगल में १, शतारयुगल में १, आनत आदि ४ कल्पों में ६, अधस्तन तीन ग्रैवेयक में ३, मध्यम तीन में ३, उपरिम तीन में ३, नव अनुदिश में १ और पाँच अनुत्तर में १ ऐसे मिलाकर ३१+७+४+२+१+१+६+३+३+३+१+१=६३ इन्द्रक विमान हैं। ऋतु, विमल, चन्द्र आदि इन इन्द्रकों के क्रम से अच्छे-अच्छे नाम हैं।

विमानों का प्रमाण— सभी इन्द्र विमान संख्यात योजन विस्तार वाले हैं। सभी श्रेणीबद्ध विमान असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं एवं प्रकीर्णक विमानों में कुछ संख्यात योजन वाले और कुछ असंख्यात योजन वाले हैं।

विमानों के वर्ण— सौधर्म युगल के विमान पाँच वर्ण वाले हैं। सानत्कुमार, माहेन्द्र में कृष्ण वर्ण के बिना चार वर्ण हैं। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ठ में कृष्ण-नील बिना तीन वर्ण हैं। शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार में कृष्ण, नील, लाल के बिना पीत और शुक्ल दो ही वर्ण हैं। आगे आनत से लेकर अनुत्तरपर्यंत एक शुक्ल वर्ण के ही विमान हैं।

विमानों के आधार— सौधर्म युग्म के विमान जल के आधार हैं। सानत्कुमार युग्म के विमान पवन के आधार हैं। ब्रह्म आदि आठ कल्प स्वर्ग के विमान जल और वायु दोनों के आधार हैं। आगे आनत से लेकर अनुत्तर पर्यन्त विमान आकाश के आधार हैं अर्थात् पुद्गल स्कंध जल आदि के आकार परिणत हुए हैं, ऐसा समझना।

पृथ्वी आठ ही मानी गई हैं— सात नरक संबंधी एवं एक 'ईषत्प्राग्भार' नाम की सिद्ध पृथ्वी अत: ये विमान अधर ही माने गये हैं।

सौधर्म आदि नाम— सौधर्म इन्द्र जहाँ रहते हैं, उसका नाम सौधर्म स्वर्ग है ऐसे ही अन्यत्र जानना।

देवों के प्रासाद— इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक विमानों के ऊपर समचतुष्कोण व दीर्घ विविध प्रकार के प्रासाद स्थित हैं। ये सब प्रासाद सुवर्णमय, स्फटिकमय आदि रत्नों से निर्मित, उपपादशय्या, आसन शाला आदि से परिपूर्ण अनादि निधन हैं।

परिवारदेव— सभी इन्द्रों के परिवार देव दस प्रकार के होते हैं— प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंशदेव, लोकपाल, आत्मरक्ष, पारिषद, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग और किल्विषक।

एक-एक इन्द्र के एक-एक प्रतीन्द्र होने से १२ इन्द्रों के १२ प्रतीन्द्र सहित २४ इन्द्र माने गये हैं।

सौधर्म इन्द्र का परिवार— सौधर्म इन्द्र का १ प्रतीन्द्र, ८४००० सामानिक, ३३ त्रायस्त्रिंश, सोम, यम, वरुण तथा धनद ये ४ लोकपाल, ३३६००० आत्मरक्षक, आभ्यन्तर पारिषददेव १२०००, मध्यम पारिषद १४०००, बाह्य पारिषद १६००० हैं। वृषभ, अश्व, रथ, हाथी, पदाति, गन्धर्व और नर्तक इस प्रकार से सौधर्म इन्द्र की सात सेनाएँ होती हैं। इन सात सेनाओं में से प्रत्येक की ७-७ कक्षाएँ होती हैं। सौधर्म इन्द्र के १०६६८००० वृषभ होते हैं और प्रत्येक इतने ही होते हैं अर्थात् ७४६७६००० अनीक होते हैं। एक इन्द्र के प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषक देव असंख्यात कहे गये हैं।

ऐरावत हाथी— सौधर्म इन्द्र के आभियोग्य देवों का स्वामी और 'बालक' नामक देव होता है। यह देव वाहनजाति का है, अपनी विक्रिया से १ लाख उत्सेध योजन प्रमाण 'ऐरावत' हाथी का शरीर बना लेता है। इसके दिव्य रत्न मालाओं से युक्त ३२ मुख होते हैं। एक-एक मुख में रत्नों से निर्मित ४-४ दाँत होते हैं। एक-एक दाँत पर एक-एक सरोवर एवं एक-एक सरोवर में एक-एक कमलवन होता है। एक-एक कमल खण्ड में विकसित ३२ महापद्म होते हैं और एक-एक महापद्म एक-एक योजन का होता है। इन एक-एक महाकमलों पर एक-एक नाट्यशाला होती है। एक-एक नाट्यशाला में ३२-३२ अप्सराएँ नृत्य करती हैं, यह ऐरावत हाथी भगवान के जन्मोत्सव में आता है।

सौधर्म इन्द्र की देवियाँ— सौधर्म इन्द्र की 'शची' नाम की ज्येष्ठ देवी होती है, ऐसे आठ अग्र देवी हैं। ये शची आदि अपने रूप को विक्रिया से १६०००-१६००० बना लेती हैं। सौधर्म इन्द्र की अतिशय प्रिय वल्लभिका देवियाँ ३२००० हैं एवं एक-एक अग्रदेवी के १६०००-१६००० परिवार देवियाँ हैं। ये वल्लभिका और परिवार देवियाँ भी १६०००-१६००० प्रमाण विक्रिया कर सकती हैं। अर्थात् सौधर्म इन्द्र के १६००० देवी तथा ८ अग्रदेवी हैं।

सौधर्म इन्द्र का राजांगण— इन्द्र की राजांगण भूमि ८४००० योजन प्रमाण है और सुवर्णमय वेदी से वेष्टित है।

सुधर्मा-सभा— सौधर्म इन्द्र के भवन में ईशान दिशा में ३००० कोस ऊँची, ४०० कोसी लम्बी, २०० कोस विस्तृत 'सुधर्मा' नामक सभा है। इस रमणीय सुधर्मा सभा में बहुत प्रकार के परिवार से युक्त सौधर्म इन्द्र विविध सुखों को भोगता है।

जिनभवन— उसी दिशा में अनुपम और रत्नमय जिनभवन हैं।

शरीर की अवगाहना— सौधर्म युगल के देवों के शरीर की अवगाहना ७ हाथ, सानत्कुमार युगल की ६ हाथ, ब्रह्मयुगल और लांतव युगल में ५ हाथ, शुक्र, महाशुक्र में ४ हाथ, शतार-सहस्रार में ३ १/२ हाथ, आनत से अच्युत तक स्वर्गों में ३ हाथ, तीन अधोग्रैवेयक में २ १/२ हाथ, तीन मध्य ग्रैवेयक में २ हाथ, तीन उपरिम ग्रैवेयक में १ १/२ हाथ, नव अनुदिश एवं पाँच अनुत्तरों में १ हाथ प्रमाण होती है।

उत्कृष्ट आयु— सौधर्म युगल में उत्कृष्ट आयु २ सागर, सानत्कुमार युगल में ७ सागर, ब्रह्मयुगल में १० सागर, लांतव युगल में १४, शुक्र युगल में १६, शतार युगल में १८, आनत युगल में २०, आरण युगल में २२ सागर है। आगे नव ग्रैवेयक तक १-१ सागर बढ़ते हुए अंतिम ग्रैवेयक में ३१ सागर, नव अनुदिश में ३२ सागर और पंचअनुत्तर में ३३ सागर प्रमाण है।

विक्रिया और अवधिज्ञान— प्रथम स्वर्ग के देव ऊपर में अपने विमान के ध्वजदंड तक एवं नीचे प्रथम पृथ्वी तक अवधिज्ञान से जान लेते हैं। आगे बढ़ते-बढ़ते सर्वार्थसिद्धि के देव लोकनाड़ी तक जान लेते हैं। इन देवों को जहाँ तक अवधिज्ञान है, वहीं तक विक्रिया करने की शक्ति है। सोलह स्वर्ग तक के देव विक्रिया से यत्र-तत्र आते जाते हैं। आगे के देव जाने की शक्ति रखते हैं किन्तु जाते नहीं हैं।

प्रवीचार सुख— प्रवीचार का नाम कामसेवन है। सौधर्म युगल में काय प्रवीचार, आगे दो स्वर्ग में स्पर्श प्रवीचार, आगे चार स्वर्ग में रूप प्रवीचार, आगे चार स्वर्ग में शब्द प्रवीचार और आगे आनत आदि चार में मन: प्रवीचार है। इन स्वर्गों के आगे नवग्रैवेयक आदि में देवांगना भी नहीं है और उनके भोगों की इच्छा भी नहीं है।

देवियों के उत्पत्ति स्थान— सौधर्म-ईशान स्वर्ग तक ही देवियों की उत्पत्ति होती है, आगे नहीं। आगे के देव अपनी-अपनी देवियों की उत्पत्ति को अवधिज्ञान से जानकर अपने-अपने स्थान पर ले जाते हैं।

विरह काल— सब इन्द्र, उनकी महादेवियाँ, लोकपाल और प्रतीन्द्र, इनका उत्कृष्ट विरहकाल छह मास है। अन्य सभी का यंत्र में देखिए।

देवों का आहार काल— जो देव जितने सागर तक जीवित रहते हैं, उतने ही हजार वर्षों में मानसिक आहार ग्रहण करते हैं। पल्य प्रमाण आयु वाले पाँच दिन में आहार ग्रहण करते हैं।

श्वासोच्छ्वास ग्रहणकाल— सौधर्म युगल में आयु दो सागर की है अत: वहाँ उच्छ्वास का अन्तराल दो पक्ष का है, ऐसे ही जितने सागर की आयु है, उतने पक्ष बीतने पर श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते हैं।

लौकांतिकदेव— ब्रह्म स्वर्ग के अग्र भाग में इनके निवास होने से ये लौकान्तिक कहलाते हैं अथवा ये लोक— संसार का अन्त करने वाले एक भवावतारी हैं इसलिए लौकान्तिक कहलाते हैं। इनके सारस्वत, आदित्य, वन्हि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ऐसे मुख्य आठ भेद हैं। इनके शरीर की ऊँचाई पाँच हाथ, आयु आठ सागर की और लेश्या शुक्ला होती है। ये भगवान के तपकल्याणक में वैराग्य की प्रशंसा करने के लिए भक्तिवश आते हैं, अन्य कल्याणकों में नहीं आते हैं, ये बालब्रह्मचारी हैं तथा देवर्षि कहलाते हैं।

एक भवावतारी देव— सौधर्म इन्द्र आदि दक्षिण इन्द्र, शची इन्द्राणी, दक्षिण इन्द्रों के चारों लोकपाल,

लौकान्तिक देव और सर्वार्थसिद्धि के देव, ये सब नियम से मनुष्य का एक भव प्राप्त कर तपश्चर्या के बल से कर्मों का नाशकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

देवों का जन्म—पुण्य के उदय से देवगति में उपपाद शय्या से जन्म होता है। जन्म लेते ही आनन्द वादित्र बजने लगते हैं। अन्तर्मुहूर्त में ही देव अपनी छहों पर्याप्तियों को पूर्ण कर नवयौवन सहित हो जाते हैं और अवधिज्ञान से सब जान लेते हैं, अनन्तर सरोवर में स्नान करके वस्त्रालंकार से भूषित होकर जिनमंदिर में जाकर भगवान की पूजा करते हैं। जो देव मिथ्यादृष्टि हैं, वे अन्य देवों की प्रेरणा से जिनदेव को कुल देवता मानकर पूजन करते हैं।

सोलह स्वर्ग तक के देवगण तीर्थंकरों के कल्याणक आदि महोत्सव में आते हैं किन्तु आगे के अहमिन्द्र देव वहीं पर मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं।

नोट—(परिशिष्ट में चार्ट नं. १३ देखिए)।

जीव के पंच परिवर्तन

जीव के दो भेद हैं—संसारी और मुक्त। "चतुर्गतौ संसरणं संसारः' चतुर्गति में संसरण करना—परिभ्रमण करना इसका नाम संसार है।

'**संसार एशां सन्ति ते संसारिणः**' यह संसार जिन जीवों के पाया जाता है, वे संसारी कहलाते हैं।

संसार के ५ भेद हैं—द्रव्य संसार, क्षेत्र संसार, काल संसार, भव संसार और भाव संसार। इन्हें परिवर्तन भी कहते हैं।

द्रव्य संसार के २ भेद हैं—कर्म द्रव्य परिवर्तन और नोकर्म द्रव्य परिवर्तन।

कर्म द्रव्य परिवर्तन—कर्मबंध के पाँच कारण हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनमें मिथ्यात्व और कषाय प्रधान हैं क्योंकि ये मोहनीय कर्म के दो भेद हैं और कर्मों में मोहनीय कर्म ही प्रधान एवं बलवान् है। मोहनीय के अभाव में संसार परिभ्रमण का चक्र ही रुक जाता है। इन मिथ्यात्व और कषाय के आधीन हुआ संसारी जीव ज्ञानावरण आदि सात कर्मों के योग्य पुद्गल स्कंधों को प्रति समय ग्रहण करता है। लोक में सर्वत्र कार्मण वर्गणाएँ भरी हुई हैं, उनमें से अपने योग्य को ही ग्रहण करता है। आयुकर्म सदा नहीं बँधता अतः सात कर्मों के योग्य पुद्गल स्कंधों को ही प्रतिसमय ग्रहण करता है और आबाधा काल पूरा हो जाने पर उन्हें भोग कर छोड़ देता है। किसी जीव ने विवक्षित समय में ज्ञानावरण आदि सात कर्मों के योग्य पुद्गल स्कंधों को ग्रहण किया और आबाधा काल बीत जाने पर उन्हें भोग कर छोड़ दिया। उसके बाद अनन्त बार अगृहीत को ग्रहण किया और आबाधा काल बीत जाने पर उन्हें भोग कर छोड़ दिया। उसके बाद अनन्त बार अगृहीत को ग्रहण करके अनन्त बार मिश्र को ग्रहण करके और अनन्त बार गृहीत को ग्रहण करके छोड़ दिया। उसके बाद जब वे ही पुद्गल वैसे ही रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि भावों को लेकर, उसी के वैसे ही परिणामों से पुनः कर्मरूप परिणत होते हैं, उसे कर्म द्रव्य परिवर्तन कहते हैं।

इस तरह किसी विवक्षित समय में एक जीव ने औदारिक, वैक्रियिक और आहारक, इन तीनों शरीरों और छह पर्याप्तियों के योग्य नोकर्म पुद्गल स्कंध ग्रहण किया और भोग कर छोड़ दिया। पूर्वोक्त क्रम के अनुसार जब वे ही नोकर्म पुद्गल उसी रूप, रस आदि को लेकर जीव के द्वारा पुनः नोकर्म रूप से ग्रहण किये जाते हैं, उसे नोकर्म द्रव्य परिवर्तन कहते हैं। कहा भी है—

''सव्वे वि पुग्गला खलु कमसो भुत्तुज्झिया य जीवेण।
असइं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्ट संसारे।।''

'पुद्गल परिवर्तनरूप संसार में इस जीव ने सभी पुद्गलों को क्रमशः अनन्त बार ग्रहण किया और छोड़ा।'

क्षेत्र परिवर्तन— लोकाकाश के ३४३ राजुओं में सभी जीव अनेक बार जन्म ले चुके और मर चुके हैं। क्षेत्र परिवर्तन के दो भेद हैं— स्वक्षेत्र परिवर्तन, परक्षेत्र परिवर्तन।

स्वक्षेत्र परिवर्तन— कोई सूक्ष्म निगोदिया जीव, अपनी जघन्य अवगाहना को लेकर उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया पश्चात् अपने शरीर की अवगाहना में एक-एक प्रदेश बढ़ाते-बढ़ाते महामत्स्य की अवगाहनापर्यन्त अनेक अवगाहना धारण करता है। इस प्रकार छोटी अवगाहना से लेकर बड़ी अवगाहना पर्यन्त सब अवगाहनाओं को धारण करने में जितना काल लगता है, उसे स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं।

परक्षेत्र परिवर्तन— कोई जघन्य अवगाहना का एक धारक सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्याप्तक जीव लोक के आठ मध्यप्रदेशों को अपने शरीर के आठ मध्यप्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ। पीछे वही जीव उसी रूप से उसी स्थान में दूसरी तीसरी बार भी उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण जघन्य अवगाहना के जितने प्रदेश हैं, उतनी बार उसी स्थान पर क्रम से उत्पन्न हुआ और श्वास के अठारहवें भाग प्रमाण क्षुद्र आयु को भोगकर मरण को प्राप्त हुआ। पीछे एक-एक प्रदेश बढ़ाते-बढ़ाते सम्पूर्ण लोक को अपना जन्म क्षेत्र बना ले, यह परक्षेत्र परिवर्तन है। कहा है-

''सव्वह्मि लोयखेत्ते कमसो तं णत्थि जं ण उप्पण्णं।
ओगाहणाए बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे।।''

'समस्त लोक में ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, जहाँ क्षेत्ररूप संसार में परिभ्रमण करते हुए अनेक अवगाहनाओं को लेकर यह जीव क्रमशः उत्पन्न न हुआ हो।'

काल परिवर्तन— कोई जीव उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया, फिर भ्रमण करके दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया। फिर भ्रमण करके तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया। यही क्रम अवसर्पिणी काल के संबंध में भी समझना चाहिए। इस क्रम से उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी के बीस कोड़ाकोड़ी सागर के जितने समय हैं, उनमें उत्पन्न हुआ तथा इसी क्रम से मरण को प्राप्त हुआ अर्थात् उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के प्रथम समय में मरा, फिर दूसरी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के दूसरे समय में मरा, इसे काल परिवर्तन कहते हैं। कहा भी है—

''उस्सप्पिणि अवसप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु।
जादो मुदो य बहुसो भमणेण दु कालसंसारे।।''

'अनादि काल से संसार में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के सब समयों में अनेक बार जन्मा और मरा।'

भव परिवर्तन— नरक गति में जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है, इस आयु को लेकर कोई जीव प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया पुनः उसी आयु को लेकर वहाँ उत्पन्न हुआ और मर गया। इस प्रकार दस हजार वर्ष के जितने समय हैं, उतनी बार दस हजार वर्ष की आयु लेकर प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ। पीछे एक समय अधिक दस हजार वर्ष की आयु लेकर वहाँ उत्पन्न हुआ, फिर दो समय अधिक दस हजार वर्ष की आयु लेकर उत्पन्न हुआ। इस प्रकार एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते नरक गति की उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागर पूर्ण करता है।

फिर तिर्यंच गति में अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु लेकर उत्पन्न हुआ और पहले की तरह अन्तर्मुहूर्त के जितने समय होते हैं, उतनी बार अन्तर्मुहूर्त की आयु लेकर वहाँ उत्पन्न हुआ। फिर एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते तिर्यंच गति की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य समाप्त करता है। फिर तिर्यंच गति की ही तरह मनुष्य गति में भी अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु से लेकर तीन पल्य की उत्कृष्ट आयु समाप्त करता है। पीछे नरक गति की तरह देवगति की आयु को भी समाप्त करता है किन्तु देवगति में इतनी विशेषता है कि वहाँ इकतीस सागर की ही उत्कृष्ट आयु को पूर्ण करता है क्योंकि ग्रैवेयक में उत्कृष्ट आयु इकतीस सागर की ही होती है और मिथ्यादृष्टियों की उत्पत्ति ग्रैवेयक तक ही होती है। इस प्रकार चारों गतियों की आयु पूर्ण करने को भव परिवर्तन कहते हैं। कहा भी है—

''णिरयादि जहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लया दु गेवज्जा।
मिच्छत्तसंसिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदीभमिदा।।''

'नरक की जघन्य आयु से लेकर ऊपर के ग्रैवेयकपर्यंत के सब भवों में यह जीव मिथ्यात्व के आधीन होकर अनेक बार भ्रमण करता है।'

भाव परिवर्तन— योगस्थान, अनुभाग बंधाध्यवसाय स्थान, कषायाध्यवसाय स्थान और स्थिति स्थान, इन चार के निमित्त से भाव परिवर्तन होता है। प्रकृति बंध और प्रदेश बंध के कारण आत्मा के प्रदेश परिस्पन्दरूप योग के तारतम्यरूप स्थानों को योग स्थान कहते हैं। अनुभाग बंध के कारण कषाय के तारतम्य स्थानों को अनुभाग बंधाध्यवसाय स्थान कहते हैं। स्थिति बंध के कारण कषाय के तारतम्य स्थानों को कषाय स्थान या स्थिति बंधाध्यवसाय स्थान कहते हैं। बंधने वाले कर्म की स्थिति के भेदों को स्थिति स्थान कहते हैं। योग स्थान श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। अनुभाग बंधाध्यवसाय स्थान असंख्यात लोक प्रमाण हैं। कषाय बंधाध्यवसाय स्थान भी असंख्यात लोक प्रमाण हैं।

कोई मिथ्यादृष्टि, सैनी, पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव ज्ञानावरण कर्म की अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण जघन्य स्थिति को बाँधता है, उस जीव के उस स्थिति के योग्य जघन्य कषाय स्थान, जघन्य अनुभाग स्थान

और जघन्य ही योग स्थान होता है। फिर उसी स्थिति, उसी कषाय स्थान और अनुभाग स्थान को प्राप्त जीव के दूसरा योग स्थान होता है। जब सब योग स्थानों को समाप्त कर देता है, तब उसी स्थिति और उसी कषाय. स्थान को प्राप्त जीव के दूसरा अनुभाग स्थान होता है। उसके योगस्थान भी पूर्वोक्त जानने चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक अनुभाग स्थान के समय सब योग स्थानों को समाप्त करता है। अनुभाग ० स्थानों के समाप्त होने पर, उसी स्थिति को प्राप्त जीव के दूसरा कषाय ० स्थान होता है। इस कषाय ० स्थान के अनुभाग ० स्थान तथा योग स्थान पूर्ववत् जानने ाचहिए। इस प्रकार सब कषाय ० स्थानों की समाप्ति तक अनुभाग ० स्थान और योग स्थानों की समाप्ति का क्रम जानना चाहिए।

कषाय ० स्थानों के भी समाप्त होने पर वही जीव उसी कर्म की एक समय अधिक अन्त: कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थिति बाँधता है। उसके भी कषाय ० स्थान, अनुभाग ० स्थान तथा योग स्थान पूर्ववत् जानने चाहिए। इस प्रकार एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर पर्यन्त प्रत्येक स्थिति के कषाय ० स्थान, अनुभाग ० स्थान और योगस्थानों का क्रम जानना चाहिए। इसी प्रकार सभी मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतियों में समझना चाहिए। अर्थात् प्रत्येक मूल-प्रकृति और प्रत्येक उत्तर प्रकृति की जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति पर्यंत प्रत्येक स्थिति के साथ पूर्वोक्त सब कषाय ० स्थानों, अनुभाग ० स्थानों और योग स्थानों को पहले की ही तरह लगा लेना चाहिए। इस प्रकार सब कर्मों की स्थितियों के भोगने को भाव परिवर्तन कहते हैं इन परिवर्तनों को पूर्ण करने में जितना काल लगता है, उतना काल भी उस-उस परिवर्तन के नाम से कहाता है। कहा भी है-

''सव्वा पयडिट्ठिदीओ अणुभागपदेसबंधठाणाणि।
मिच्छत्त संसिदेण य भमिदा पुण भावसंसारे।।''

'इस जीव ने मिथ्यात्व के संसर्ग से सब प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंध के स्थानों को प्राप्त कर भाव संसार में परिभ्रमण किया।'

इस प्रकार अनेक दु:खों की उत्पत्ति के कारण इन पाँच प्रकार के संसार में यह जीव मिथ्यारूपी दोष के कारण अनादिकाल तक भ्रमण करता रहता है। जब इस जीव को सम्यक्त्व प्रगट हो जाता है, तब पंच परावर्तन समाप्त हो जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव यदि सम्यक्त्व से च्युत होकर अधिक से अधिक संसार में भ्रमण करे, तो वह अर्धपुद्गल परावर्तन मात्र काल तक भ्रमण करता है जो कि द्रव्य परिवर्तन के अन्तर्गत नोकर्म पुद्गल परावर्तन काल के समान है किन्तु यह भी अनन्तकाल सदृश होने से अनन्त कहलाता है।

व्यवहार काल के अन्तर्गत कुछ विशेष संख्याएँ

आर्यखण्ड में नाना भेदों से संयुक्त जो काल प्रवर्तता है, उसके स्वरूप का वर्णन करते हैं। कालद्रव्य अनादिनिधन है, वर्तना उसका लक्षण माना गया है— जो द्रव्यों की पर्यायों को बदलने मे सहायक हो, उसे वर्तना कहते हैं। यह काल अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु बराबर है और असंख्यात होने के कारण समस्त लोकाकाश से भरा हुआ है अर्थात् काल द्रव्य का एक-एक परमाणु लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर स्थित है।

उस काल में अनन्त पदार्थों के परिणमन कराने की सामर्थ्य है अत: वह स्वयं असंख्यात होकर भी अनन्त पदार्थों के परिणमन में सहकारी होता है। जिस प्रकार कुम्हार के चाक के घूमने में उसके नीचे लगी हुई कील कारण है उसी प्रकार पदार्थों के परिणमन में काल द्रव्य सहकारी कारण है। संसार के समस्त पदार्थ अपने-अपने गुण-पर्यायों द्वारा स्वयमेव ही परिणमन को करते रहते हैं और काल द्रव्य उनके परिणमन में मात्र सहकारी कारण होता है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं और काल द्रव्य बहुप्रदेशी न होने से अस्तिरूप है 'अस्तिकाय' नहीं है।

काल के भेद— काल द्रव्य के निश्चय और व्यवहार के भेद से दो भेद हैं। इनमें से निश्चय काल के आश्रय से व्यवहार काल की प्रवृत्ति होती है। यह व्यवहार काल वर्तना लक्षण रूप निश्चय काल द्रव्य के द्वारा ही प्रवर्तित होता है और भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानरूप होकर संसार का व्यवहार चलाने के लिए समर्थ होता है। वह व्यवहार काल समय, आवली, उच्छ्वास, नाड़ी आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है। यह ज्योतिष्चक्र के घूमने से ही प्रकट होता है। घड़ी, घंटा, दिन आदि सब व्यवहार काल कहलाते हैं।

व्यवहार काल— एक अविभागी पुद्गल परमाणु जितने काल में एक आकाश प्रदेश का उल्लंघन करे, उस अविभागी काल को 'समय' कहते हैं।

असंख्यात समयों की एक आवली और संख्यात आवलियों का एक उच्छ्वास होता है। इसे 'प्राण' भी कहते हैं। सात उच्छ्वास का एक स्तोक, सात स्तोकों का एक लव, साढ़े अड़तीस लवों की एक नाली— घड़ी, दो घड़ी का एक मुहूर्त होता है। एक समय कम एक मुहूर्त को भिन्न मुहूर्त या अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। तीस मुहूर्त का एक दिन, पन्द्रह दिनों का एक पक्ष, दो पक्षों का एक मास, दो मासों की एक ऋतु, तीन ऋतुओं का एक अयन, दो अयनों का एक वर्ष और पाँच वर्षों का एक युग होता है। दो युगों के दस वर्ष होते हैं। दस वर्षों को दस से गुणा करने पर शतवर्ष, शतवर्ष को दस से गुणा करने पर सहस्र वर्ष होता है। इसे दस से गुणा करने पर दस सहस्र वर्ष, इसको भी दस से गुणा करने पर लक्ष वर्ष होता है।

लक्ष वर्ष को ८४ से गुणा करने पर एक 'पूर्वाङ्ग' इस पूर्वाङ्ग को ८४००००० से गुणा करने पर एक 'पूर्व' होता है। पूर्व को ८४ से गुणा करने पर 'पर्वाङ्ग' इसको ८४००००० से गुणा करने पर पर्व होता है। पर्व को ८४ से गुणा करने पर 'नयुतांग' इसको ८४००००० से गुणा करने पर 'नयुत' होता है। नयुत को ८४ से गुणा करने पर 'कुमुदांग' और इसको ८४००००० से गुणा करने पर एक 'कुमुद' होता है। कुमुद को ८४ से गुणा करने पर 'पद्मांग' और इसको ८४००००० से गुणा करने पर एक 'पद्म' होता है। पद्म को ८४ से गुणा करने पर 'नलिनांग' और इसको ८४००००० से गुणा करने पर एक 'नलिन' होता है। नलिन को ८४ से गुणा करने पर एक 'कमलांग' और इसको ८४००००० से गुणा करने पर एक 'कमल' होता है। कमल को ८४ से गुणा करने पर एक 'त्रुटितांग' और इसको ८४००००० से गुणा करने पर एक 'त्रुटित' होता है। त्रुटित को ८४ से गुणा करने पर 'अटटांग' इसको ८४००००० से गुणा करने पर 'अटट' होता है। अटट को ८४ से गुणा करने पर 'अममांग', इसको ८४००००० से गुणा करने पर 'अमम' होता है। अमम को ८४ से गुणा करने पर 'हाहांग' और इसको ८४००००० से गुणा करने पर एक 'हाहा' प्रमाण होता है। हाहा को ८४ से गुणा करने पर

'हूहांग' और हूहांग को ८४००००० से गुणा करने पर एक 'हूहू' नामक काल का प्रमाण होता है। हूहू को ८४ से गुणा करने पर 'लतांग' और इसको ८४००००० से गुणा करने पर एक 'लता' नामक प्रमाण होता है। लता को ८४ से गुणा करने पर 'महालतांग' और इसको ८४००००० से गुणा करने पर एक 'महालता' का प्रमाण होता है। महालता को ८४००००० से गुणा करने पर एक 'श्रीकल्प' होता है और इसको ८४००००० से गुणा करने पर एक 'हस्त प्रहेलित' नामक संख्या का प्रमाण मिलता है। हस्त प्रहेलित को ८४ लाख से गुणा करने पर एक 'अचलात्म' नाम का काल होता है।

इकतीस स्थानों में पृथक्-पृथक् चौरासी को रखकर परस्पर गुणा करने से अचलात्म नाम का प्रमाण प्राप्त होता है, जो नब्बे शून्यांक रूप है। इस प्रकार यह संख्यात काल वर्षों की गणना द्वारा उत्कृष्ट संख्यात जब तक प्राप्त हो, तब तक ले जाना चाहिए। जो वर्षों की संख्या से रहित है, वह असंख्ये काल माना जाता है। इसके पल्य, सागर, कल्प तथा अनन्त आदि अनेक भेद हैं।

पल्य-सागर का स्वरूप

कुलकरों की, देव-नारकियों की अवगाहना के प्रमाण में जो 'धनुष' शब्द आया है और आयु तथा अन्तराल में 'पल्य' शब्द का प्रयोग आया है, अब उनको समझने के लिए धनुष और पल्य को बनाने की प्रक्रिया को बतलाते हैं—

अंगुल, धनुष, पल्य आदि की प्रक्रिया— पुद्गल के एक अविभागी टुकड़े को परमाणु कहते हैं। अनन्तानन्त परमाणुओं से एक अवसन्नासन्न बनता है अर्थात्—

अंगुल का प्रमाण— अनन्तानन्त परमाणुओं का- १ अवसन्नासन्न

८ अवसन्नासन्न का	१ सन्नासन्न
८ सन्नासन्नों का	१ त्रुटिरेणु
८ त्रुटिरेणुओं का	१ त्रसरेणु
८ त्रसरेणुओं का	१ रथरेणु
८ रथरेणुओं का उत्तम भोगभूमिजों का	१ बालाग्र
८ इन बालाग्रों का मध्यम भोगभूमिजों का	१ बालाग्र
८ इन बालाग्रों का जघन्य भोगभूमिजों का	१ बालाग्र
८ इन बालाग्रों का	कर्मभूमिजों का १ बालाग्र
८ कर्मभूमिज के बालाग्रों की	१ लिक्षा
८ लिक्षा की	१ यूका
८ यूका की	१ जौ
८ जौ का	१ अंगुल

अंगुल के तीन भेद— उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल और आत्मांगुल। उपर्युक्त परिभाषा से सिद्ध हुआ अंगुल उत्सेधागुंल कहलाता है। पाँच सौ उत्सेधांगुल का एक प्रमाणांगुल होता है। जिस काल में भरत और ऐरावत में जो-जो मनुष्य हुआ करते हैं, उस-उस काल में उन्हीं मनुष्यों के अंगुल का नाम आत्मांगुल होता है।

किस अंगुल से किसका माप होता है?— उत्सेधांगुल से देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकियों के शरीर की ऊँचाई का प्रमाण और चारों प्रकार के देवों के निवास स्थान व नगरादि का प्रमाण जाना जाता है।

प्रमाणांगुल से द्वीप, समुद्र, कुलाचल, वेदी, नदी, कुंड या सरोवर, जगती और भरत आदि क्षेत्रों का प्रमाण जाना जाता है।

धनुष का प्रमाण— छह अंगुलों का १ पाद, २ पादों की १ वितस्ति, दो वितस्तियों का १ हाथ, २ हाथों का १ रिंकु, दो रिंकु का १ दण्ड या धनुष अर्थात् ४ हाथ का १ धनुष और दो हजार धनुष का एक कोस होता है।

योजन का प्रमाण— चार कोस का एक योजन होता है, इसे लघु योजन कहते हैं। इसी योजन को पाँच सौ से गुणा करने पर १ महायोजन बनता है यथा— ४×५००=२०००, इन २००० कोस का एक महायोजन होता है।

पल्य का प्रमाण— चार कोस के योजन विस्तार वाले गोल गड्ढे का गणित शास्त्र से घनफल निकाल लीजिए अर्थात् एक योजन व्यास वाले एक योजन गहरे गड्ढे का घनफल कर लीजिए।

एक योजन वाले गोल क्षेत्र का घनफल— १×१×१०=१०,

१०=१९/६ परिधि, १९/६×१/४=क्षेत्रफल, १९/२४×१=१९/२४ घनफल

उत्तम भोगभूमि के एक दिन से लेकर सात दिन तक के उत्पन्न हुए मेंढ़े के करोड़ों रोमों के अविभागी खंड करके उन खंडित रोमाग्रों से उस एक योजन विस्तार वाले प्रथम गड्ढे को पृथ्वी के बराबर अत्यन्त सघन भरना चाहिए।

इस गड्ढे के रोमों की संख्या—

४१३४५२६३०३०८२०३१७७७४९५१२१९२०००००००००००००००००।

व्यवहार पल्य— सौ-सौ वर्षों में एक-एक रोम खण्ड के निकालने पर जितने समय में वह गड्ढा खाली हो, उतने काल को 'व्यवहार पल्य' कहते हैं।

उद्धार पल्य— व्यवहार पल्य की रोमराशि में से प्रत्येक रोमखण्ड को असंख्यात करोड़ वर्षों के जितने समय हो, उतने खण्ड करके, उनसे दूसरे पल्य को भरकर पुनः एक-एक समय में एक-एक रोम खण्ड को निकाले, इस प्रकार जितने समय में वह दूसरा पल्य खाली हो जाये, उतने काल को 'उद्धार पल्य' समझना चाहिए।

अद्धा पल्य— उद्धार पल्य की रोम राशि में से प्रत्येक रोम खण्ड के असंख्यात वर्षों के समय प्रमाण खण्ड करके तीसरे गड्ढे के भरने पर और पहले के समान एक-एक समय में एक-एक रोम खण्ड को निकालने पर जितने समय में वह गड्ढा खाली हो जाये, उतने काल को 'अद्धापल्य' कहते हैं।

मध्य के उद्धार पल्य से द्वीप और समुद्रों का प्रमाण जाना जाता है, इस अद्धापल्य से नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देवों की आयु तथा कर्मों की स्थिति का प्रमाण जाना जाता है।

सागर— दस कोड़ा-कोड़ी व्यवहार पल्य का एक व्यवहार सागर, दस कोड़ाकोड़ी उद्धार पल्यों का एक उद्धार सागर, दस कोड़ा-कोड़ी अद्धापल्यों का एक अद्धासागर होता है अर्थात् एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर कोड़ा-कोड़ी बनता है, ऐसे दस कोड़ा-कोड़ी पल्यों का एक सागर होता है।

कुलकरों की, देव-नारकियों की आयु में जो पल्य और सागर का प्रमाण आया है और ऊँचाई में धनुष का प्रमाण आया है, उनको समझने के लिए इन परिभाषाओं को याद रखना चाहिए।

तीन लोक में सिद्ध जीव कहाँ हैं?

अष्टम भूमि— तीन भुवन के मस्तक पर 'ईषत्प्राग्भार' नाम की आठवीं पृथ्वी है। यह १ राजु चौड़ी, ७ राजु लम्बी और आठ योजन मोटी है अर्थात् लोक के अन्तपर्यंत है।

सिद्ध शिला— इस आठवीं पृथ्वी के मध्य में रजतमयी, श्वेत छत्राकार, मनुष्य-क्षेत्र के समान गोल, पैंतालीस लाख योजन व्यास वाली सिद्धशिला है। इसकी मोटाई मध्य में ८ योजन है। अन्यत्र सर्वत्र अन्तपर्यंत (किनारों में) घटती-बढ़ती है। इसका ऊपर तल तो समान रूप है और नीचे घटती-बढ़ती है, ऐसा समझना। सर्वार्थसिद्धि विमान से १२ योजन अन्तराल छोड़कर सिद्ध क्षेत्र है।

सिद्धों का निवास— आठवीं पृथ्वी के ऊपर सात हजार पचास धनुष जाकर सिद्धों का आवास है। इन सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ पच्चीस धनुष और जघन्य साढ़े तीन हाथ है। तनुवातवलय की मोटाई १५७५ धनुष है, इसमें ५०० का गुणा करके १५०० का भाग देने से सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना का प्रमाण निकल जाता है क्योंकि अवगाहना का धनुष ४ हाथ का है और उससे ५०० गुणा अधिक यह धनुष है अत: १५७५×५००÷१५००=५२५ धनुष।

इसी में ५०० का गुणा करके ९००००० का भाग देने से जघन्य अवगाहना का प्रमाण आता है।

यथा— १५७५×५००÷९००००० = ७/८ धनुष = ३×१/२ हाथ

एक जीव से अवगाहित क्षेत्र के भीतर जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम अवगाहना से सहित अनन्त सिद्ध जीव होते हैं। मनुष्य लोकप्रमाण स्थित तनुवात के उपरिम भाग में सब सिद्धों के सिर एक सदृश होते हैं, अधस्तन भाग में कोई विसदृश होते हैं। जितना मार्ग में जाने योग्य है, उतना जाकर लोक शिखर पर सब सिद्ध पृथक्-पृथक् मोम से रहित मूष (सांचा) के अभ्यन्तर आकाश के सदृश स्थित हो जाते हैं। अनुपम स्वरूप से संयुक्त, कृतकृत्य, नित्य, निरंजन, नीरोग, निर्मल बोध से युक्त सिद्ध एक ही समय में समस्त पदार्थों को सदैव जानते हैं।

सिद्धों का सुख— चक्रवर्ती के सुख से भोगभूमियाँ का सुख अनंतगुणा है। भोगभूमिजों के सुख से धरणेन्द्र का सुख अनन्तगुणा है, इससे देवेन्द्र का सुख अनन्तगुणा है, इससे अहमिंद्रों का सुख अनन्तगुणा

है, ऐसे इनमें जो अनन्त-अनन्तगुणा सुख है, उन सबके अतीत, अनागत और वर्तमानकालसंबंधी सभी सुखों को एकत्रित करिये, उसकी अपेक्षा भी सिद्धों का क्षणमात्र में उत्पन्न हुआ सुख अनन्तगुणा है, यह उपदेश भी कथनमात्र है क्योंकि औरों का सुख आकुलता सहित है और सिद्धों का सुख निराकुल है। इसलिए सिद्धों का सुख वचन के अगोचर है, ऐसा जानना।

यहाँ तक करणानुयोग में लोक का, पंचपरिवर्तन का, पल्यसागर आदि का और सिद्धलोक का संक्षिप्त स्वरूप कहा है। विशेष जिज्ञासुओं को तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार, जम्बूद्वीपपण्णत्ति आदि ग्रंथों का स्वाध्याय करना चाहिए।

मेरु वन्दना

मेरु सुदर्शन महातीर्थ को, नित प्रति शीश झुकाता हूँ।
तीर्थंकर के जन्म न्हवन की, सबको याद दिलाता हूँ।।

भद्रशाल वन सुन्दर है, नन्दन वन अति मनहर है।
सौमनस्य वन शोभ रहा, पांडुक वन मन मोह रहा।।

इनमें चैत्यालय भासे, जिनमें जिन प्रतिमा राजे।
चार दिशा में चार कहे, सब मिल सोलह भास रहे।।

प्रति निजगृह में जिनप्रतिमा, इक सौ आठ अतुल महिमा।
सबको नित्य नमन मेरा, कोटि-कोटि वन्दन मेरा।।

पांडुक वन की विदिशा में, पांडुक आदि शिला तामें।
तीर्थंकर शिशु को लाके, इन्द्र न्हवन करते आके।।

ऐसे पावन महामेरु को, भक्ति प्रसून चढ़ाता हूँ।
'सम्यग्ज्ञानमती' विकसित हो, यही भावना भाता हूँ।।

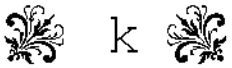

तृतीय खण्ड

चरणानुयोग

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति।।४५।।

अर्थ— सम्यग्ज्ञान ही गृहस्थ और मुनियों के चरित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के अंगभूत चरणानुयोग शास्त्र को जानता है अर्थात् जिसमें श्रावक और मुनिधर्म का वर्णन किया जाता है, वह चरणानुयोग है।

धर्म का लक्षण

"जो[1] संसार के दुख से प्राणियों को निकालकर उत्तम सुख में पहुँचाता है, वह धर्म है।" "रत्नत्रय[2] स्वरूप धर्म के ईश्वर ऐसे श्री जिनेन्द्र भगवान सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहते हैं। इनसे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संसार के कारण होते हैं।"

सम्यग्दर्शन

"सच्चे[3] देव, शास्त्र, गुरु का तीन मूढ़ता रहित, आठ गर्व से रहित और आठ अङ्ग सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।" अथवा—

"तत्त्वों[4] का यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।" अथवा—

"जिनके[5] आठ मद, तीन मूढ़ता, छह अनायतन, आठ शंकादि दोष, सात व्यसन, सात प्रकार के भय और पाँच अतीचार ये चवालीस दोष नहीं हैं, वे सम्यग्दृष्टि हैं।"

श्रावक के ७० गुण— "आठ[6] मूलगुण और बारह उत्तरगुणों (बारह व्रत-५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४-शिक्षाव्रत) का प्रतिपालन, सात व्यसन और पच्चीस सम्यक्त्व के दोषों का परित्याग, बारह प्रकार की वैराग्य भावना का चिन्तवन, सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचारों का परित्याग और भक्ति-भावना इस प्रकार सम्यग्दृष्टि श्रावक के ७० गुण हैं।"

सच्चे देव का लक्षण— जो क्षुधा, तृषादि दोषों से रहित, 'वीतराग', 'सर्वज्ञ' और हितोपदेशी हैं, वे ही सच्चे आप्त हैं।

अठारह दोष— क्षुधा, तृषा, रोग, शोक, जन्म, मरण, बुढ़ापा, भय, गर्व, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, अरति, निद्रा, विस्मय, पसीना तथा खेद ये १८ दोष अरहन्त— सच्चे देव में नहीं होते हैं।

सच्चे शास्त्र का लक्षण— सच्चे आप्त का कहा हुआ प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से विरोधरहित जीवादि तत्त्वों का प्रतिपादन करने वाला ही सच्चा शास्त्र है।

---

१. "संसारदुःखतः सत्त्वान् योधरत्युत्तमे सुखे।" — रत्नकरण्डश्रावकाचार
२. सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः।।३।। — रत्नकरण्डश्रावकाचार
३. श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ।।४।। — रत्नकरण्डश्रावकाचार
४. "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"। — तत्त्वार्थसूत्र
५. मयमूढमणायदणं संकाइवसणभयमईयारं।
जेसिं चउदालेदे ण संति ते होंति सद्दिट्ठी।।७।। — रयणसार
६. उभयगुणवसणभयमलवेरग्गाइचार भत्तिविग्घं वा।
एदेसत्तत्तरिया दंसणसावयगुणा भणिया।। — रयणसार

सच्चे गुरु का लक्षण

जो विषयों की आशा से रहित, आरम्भ-परिग्रह से रहित, दिगम्बर वेषधारी, ज्ञान, ध्यान और तप में लीन रहते हैं, वे ही सच्चे गुरु हैं।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग— नि:शंकित, नि:कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

नि:शंकित— देव, गुरु और शास्त्रस्वरूप तत्त्व यही है, इसी प्रकार ही है, दूसरा नहीं है और दूसरे प्रकार भी नहीं है, इस प्रकार दृढ़ श्रद्धान करना।

निकांक्षित— कर्माधीन, नष्ट होने वाले, दु:खमिश्रित और पाप के मूल ऐसे विषयजन्य में सुखों की इच्छा नहीं करना।

निर्विचिकित्सा— स्वभाव से अपवित्र किन्तु रत्नत्रय से पवित्र मुनियों के शरीर में ग्लानि नहीं करना, प्रत्युत् गुणों में प्रीति करना।

अमूढ़दृष्टि— दु:खों के कारणरूप खोटे मिथ्यादर्शनादि में तथा मिथ्यादृष्टि जीवों के विषय में मन से और शरीर से आदर नहीं करना, वचन से प्रशंसा नहीं करना।

उपगूहन— स्वभाव से शुद्ध ऐसे रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग में चलने वाले अज्ञानी, प्रमादीजनों से यदि कोई दोष हो जावे तो उसे दूर करना (ढक देना, प्रगट नहीं होने देना) उपगूहन है।

स्थितिकरण— सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से चलायमान होने वाले पुरुषों को धर्मप्रेम से पुन: उसी में स्थित कर देना।

वात्सल्य— जैनधर्मावलम्बियों के प्रति मायाचार रहित तथा योग्य गोवत्स के समान धर्मप्रेम रखना।

प्रभावना— अज्ञानरूपी अंधकार के प्रसार को दूर करके यथाशक्ति जिनधर्म के महत्त्व को प्रगट करना।

श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि—

[१]"रत्नत्रयरूपी तेज से हमेशा से ही आत्मा की प्रभावना करना और दान, तप, जिनपूजा, विद्या और अतिशय-चमत्कार आदि के द्वारा जिनधर्म की प्रभावना करनी चाहिए।

इन आठ अंगों में से यदि एक अंग भी कम है, तो वह सम्यग्दर्शन संसार की परम्परा को नष्ट करने में समर्थ नहीं होता है।

लोकमूढ़ता— नदी और समुद्र में 'इससे कल्याण होगा' इस बुद्धि से स्नान करना, बालू और पत्थर के ढेर लगाना, पहाड़ के ऊपर से पड़ना, अग्नि में पड़ना लोकमूढ़ता है।

---

१. आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दान-तपोजिनपूजा-विद्यातिशयैश्च जिनधर्म:।। (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

देवमूढ़ता— ऐहिक सुख की इच्छा से और वर की आशा से राग-द्वेष से मलिन देवों की उपासना करना देवमूढ़ता है।

पाखंडिमूढ़ता— परिग्रह, आरंभ और हिंसा से सहित ऐसे पाखंडी साधुओं का सत्कार करना गुरुमूढ़ता है।

आठ मद— ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठ का आश्रय लेकर मान करना।

छह अनायतन— कुदेव, कुदेव को मानने वाले कुशास्त्र, कुशास्त्र के धारक, खोटी तपस्या, खोटी तपस्या के करने वाले ये छह अनायतन हैं।

पच्चीस दोष— ऊपर कहे हुए आठ अंग से विपरीत आठ दोष, आठ मद, तीन मूढ़ता और छह अनायतन ये पच्चीस मल दोष सम्यक्त्व को मलिन करने वाले हैं इसलिए इनका त्याग कर देना चाहिए।

सम्यग्दर्शन के भेद— सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं— निसर्गज और अधिगमज।

जो सम्यक्त्व गुरु के उपदेश, प्रेरणा आदि निमित्तों की अपेक्षा नहीं रखता है वह निसर्गज है।

जो सम्यक्त्व गुरु के उपदेश आदि बाह्य निमित्तों की प्रधानता से होता है वह अधिगमज है।

इन दोनों सम्यक्त्वों में दर्शन मोहनीय का क्षय, क्षयोपशम या उपशमरूप अन्तरंग कारण समान है।

सम्यग्दर्शन के तीन भेद भी हैं— औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक।

सम्यग्दर्शन के [1]दस भेद भी माने हैं— आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ से उत्पन्न होने वाले आठ भेद और अवगाढ़ तथा परमावगाढ़ ये दस भेद हैं।

आज्ञा समुद्भव— दर्शन मोह के उपशान्त होने से ग्रंथ श्रवण के बिना केवल वीतराग भगवान की आज्ञा से ही जो तत्त्व श्रद्धान होता है, वह आज्ञा सम्यक्त्व है।

मार्ग सम्यग्दर्शन— रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग को कल्याणकारी समझकर श्रद्धान करना।

उपदेश सम्यग्दर्शन— तिरेसठ शलाका पुरुषों के पुराण के उपदेश से जो तत्त्व श्रद्धान उत्पन्न होता है।

सूत्र सम्यक्त्व— मुनि के चरित्र के अनुष्ठान करने वाले सूत्र को सुनकर श्रद्धान करना।

बीज सम्यक्त्व— जिन जीवादि पदार्थों के समूह या गणितादि विषयों का ज्ञान दुर्लभ है, उनका किन्हीं बीज पदों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके श्रद्धान करना।

संक्षेप सम्यक्त्व— पदार्थों के स्वरूप को संक्षेप से ही जान करके श्रद्धान करना।

विस्तार सम्यक्त्व— बारह अंगों को सुनकर श्रद्धान करना।

अर्थ सम्यक्त्व— अंग बाह्य आगमों को पढ़े बिना उनमें प्रतिपादित किसी पदार्थ के निमित्त से अर्थ का श्रद्धान करना।

अवगाढ़ सम्यक्त्व— अंग बाह्य और अंग प्रविष्ट दोनों ही प्रकार के श्रुत को जानकर श्रद्धान करना। यह सम्यक्त्व श्रुतकेवली के होता है।

---

१. आत्मानुशासन श्लोक ११।

परमावगाढ़ सम्यक्त्व— केवलज्ञान के द्वारा देखे गये पदार्थों के विषय में जो रुचि होती है, वह परमावगाढ़ सम्यक्त्व है अर्थात् केवली भगवान सम्पूर्ण विश्व को प्रत्यक्ष देखने वाले हैं, उनके सम्यक्त्व का नाम परमावगाढ़ सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व के आठ गुण—

संवेग— धर्म में प्रीति करना एवं संसार से भीति रखना।

निर्वेद— संसार, शरीर एवं भोगों से विरक्ति।

निन्दा— अपने दोषों के विषय में पश्चात्ताप।

गर्हा— किये गये दोषों को गुरु के आगे प्रकट करके निन्दा करना।

उपशम— क्रोधादि विकारों को शान्त करना।

भक्ति— सम्यग्दर्शन आदि के विषयों में अनुराग करना।

वात्सल्य— धर्मात्मा जन से प्रेमपूर्ण व्यवहार करना।

अनुकम्पा— सभी प्राणियों में दयाभाव रखना।

यह सम्यग्दर्शन मोक्ष महल पर चढ़ने के लिए प्रथम सीढ़ी है। इसके समान तीनों कालों में और तीनों जगत् में संसारी प्राणियों के लिए कोई भी कल्याणकारी उत्तम वस्तु नहीं है और मिथ्यात्व के समान तीनों लोकों में, तीनों कालों में कोई दु:खदायी वस्तु नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव मरकर एकेन्द्रिय, विकलत्रय, असैनी पंचेन्द्रिय जीवों में, नरक, तिर्यंच, मनुष्य गतियों में, स्त्री वेद, नपुंसक वेदों में, नीच कुल में जन्म नहीं लेता है। यदि पहले आयु बांधकर सम्यक्त्व प्राप्त किया है, तो प्रथम नरक में जा सकता है तथा तिर्यंच, मनुष्यों में भोगभूमि का तिर्यंच, मनुष्य हो जाता है।

सम्यग्ज्ञान

संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित पदार्थों का जानना सम्यग्ज्ञान है। इसके ग्यारह अंग, चौदह पूर्व रूप से भेद माने गये हैं अथवा प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार भेद माने हैं। इन चारों अनुयोगों में सम्पूर्ण द्वादशांग का सार आ जाता है।

प्रथमानुयोग— किसी एक महापुरुष के चरित का प्रतिपादन करने वाला, त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरित का वर्णन करने वाला पुण्य के कारणभूत, बोधि-समाधि के स्थानभूत प्रथमानुयोग है।

करणानुयोग— लोक-अलोक के विभाग को, दोनों कालों के परिवर्तन को और चारों गतियों को दर्पण के समान बतलाने वाला करणानुयोग है।

चरणानुयोग— गृहस्थों और मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के कारणों के प्रतिपादक शास्त्र चरणानुयोग कहलाते हैं।

द्रव्यानुयोग— जीव और अजीव तत्त्वों के, पुण्य और पाप को तथा बंध-मोक्ष के प्रतिपादक शास्त्र द्रव्यानुयोग कहलाते हैं।

श्री गुणभद्रसूरि कहते हैं कि—

[१]जो श्रुतस्कंधरूप वृक्ष अनेक धर्मात्मक पदार्थरूप फूल एवं फलों के भार से अतिशय झुका हुआ है, वचनोंरूप पत्तों से व्याप्त है, विस्तृत नयोंरूप सैकड़ों शाखाओं से युक्त है, उन्नत है तथा समीचीन एवं विस्तृत मतिज्ञानरूप जड़ से स्थिर है, उस श्रुतस्कंधरूप वृक्ष के ऊपर बुद्धिमान साधुओं को अपने मनरूपी बंदर को प्रतिदिन रमाना चाहिए अर्थात् चंचल मन को विषयों की ओर से खींचकर इस श्रुत के अभ्यास में लगाने से रागद्वेष की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। इससे संवरपूर्वक कर्मों की निर्जरा होकर मोक्षसुख की प्राप्ति होती है।

प्रस्तुत जैन भारती ग्रंथ में इन्हीं चारों अनुयोगों के अंश-अंश का वर्णन है।

सम्यक्चारित्र

दर्शनमोहरूपी अंधकार के नाश (उपशम, क्षय या क्षयोपशम) होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाने से जिसको सम्यग्ज्ञान प्रगट हो गया है, ऐसा भव्यजीव रागद्वेष को नष्ट करने के लिए चारित्र को धारण करता है। जिसका[२] आचरण किया जाता है, वह चारित्र है।

पापों की नाली के समान हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह से विरक्त होना सम्यक्चारित्र है।

चारित्र के भेद— वह सम्यक्चारित्र[३] सकल और विकल के भेद से दो प्रकार का है।

समस्त परिग्रह से रहित मुनियों के सकल चारित्र होता है।

परिग्रह सहित गृहस्थों के एकदेश चारित्र होता है।

श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि—"[४]सर्वथा सर्वदेश त्याग में लवलीन यह मुनि समयसारस्वरूप—शुद्धोपयोगरूप स्वरूप में आचरण करने वाला होता है और जो एकदेश विरति में लगा हुआ है, वह श्रावक उपासक कहलाता है।" उपासक के ग्यारह प्रतिमा नाम से ग्यारह भेद हैं। उनका वर्णन आगे करेंगे। पांचों पापों का एकदेश त्याग करना विकल चारित्र है।

---

१. अनेकान्तात्मार्थं प्रसवफलभारातिविनते।
वचःपर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते।।
समुत्तुङ्गे सम्यक् प्रततमतिमूले प्रतिदिनं।
श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम् ।। (आत्मानुशासन)

२. यत् चर्यते तच्चारित्रं।

३. "सकलं विकलं चरणं" रत्नकरण्डश्रावकाचार।

४. निरतः कार्त्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम्।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति।।४१।। (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

पांच अणुव्रतों का वर्णन

अहिंसाणुव्रत— जो मन, वचन, काय से और कृत, कारित, अनुमोदनारूप से संकल्पपूर्वक त्रसजीवों का घात नहीं करता है, वह अहिंसाणुव्रत है।

सत्याणुव्रत— जो स्थूल असत्य स्वयं नहीं बोलता है और ऐसा सत्य भी नहीं बोलता जो कि धर्म की हानि या पर की विपत्ति (हिंसादि) के लिए कारण हो, वह एकदेश सत्यव्रत है।

अचौर्याणुव्रत— जो रखी हुई, भूली हुई या गिरी हुई दूसरे की सम्पत्ति को बिना दिये हुए ग्रहण नहीं करता है, वह अचौर्य अणुव्रत है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत— जो पाप के भय से परस्त्री का त्याग कर देता है, वह चतुर्थ अणुव्रती है।

परिग्रह परिमाण अणुव्रत— धन, धान्य आदि परिग्रह का प्रमाण करके उससे अधिक में इच्छा रहित होना पाँचवां परिग्रह परिमाणव्रत है।

ये पाँच अणुव्रत नियम से स्वर्ग को प्राप्त कराने वाले हैं। 'अणुव्रत'[१] और महाव्रतों को ग्रहण करने वाला जीव देवायु का ही बंध करता है, शेष तीन आयु के बंध हो जाने पर ये व्रत हो नहीं सकते हैं।'

तीन गुणव्रत

पांच अणुव्रतों की रक्षा करने के लिए या उनकी वृद्धि के लिए तीन गुणव्रत होते हैं— दिग्व्रत, अनर्थदण्ड व्रत और भोगोपभोग परिमाण व्रत।

दिग्व्रत— सूक्ष्म पाप के निराकरण के लिए मरणपर्यंत दशों दिशाओं की मर्यादा करके उसके बाहर नहीं जाना दिग्व्रत है।

अनर्थदण्डव्रत— दिशाओं की मर्यादा के भीतर निष्फल पापोपदेश आदि क्रियाओं से विरक्त होना अनर्थदण्डव्रत है। उसके पाँच भेद हैं—

पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या।

पापोपदेश— तिर्यंचों को क्लेश देना, व्यापार करना, हिंसा, आरम्भ और छल-कपटसंबंधी कथा करना।

हिंसादान— कुल्हाड़ी, तलवार, कुदाली आदि हिंसा के उपकरणों का दान देना।

अपध्यान— रागद्वेष आदि से दूसरे का अशुभ चिंतवन करना।

दुःश्रुति— आरम्भ, परिग्रह, मिथ्यात्व आदि वर्धक शास्त्रों का सुनना।

प्रमादचर्या— निष्प्रयोजन पृथ्वी, जल आदि को नष्ट करना, वनस्पति तोड़ना आदि।

भोगोपभोग परिमाण व्रत— भोग और उपभोग संबंधी वस्तुओं का त्याग करना या कुछ काल के

१. "अणुवदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं।। (गोम्मटसारकर्मकांड)

लिए छोड़ना।

यम-नियम का स्वरूप— यावज्जीवन त्याग को यम और कुछ काल तक त्याग को नियम कहते हैं।

चार शिक्षाव्रत

देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और अतिथि संविभाग-व्रत।

देशावकाशिक— दिग्व्रत में प्रमाण किये हुए विशाल प्रदेश में ग्राम, गली, मुहल्ला आदि की सीमा करके प्रतिदिन या माह, आदि से आने-जाने का त्याग करना।

सामायिक— वन, गृह अथवा चैत्यालय आदि में चित्त की व्याकुलता रहित एकान्त स्थान में निर्मल बुद्धि श्रावक को सामायिक करना चाहिए।

प्रोषधोपवास व्रत— सर्वदा अष्टमी और चतुर्दशी के दिन व्रत करने की इच्छा से अनशन आदि चतुराहार का त्याग करना।

उपवास, प्रोषध और प्रोषधोपवास में भेद—

चार प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास है। दिन में एक बार भोजन करना प्रोषध है और उपवास करके धारणा एवं पारणा के दिन एकाशन करना प्रोषधोपवास है।

अतिथि संविभाग— गुणनिधि, तपोधन साधुओं को विधि तथा योग्य द्रव्यादि के द्वारा दान देना अतिथिसंविभाग व्रत है।

श्री समन्तभद्र स्वामी ने इस अतिथि संविभाग व्रत में भगवत् पूजा करने का उपदेश दिया है।

"आदर[1] सहित श्रावक को नित्य ही वांछित वस्तुदायक, कामविनाशक देवाधिदेव अरहंत देव की पूजा करना चाहिए। यह पूजा सम्पूर्ण दु:खों का नाश करने वाली है।"

सल्लेखना का स्वरूप

प्रतीकार रहित उपसर्ग आने पर, दुष्काल होने पर, बुढ़ापा अथवा रोग विशेष के आने पर, रत्नत्रय धर्म की आराधना करते हुए शरीर का त्याग करना सल्लेखना है।

श्रावक के बारह व्रतों के अंत में सल्लेखना करने का विधान है।

"मरण[2] के समय में होने वाली सल्लेखना को प्रेमपूर्वक सेवन करना चाहिए।"

वसुनन्दिश्रावकाचार आदि कई ग्रंथों में शिक्षाव्रत के चतुर्थ भेद में सल्लेखना व्रत को ले लिया है। यथा-

---

१. देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदु:खनिर्हरणम् ।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यं।।११९।।

२. मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता। (तत्त्वार्थसूत्र)

३. वसुनन्दिश्रावकाचार।

"वस्त्रमात्र[3] परिग्रह को रखकर और अवशिष्ट समस्त परिग्रह को छोड़कर अपने ही घर में अथवा जिनालय में रहकर जो श्रावक गुरु के समीप में त्रिकरणशुद्धिपूर्वक अपनी आलोचना करके पीने योग्य पदार्थ के सिवाय शेष तीन प्रकार के आहार का त्याग कर देता है, उसे सल्लेखना शिक्षाव्रत कहते हैं।"

तात्पर्य यह है कि आयु के अंत समय में क्रम से कषाय और काय को कृश करना सल्लेखना है। इसमें क्रम-क्रम से आहार-पानी का त्याग करते हुए णमोकार मंत्र का जाप्य करते हुए शरीर को छोड़ना सल्लेखना है। इसका बहुत बड़ा महत्व है। जो मनुष्य एक बार भी सल्लेखना विधि से मरण करता है, वह कम से कम एक या दो भव और अधिक से अधिक सात-आठ भव ग्रहण करता है, अनन्तर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

तत्त्वार्थ सूत्र में श्री उमास्वामी आचार्य ने कहा है कि "व्रती[4] को शल्य रहित होना चाहिए।"

शल्य के तीन भेद हैं — माया, मिथ्या और निदान।

माया — वंचना को माया कहते हैं।

मिथ्या — तत्त्वों का श्रद्धान न करना मिथ्यात्व कहलाता है।

निदान — विषय भोगों की आकांक्षा करना निदान कहलाता है।

"जो[2] शल्य रहित होकर पाँच अणुव्रत, रात्रि भोजन त्याग और सात शीलों को (तीन गुणव्रत, चार शिक्षा व्रतों को) अतिचार रहित पालता है, वही व्रती कहलाता है।"

अतिचार कितने हैं?

तत्त्वार्थ सूत्र की सातवीं अध्याय में सम्यक्त्व के पाँच अतिचार, बारह व्रतों के पाँच-पाँच अतिचार तथा सल्लेखना के पाँच अतिचार ऐसे ५+१२×५+५=७० अतिचार होते हैं। इन अतिचारों का प्रकरण वहीं से देख लेना चाहिए।

श्रावक की ग्यारह प्रतिमा

श्रावकों के लिए ग्यारह प्रतिमाएँ मानी गई हैं, अपनी-अपनी प्रतिमाओं के गुणधर्म पहले की प्रतिमाओं के गुणों के साथ क्रम से बढ़ते जाते हैं।

दर्शन प्रतिमा — अतिचार रहित सम्यक्त्व को पालने वाला, संसार, शरीर और भोगों से विरक्त, पंच परमेष्ठियों की चरण शरण को प्राप्त और व्रतों के मार्गरूप अष्ट मूलगुणों को पालने वाला दार्शनिक श्रावक होता है।

अन्यत्र पहली प्रतिमाधारी दार्शनिक श्रावक के लिए सप्तव्यसनों को त्याग करने का भी उपदेश है।

---

१. निःशल्यो व्रती। २. चारित्रसार पृ. ७।

३. 'जुयं मज्जं मंसं वेसा पारद्धि चोर परयारं।
दुग्गइगमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि।।५९।। वसुनन्दिश्रावकाचार।

४. भावसंग्रह ग्रंथ में व्रत प्रतिमा के प्रकरण में सामायिक विधि का वर्णन करते हुए देव पूजा को लिया है तथा अतिथि संविभाग व्रत में दान का विशद वर्णन है वहीं से देखना चाहिए।

जुआ[१], शराब, मांस, वेश्या, शिकार, चोरी और परदारासेवन ये सातों व्यसन दुर्गतिगमन के कारणभूत पाप हैं।

व्रत प्रतिमा— जो शल्य और अतिचार रहित, पाँच अणुव्रत और सात शीलरूप बारह व्रतों को धारण करता है, वह व्रतिक[२] कहलाता है।

सामायिक प्रतिमा— चार बार तीन-तीन आवर्त और चार प्रणाम करने वाला, कायोत्सर्ग से स्थित, यथाजात— बाह्याभ्यंतर परिग्रह से रहित, देव वंदना के आदि और अंत में बैठकर प्रणाम करने वाला, मन, वचन, काय से शुद्ध, ऐसा त्रिकाल में वंदना करने वाला श्रावक सामायिक प्रतिमा वाला है।

आगे देववंदना विधि के प्रकरण में इस सामायिक विधि को स्पष्ट करेंगे।

प्रोषधोपवास प्रतिमा— प्रत्येक महीने के दो अष्टमी, दो चतुर्दशी, ऐसे चारों पर्वों में अपनी शक्ति को न छिपाकर प्रोषधोपवास करना चाहिए।

सचित्त त्याग प्रतिमा— जो व्रती कच्चे मूल, फल, शाक, कोंपल, फूल आदि को नहीं खाता है, वह सचित त्यागी है।

रात्रिभुक्ति त्याग प्रतिमा— जो मनुष्य रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग कर देता है, वह छठी प्रतिमाधारी है।

ब्रह्मचर्य प्रतिमा— काम सेवन से विरक्त होकर स्त्रीमात्र का त्याग कर देना ब्रह्मचर्य प्रतिमा है।

आरंभ त्याग प्रतिमा— प्राणी हिंसा के कारणरूप नौकरी, खेती, व्यापार आदि आरंभ से विरक्त होना आरंभ त्याग प्रतिमा है।

परिग्रह त्याग प्रतिमा— दश प्रकार के परिग्रह में ममत्व बुद्धि को छोड़कर परिग्रह से विरक्त होना।

अनुमति त्याग प्रतिमा— जो आरंभ, परिग्रह अथवा विवाह आदि इस लोक संबंधी कार्यों में अनुमोदना नहीं करता है, वह अनुमति विरत प्रतिमाधारी है।

उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा— जो घर को छोड़ वन में जाकर गुरु के पास व्रतों को ग्रहण करके तप करता हुआ भिक्षावृत्ति से भोजन करता है और कौपीन तथा खण्डवस्त्र को धारण करने वाला है, वह उद्दिष्ट त्यागी प्रतिमाधारी कहलाता है।

इस प्रतिमाधारक के दो भेद हैं— क्षुल्लक और ऐलक।

क्षुल्लक कौपीन और खण्ड वस्त्र (छोटी चादर, जिससे सोते समय सिर से पैर तक सारा शरीर न ढंक सके) रखता है तथा एक कमण्डलु और मोर पंखों की पिच्छी भी रखता है।

ऐलक केवल लंगोटी मात्र रखता है, अन्य कोई वस्त्र उसके पास नहीं रहता। ऐलक के लिए केशों का लोच एवं पाणिपात्र में भोजन करना आवश्यक है।

"दिन में प्रतिमायोग धारण करना— नग्न होकर दिनभर कायोत्सर्ग करना, वीरचर्या— मुनि के समान गोचरी करना, त्रिकालयोग— गर्मी में पर्वत के शिखर पर, वर्षा में वृक्ष के नीचे, सर्दी में नदी के किनारे

१. वसुनन्दिश्रावकाचार पृ. ११२।

ध्यान करना, सिद्धान्त ग्रंथों का— केवली, श्रुतकेवली कथित, गणधर, प्रत्येक बुद्ध और अभिन्नदशपूर्वी साधुओं से निर्मित ग्रंथों का अध्ययन और रहस्य-प्रायश्चित्त शास्त्र का अध्ययन, इतने कार्यों में इन श्रावकों का अधिकार नहीं है।

श्रावक के तीन भेद

"श्रावक[1] के तीन भेद हैं— पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। पक्ष, चर्या और साधन के द्वारा ये तीन भेद हुए हैं।" अभ्यासरूप से अष्टमूलगुण आदि का पालन करना, देव, धर्म, गुरु का पक्ष रखना पक्ष है। कृष्यादि आरंभजन्य पापों को दूर करने के लिए पुत्रादि के ऊपर घर का भार छोड़कर प्रतिमारूप व्रतों का धारण करना चर्या है और ग्यारहवीं प्रतिमा का पालन करते हुए अन्त समय में समाधिमरण करना साधन है।

पाक्षिक— जिसके हिंसादि पांचों पापों का त्यागरूप व्रत है तथा जो अभ्यासरूप से श्रावक धर्म का पालन करता है, उसको पाक्षिक श्रावक या प्रारंभ देशसंयमी कहते हैं।

साधक— जिसका देशसंयम पूर्ण हो चुका है और जो आत्मध्यान में लीन होकर समाधिमरण करता है, उसको साधक श्रावक या निष्पन्न देशसंयमी कहते हैं।

पाक्षिक श्रावक के अष्टमूलगुण

गृहस्थ धर्म में जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का श्रद्धान करता हुआ, गृहस्थ हिंसा को छोड़ने के लिए सबसे पहले मद्य, मांस तथा पिप्पल, गूलर, कठूमर, बड़ और पाकर इन आठ (तीन मकार और पांच उदुम्बर फलों) का त्याग कर देवे। जो मनुष्य बिन्दु प्रमाण भी मधु को खाता है, वह सातग्रामों को जलाने के पाप से अधिक पाप को बांध लेता है। मदिरा और मांस तो स्पष्ट ही जीववध के स्थान और पाप की खान हैं, उदुम्बर फलों में भी हमेशा ही त्रस जीव पाये जाते हैं, इसलिए इनका त्याग ही श्रेयस्कर है।

प्रकारान्तर से अष्टमूलगुणों का वर्णन— "मद्य[2], मांस, मधु का त्याग, रात्रि भोजन का और पंच उदुम्बर फलों का त्याग ये पांच तथा पंचपरमेष्ठि को नमस्कार (देवदर्शन), जीव दया और पानी छानकर पीना, इस प्रकार से भी किन्हीं शास्त्रों में अष्ट मूलगुण माने गये हैं।"

श्री समन्तभद्रस्वामी द्वारा प्रतिपादित अष्ट मूलगुण— "मद्य[3], मांस, मधु के त्याग सहित पंच अणुव्रतों का पालन करना ये श्रावकों के आठ मूलगुण हैं, ऐसा गणधर आदि मुनियों ने कहा है।"

१. पाक्षिकादिभिदा त्रेधा श्रावकस्तत्र पाक्षिकः।
तद्धर्मगृह्यस्तन्निष्ठो नैष्ठिकः साधकः स्वयुक्।।२०।। (सागारधर्मा.)

२. मद्यफलमधुनिशाशन पंचफलीविरति पंचकाप्तनुती।
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः।।१८।। (सागारधर्मा.)

३. मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः।। (रत्नकरण्डश्रावकाचार)

४. अष्टावनिष्टदुस्तर-दुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ।। (पुरुषार्थसिद्धयुपाय)

श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि— "दु:खदायक और पापों के स्थान मद्य, मांस, मधु और पांच उदुम्बर फल इन आठ पदार्थों का परित्याग करके निर्मल बुद्धि वाले पुरुष जिनधर्म के उपदेश को सुनने के पात्र होते हैं।"[४] आचार्यकल्प आशाधर जी ने भी इसी को स्पष्ट किया है—

"इस प्रकार से मद्यपान आदि महापापों को जीवनपर्यंत के लिए छोड़कर विशुद्ध बुद्धि वाला श्रावक उपनयन संस्कार (यज्ञोपवीत) से सुसंस्कृत होकर द्विज (गर्भ और व्रत से जन्म लेने वाला) होता हुआ जिनधर्म सुनने के योग्य होता है।"[१]

सागारधर्मामृत में पाक्षिक श्रावक को देव पूजा, दान और स्वाध्याय करने का उपदेश दिया है।

नैष्ठिक श्रावक की ग्यारह प्रतिमा— 'नैष्ठिक श्रावक अप्रत्याख्यानावरण कषायों की तरतमता से दर्शनप्रतिमा आदि ग्यारह प्रतिमाओं को धारण करता हुआ उत्तम लेश्या वाला होता है।[२]

साधक श्रावक कब होता है?— 'नैष्ठिक श्रावक, ग्यारह प्रतिमा वाला अंतिम ग्यारहवीं प्रतिमा में साधक कहलाता है।'[३]

श्रावकों की त्रेपन क्रियाएँ

८ मूलगुण, १२ व्रत, १२ तप, १ समता, ११ प्रतिमा, ४ प्रकार का दान, १ जलगालन, १ रात्रि भोजन त्याग, ३ दर्शन, ज्ञान और चारित्र इस प्रकार श्रावक की त्रेपन क्रियाएं हैं[४]— ८+१२+१२+१+११+४+१+१+३=५३

चार आश्रम

[५]"ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक जैनों के ये चार आश्रम होते हैं, ऐसा सप्तम उपासकाध्ययन अंग में बताया गया है।"

ब्रह्मचर्य आश्रम

ब्रह्मचारी के पाँच भेद— उपनयन, अवलम्ब, अदीक्षा, गूढ़ और नैष्ठिक।

उपनयन ब्रह्मचारी— जो मौंजी बंधन विधि के अनुसार गणधर सूत्र को (यज्ञोपवीत को) धारण कर उपासकाध्ययन आदि शास्त्रों का अभ्यास करते हैं और फिर गृहस्थ धर्म स्वीकार करते हैं, उन्हें उपनयन

---

१. यावज्जीवमिति त्यक्त्वा महापापानि शुद्धधी:।
जिनधर्मश्रुतेर्योग्य: स्यात्कृतोपनयो द्विजै:।।१९।। (सागारधर्मामृत)

२. सागारधर्मामृत पृ. ४९३।

३. सागारधर्मामृत पृ. ४९३।

४. गुणवयतवसमपडिमा, दाणं जलगालणं च अणत्थमियं।
दंसणणाणचरित्तं किरिया तेवण्ण सावया भणिया।।१३७।। (रयणसार गा. १३७)।

५. ब्रह्मचारी, गृहस्थश्च, वानप्रस्थश्च भिक्षुक:।
इत्याश्रमास्तु जैनानां, सप्तमांगाद्विनि:सृता:।। (चारित्रसार पृ. ४१)

ब्रह्मचारी कहते हैं।

अवलम्ब— क्षुल्लकरूप से समस्त शास्त्रों का अध्ययन करने वाले (बाद में गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले) अवलम्ब ब्रह्मचारी हैं।

अदीक्षा— जो ब्रह्मचारी के वेश को धारण किये बिना ही शास्त्रों का अभ्यास करते हैं, फिर गृहस्थ धर्म स्वीकार करते हैं, उन्हें अदीक्षा ब्रह्मचारी कहते हैं।

गूढ़ ब्रह्मचारी— जो बाल्यावस्था में ही गुरु के पास रहकर शास्त्रों का अध्ययन करते हैं, नग्न रहकर ही संयम का पालन करते हैं (किन्तु दीक्षा नहीं ली है) पुनः कुछ कारणवश गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं, वे गूढ़ ब्रह्मचारी कहलाते हैं।

नैष्ठिक— जो व्रत के चिन्ह शिरोलिंग (चोटी) उरोलिंग (जनेऊ) कटिलिंग (लंगोटी, करधनी) को धारण करते हैं, सदा भिक्षावृत्ति से भोजन करते हैं, जो स्नातक व व्रती हैं, सदा जिनपूजा आदि के करने में तत्पर हैं, वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं।

विशेष— इन चार आश्रमों में सबसे प्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम बतलाया गया है, इसका अभिप्राय यह है कि कोई भी पहले कुमारकाल में ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश कर अर्थात् गुरुकुल आदि में रहकर यज्ञोपवीत संस्कार से सुसंस्कृत होकर शास्त्रों का अभ्यास करता है पुनः यदि उसकी इच्छा हो, तो मुनि बन जाता है, जैसे भद्रबाहु श्रुतकेवली और जिनसेनाचार्य आदि के उदाहरण हैं। कोई गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं, जैसे जीवंधर कुमार आदि।

इसके बाद दूसरे आश्रम का वर्णन करते हैं।

गृहस्थ आश्रम

गृहस्थों के छह आर्यकर्म होते हैं— इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप।

इज्या— अरहंत भगवान् की पूजा को इज्या कहते हैं।

इज्या के पाँच भेद हैं— नित्यमह, चतुर्मुख, कल्पवृक्ष, आष्टान्हिक और ऐन्द्रध्वज।

नित्यमह— प्रतिदिन शक्ति के अनुसार अपने घर से गंध, पुष्प, अक्षत आदि ले जाकर अर्हंत की पूजा करना, जिनभवन, जिन प्रतिमा का निर्माण कराना, मुनियों की पूजा करना आदि।

चतुर्मुख— मुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा जो पूजा की जाती है, उसे चतुर्मुख कहते हैं। इसी को ही महाभद्र और सर्वतोभद्र भी कहते हैं।

कल्पवृक्ष— समस्त याचकों को किमिच्छिक— इच्छानुसार दान देकर चक्रवर्ती द्वारा जो पूजा की जाती है, उसे कल्पवृक्ष कहते हैं।

आष्टान्हिक— नन्दीश्वर पर्व के दिनों की पूजा को आष्टान्हिक पूजा कहते हैं।

---

१. 'तत्रेज्या दशविधाः'।। शास्त्रसार समुच्चय पृ. २१५।

ऐन्द्रध्वज— इन्द्र, प्रतीन्द्र आदि के द्वारा की गई पूजा ऐन्द्रध्वज कहलाती है।

[१]शास्त्रसारसमुच्चय में पूजा के दश भेद भी माने हैं यथा—

देव-इन्द्रों द्वारा की जाने वाली अर्हंत की पूजा '**महाभद्र**' है।

इन्द्रों द्वारा की जाने वाली पूजा '**इन्द्रध्वज**' है।

चारों प्रकार के देवों द्वारा की जाने वाली पूजा '**सर्वतोभद्र**' है।

चक्रवर्ती द्वारा की जाने वाली पूजा '**चतुर्मुख**' है।

विद्याधरों द्वारा की जाने वाली पूजा '**रथावर्तन**' है।

महामण्डलीक राजाओं द्वारा की जाने वाली पूजा '**इन्द्रकेतु**' है।

मण्डलेश्वर राजाओं द्वारा की जाने वाली पूजा '**महापूजा**' है।

अर्धमण्डलेश्वर राजाओं द्वारा होने वाली पूजा '**महामहिम**' है।

नन्दीश्वर द्वीप में जाकर कार्तिक, फाल्गुन, आषाढ़ में इन्द्रों द्वारा होने वाली पूजा '**आष्टान्हिक**' है।

स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनकर अष्टद्रव्य से प्रतिदिन मंदिर में जिनपूजा करना '**दैनिक पूजा**' है।

मंदिर निर्माण, प्रतिष्ठा कराना, जीर्णोद्धार, मंदिर के लिए जमीन आदि का दान, पूजा के उपकरण आदि देना, सब दैनिक पूजा में सम्मिलित हैं और भी पूजन के बहुत से विशेष भेद होते हैं।

वार्ता— असि— तलवार आदि शस्त्र, मसि— लिखने का काम, कृषि— खेती, वाणिज्य— व्यापार, विद्या— पढ़ाकर आजीविका और शिल्प— कला-कौशल आदि से आजीविका करना, धन उपार्जन करना वार्ता है।

दत्ति— दान देने को दत्ति कहते हैं।

दत्ति के चार भेद हैं— दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और सकलदत्ति।

दयादत्ति— दु:खी प्राणियों को दयापूर्वक अभयदान देना।

पात्रदत्ति— रत्नत्रयधारक मुनियों को नवधाभक्तिपूर्वक आहार देना, ज्ञान व संयम के उपकरण शास्त्र, पिच्छी, कमण्डलु आदि देना तथा औषधदान, वसतिका दान देना।

समदत्ति— अपने समान आचरण वाले गृहस्थों के लिए कन्या, भूमि, सुवर्ण आदि देना।

सकलदत्ति— अपनी निज की सन्तान परम्परा को कायम रखने के लिए अपने पुत्र को या दत्तक पुत्र को धन और धर्म समर्पण कर देना सकलदत्ति है, इसे ही अन्वयदत्ति कहते हैं।

स्वाध्याय— तत्त्वज्ञान को पढ़ना, पढ़ाना, स्मरण करना स्वाध्याय है।

संयम— पाँच अणुव्रतों में अपनी प्रवृत्ति करना संयम है।

तप— उपवास आदि बारह प्रकार का तपश्चरण करना 'तप' है।

आर्यों के इन षट्कर्म में तत्पर रहने वाले गृहस्थ कहलाते हैं और वे दो प्रकार के होते हैं— जाति

क्षत्रिय, तीर्थ क्षत्रिय।

चार वर्णों में से क्षत्रिय वर्ण में जन्म लेने वाले जाति क्षत्रिय हैं और तीर्थंकर, नारायण, चक्रवर्ती आदि तीर्थ क्षत्रिय कहलाते हैं।

वानप्रस्थ आश्रम

जो दिगम्बर रूप को धारण न करके खंडवस्त्र को धारण करते हैं अर्थात् क्षुल्लक, ऐलक अवस्था में रहते हैं, वे वानप्रस्थ कहलाते हैं।

भिक्षुक आश्रम

भिक्षुक— भगवान अरहंत देव की दिगम्बर अवस्था को धारण करने वाले भिक्षु कहलाते हैं।

भिक्षु के चार भेद होते हैं— अनगार, यति, मुनि और ऋषि।

साधारण साधुओं को '**अनगार**' कहते हैं।

जो उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी में विराजमान हैं, उन्हें '**यति**' कहते हैं।

अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञानियों को '**मुनि**' कहते हैं।

जिन्हें ऋद्धियाँ प्राप्त हो चुकी हैं, उन्हें '**ऋषि**' कहते हैं।

ऋषि के चार भेद हैं— राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि।

जिन्हें विक्रिया ऋद्धि और अक्षीण ऋद्धि प्राप्त हो चुकी है, उन्हें '**राजर्षि**' कहते हैं।

बुद्धि और औषधि ऋद्धि को धारण करने वाले '**ब्रह्मर्षि**' हैं।

आकाशगामिनी ऋद्धि को धारण करने वाले '**देवर्षि**' हैं।

केवलज्ञानी '**परमर्षि**' कहलाते हैं।

इन चार आश्रमों का वर्णन चारित्रसार ग्रंथ के आधार से किया गया है।

श्रावक के चार धर्म

श्रावक धर्म चार प्रकार का है— पूजन, दान, शील और उपवास[१]।

देव, शास्त्र, गुरु की विधिवत् अष्टद्रव्यों से अर्चना '**पूजन**' है।

अपने तथा अन्य के उपकार के लिए जो आहार आदि पदार्थों का त्याग किया जाता है, वह '**दान**' है।

अपने ग्रहण किये गये व्रतों की रक्षा करना '**शील**' है।

अष्टमी, चतुर्दशी, पंचमी आदि को पंचेन्द्रियों के विषय, कषाय तथा चारों प्रकार के आहार का त्याग

---

१. श्रावकधर्मश्चतुर्विध:।।२२।। शास्त्रसार स. पृ. २१४।

२. देवपूजादिषट्कर्मनिरत: कुलसत्तम:।
आद्यषट्कर्मनिर्मुक्त: श्रावक: परमो भवेत्।। ९४।। उमास्वामी श्रावका. पृ. ३५

करना '**उपवास**' है। केवल जल ग्रहण करना '**अनुपवास**' है और एक बार भोजन करना '**एकाशन**' है।

श्रावक की षट् आवश्यक क्रियाएँ

जो पुरुष[2] देवपूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन षट्कर्मों के करने में तल्लीन रहता है, जिसका कुल उत्तम है, वह चूली, उखली, चक्की, बुहारी आदि गृहस्थ की नित्य षट् आरंभ क्रियाओं से होने वाले पाप से मुक्त हो जाता है तथा वही उत्तम श्रावक कहलाता है।

जो भव्य बिंबाफल के समान वेदी बनवाकर उसमें जौ प्रमाण प्रतिमा विराजमान करता है, वह मुक्ति को समीप कर लेता है।

पूर्व या उत्तर दिशा की तरफ मुख करके और तिलक लगाकर जिनपूजन करना चाहिए।

शुद्ध[1] जल, इक्षुरस, घी, दूध, दही, आम्ररस, सर्वौषधि और कल्कचूर्ण आदि से भाव भक्तिपूर्वक भगवान जिनेन्द्र का अभिषेक करना चाहिए।

खण्डित वस्त्र, गला हुआ, फटा और मैला वस्त्र पहनकर दान-पूजन, होम और स्वाध्याय नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसे खंडित आदि वस्त्रों को पहनकर पूजन करने से उसका फल नहीं मिलता है।

प्रश्न— पुष्प, धूप, दीप, फल आदि सचित्त द्रव्यों से भगवान की पूजा करने से पाप संभव है?

उत्तर— जो जिनपूजा असंख्य भवों के पापों को नष्ट करने में समर्थ है, उस पूजा से क्या यत् किंचित् पूजन के निमित्त से होने वाले सावद्य पाप नष्ट नहीं होंगे? अवश्य हो जायेंगे। हाँ! इतना अवश्य है कि प्रत्येक कार्यों में यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति होनी चाहिए।

'कुटुम्ब पोषण और भोगोपभोग के लिए किया गया आरंभ पाप उत्पन्न करने वाला होता है परन्तु दान, पूजा आदि धर्म कार्यों में किया गया आरंभ पाप बंध के लिए नहीं होता है।'[2]

जो[3] मनुष्य धनिया के पत्र बराबर जिनभवन बनवाकर उसमें सरसों के बराबर भी जिन प्रतिमा की स्थापना करता है, वह तीर्थंकर पद पाने के योग्य पुण्य को प्राप्त करता है, तब जो कोई अति उन्नत और परिधि, तोरण आदि से संयुक्त जिनेन्द्र भवन बनवाता है, उसका समस्त फल वर्णन करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है?

पूजन के समय जिन भगवान के आगे जलधारा को छोड़ने से पापरूपी मैल का क्षालन होता है।

चन्दन के चर्चन से मनुष्य सौभाग्य से सम्पन्न होता है।

अक्षतों से पूजा करने वाला मनुष्य अक्षय नौ निधि और चौदह रत्नों का स्वामी चक्रवर्ती होता है।

---

१. शुद्धतोयेक्षुसर्पिर्भिर्दुग्धदध्याम्रजैः रसैः।
सर्वौषधिभिरुच्चूर्णैर्भावात् संस्नापयेज्जिनम्।।१३४।। उमा. श्राव. पृ. ५३

२. उमास्वामी श्रावकाचार, पृ. ५७।

३. वसुनन्दिश्रावकाचार, पृ. १४५।

अक्षीण लब्धि से सम्पन्न होकर अंत में मोक्ष सुख को पाता है।

पुष्पों से पूजा करने वाला मनुष्य कमल के समान सुन्दर मुख वाला, पुष्पों की सुन्दर मालाओं से समर्चित देह वाला कामदेव होता है।

नैवेद्य के चढ़ाने से शक्तिमान, कान्ति और तेज से सम्पन्न, अति सुन्दर होता है।

दीपों से पूजा करने वाला मनुष्य, केवलज्ञानरूपी प्रदीप के तेज से समस्त जीवादि तत्त्वों के रहस्य को प्रकाशित करने वाला केवली होता है।

धूप से पूजा करने वाला मनुष्य त्रैलोक्यव्यापी यश वाला होता है।

फलों से पूजा करने वाला परम निर्वाणरूप फल को प्राप्त कर लेता है।

जिनमंदिर में घण्टा समर्पण करने से घण्टाओं के शब्दों से व्याप्त श्रेष्ठ सुरविमानों में जन्म लेता है।

मंदिर में छत्र प्रदान करने से पृथ्वी को एकछत्र भोगता है।

चमरों के प्रदान से उस पर चमर ढोरे जाते हैं।

जिन भगवान का अभिषेक करने से मनुष्य सुदर्शनमेरु पर क्षीरसागर के जल से इन्द्रों द्वारा अभिषेक को प्राप्त करता है।

जिनमंदिर में विजय पताकाओं के देने से सर्वत्र विजयी षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती होता है।

अधिक कहने से क्या? जिन पूजन के फल से संसार के सभी अभ्युदय प्राप्त हो जाते हैं और परम्परा से मुक्ति को भी प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार से संक्षेप में 'देवपूजा' नाम की आवश्यक क्रिया का वर्णन हुआ।

गुरु की उपासना

"अपने[१] मनोवांछित पदार्थ सिद्ध करने के लिए तथा इस लोकसंबंधी समस्त संशयरूप अंधकार का नाश करने के लिए एवं परलोक में सुख प्राप्त करने के लिए गुरु की सेवा सदा करते रहना चाहिए।"

उत्तम, मध्यम, जघन्य कैसे ही मनुष्य हों परन्तु बिना गुरु के वे मनुष्य नहीं कहलाते, इसलिए प्रत्येक मनुष्य को सर्वोत्कृष्ट गुरु की सेवा अवश्य करते रहना चाहिए।

"गुरु[२] भक्तिरूपी संयम से श्रावक घोर संसार समुद्र को पार कर लेते हैं और अष्ट कर्मों का छेदन कर देते हैं पुनः जन्म-मरण के दुःखों से छूट जाते हैं।"

---

१. 'गुरुसेवा विधातव्या मनोवांछितसिद्धये।
संशयध्वांतनाशार्थमिहामुत्र सुखाय च'।।१८३।। उमा.श्रा.पृ. ७१।

२. 'गुरुभक्तिसंजमेण य तरंति संसारसायरं घोरं।
छिण्णंति अट्ठकम्मं जम्मणमरणं ण पावेंति'।।

स्वाध्याय

स्वाध्याय भव्य जीवों को ज्ञान देने वाला है, उसके पाँच भेद हैं — वाचना — पढ़ना-पढ़ाना। पृच्छना — प्रश्न करना। अनुप्रेक्षा — पढ़े हुए का बार-बार चिंतवन करना। आम्नाय — शुद्ध पाठ रटना और धर्मोपदेश — धर्म का उपदेश देना।

संयम

इन्द्रिय और मन पर नियंत्रण करना और जीवदया पालना संयम है। संयम के दो भेद हैं — इन्द्रिय संयम और प्राणिसंयम।

पंचेन्द्रिय के विषयों का त्याग करना और मन को वश में रखना इन्द्रिय संयम है। पाँच स्थावर और त्रसकाय ऐसे षट्काय के जीवों की दया पालना प्राणिसंयम है।

तप

कर्म निर्जरा के लिए किया गया तपश्चरण 'तप' कहलाता है। तप के दो भेद हैं — बाह्य और आभ्यन्तर।

बाह्य तप के छह भेद हैं — **अनशन** — उपवास करना, **अवमौदर्य** — भूख से कम खाना, **वृत्तपरिसंख्यान** — घर, गली अथवा अन्य पदार्थों का नियम करके आहार ग्रहण करना, **रसपरित्याग** — घी, दूध आदि रसों में एक, दो या सभी रसों का त्याग करना।

विविक्त शय्यासन — एकान्त स्थान में या गुरु के सानिध्य में शयन आसन करना।

कायक्लेश — कुक्कुट आसन, पद्मासन, खड्गासन, प्रतिमायोग आदि से ध्यान करना।

आभ्यन्तर तप के छह भेद हैं —

प्रायश्चित्त — व्रत आदि में दोष लग जाने से गुरु से उसका दण्ड लेना। **विनय** — रत्नत्रयधारकों की विनय करना, **वैयावृत्य** — आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि व्रतीजनों की सेवा करना, **स्वाध्याय** — शास्त्रों का पठन-पाठन आदि करना, **व्युत्सर्ग** — पापों के कारणरूप उपधि — परिग्रह का त्याग करना, **ध्यान** — पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत आदि प्रकार से ध्यान करना।

इन बारह प्रकार के तपों का एकदेशरूप से शक्ति के अनुसार श्रावकों को भी अनुष्ठान करना चाहिए। मुख्यतया इसका अनुष्ठान मुनियों में ही होता है।

दान

स्वपर के अनुग्रह के लिए धन का त्याग करना दान है।

दान के चार भेद हैं — आहारदान, ज्ञानदान, औषधिदान, अभयदान।

उत्तम आदि पात्रों में इन चारों दानों को देना उत्तम दान है।

इस प्रकार से जो गृहस्थ श्रावक नित्यप्रति षट् आवश्यक क्रियाओं को आदरपूर्वक करता है, वह चक्की, उखली, चूल्ही, बुहारी और जल भरना, गृहारम्भ के इन पाँच पापों से और द्रव्य कमाना इस छठे पाप से अर्थात् षट् आरंभजनित पापों से छूट जाता है।

इस तरह उमास्वामी श्रावकाचार के अनुसार इन छट् आवश्यक क्रियाओं का वर्णन किया है।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी रयणसार[५] में कहते है कि—

सुपात्र को चार प्रकार का दान देना और श्री देवशास्त्रगुरु की पूजा करना श्रावकधर्म में श्रावक के ये दो कर्त्तव्य प्रमुख हैं, इन दो कर्त्तव्यों के बिना श्रावक नहीं हो सकता है, वैसे ही मुनियों के कर्त्तव्यों में ध्यान और अध्ययन ये दो कर्त्तव्य मुख्य हैं, इन दो कार्यों के बिना मुनि, मुनि नहीं हो सकता है।

पूजा के फल से यह मनुष्य तीनों लोकों में पूज्य हो जाता है और सुपात्र दान के फल से तीनों लोकों में सारभूत उत्तम सुखों को भोगता है।

भोजन— आहारदान देने मात्र से ही श्रावक धन्य कहलाता है तथा पंचाश्चार्य को प्राप्त होता हुआ देवताओं से पूज्य होता है।[२] एकमात्र जिनलिंग को देखकर आहार दान देना चाहिए, उस समय पात्र-अपात्र की परीक्षा करने से क्या प्रयोजन?

"जो भव्यजीव मुनीश्वरों के आहारदान के पश्चात् अवशेष अन्न को प्रसाद समझकर सेवन करता है, वह संसार के सारभूत उत्तम सुखों को प्राप्त होता है और क्रम से मोक्ष को प्राप्त करता है, ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है।"[३]

"इस भरत क्षेत्र के अवसर्पिणी के पंचम काल में श्री मुनीश्वरों को प्रमाद रहित धर्मध्यान होता है, ऐसा जिनवचन है, जो नहीं मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।"[४]

"आज भी रत्नत्रय से शुद्ध साधु आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपद को और लौकान्तिक पद को प्राप्त कर

---

१. दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मो ण सावया तेण विणा।
झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मं ण तं बिणा तहा सोवि।।११।।

२. दाणं भोयणमेत्तं दिण्णइ धण्णो हवेइ सायारो।
पत्तापत्तविसेसं सदंसणे किं वियारेण।।१५।। रयणसार।

३. जो मुणिभुत्तवसेसं भुंजइ सो भुंजए जिणुवदिट्ठं।
संसारसारसोक्खं कमसो णिव्वाणवरसोक्खं।।२२।।

४. भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी।।७६।।

५. अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं।
लोयंत्तिय देवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति।।७७।। मोक्षपाहुड़ पृ. २७५।

६. देवे थुवइ वियाले पव्वे सुपोसहोवासं।
अतिहीणं संविभागे मरणंते कुणइ सल्लिहणं।।३५५।। भावसं. पृ. ८१।

लेते हैं पुन: वहाँ से च्युत होकर मोक्ष चले जाते हैं अर्थात् एक भवावतारी हो जाते हैं।"[५]

'श्रीदेवसेन' विरचित भावसंग्रह में पंचम गुणस्थान के प्रकरण में शिक्षाव्रतों का वर्णन करते हुए सामायिक व्रत का वर्णन किया है कि—

"तीनों[१] कालों में अरहन्त भगवान की स्तुति करना, पर्व में प्रोषधोपवास करना, अतिथियों को दान देना और मरण के अंत में सल्लेखना ग्रहण करना।"

श्री वामदेव विरचित भावसंग्रह में पंचम गुणस्थान का वर्णन करते हुए व्रत प्रतिमा के लक्षण में शिक्षाव्रत में प्रथम सामायिक विधि का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

"प्रतिदिन[२] तीनों कालों में श्रावक जिनपूजापूर्वक सामायिक करें" क्योंकि—

"जिनपूजा[३] के बिना सभी सामायिक क्रियाएँ दूर ही हैं अर्थात् नहीं हो सकती हैं।" उसी का संक्षिप्त वर्णन—

प्रात:काल उठकर शौच, आचमनपूर्वक प्रभातिक विधि करें। शुद्ध जल से स्नान कर मंत्र-स्नान (मंत्रपूर्वक संध्या-वंदन विधि) और व्रत स्नान ऐसे तीन स्नान करें, धुले हुए वस्त्र पहनकर जिनमंदिर में जाकर नि:सहि मंत्र का उच्चारण करते हुए प्रवेश करें और ईर्यापथ शुद्धि करके जिनेन्द्र भगवान का स्तवन करें पुन: बैठकर सकलीकरण विधि करें।

पूजा-पात्र, पूजा-द्रव्य आदि को शुद्ध करके पंचामृत अभिषेक पाठ में कही गई विधि के अनुसार जिनेन्द्र भगवान का विधिवत् पंचामृत अभिषेक करें पुन: अष्टद्रव्य से पूजा करके अर्घ्य प्रदान करके शांतिधारा करें और पुष्पांजलि क्षेपण करें। पूजन में अष्टद्रव्य से अर्चन और अर्घ्य के बाद शांतिधारा, पुष्पांजलि करना[३] चाहिए जो कि शास्त्रोक्त है—

पुन: अपनी रुचिपूर्वक एक-दो या कई पूजन करके पंचनमस्कार मंत्र द्वारा १०८ पुष्पों से या लवंगों से जाप्य करें। सिद्धचक्र यंत्र आदि यंत्रों की पूजा, जाप्य आदि करके चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति बोलकर शान्ति भक्ति, समाधि भक्ति करें और विसर्जन विधि करें। अनन्तर अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त या जितना अवकाश है, उतने काल तक स्वस्थचित्त से अपनी शुद्ध आत्मा का ध्यान करें।

अनन्तर श्रुतपूजा, गुरुपूजा करके आर्यिका और ऐलक आदि की विधिवत् पूजा करें।

इस प्रकार से श्रावक की सामायिक विधि है। विशेष— संहिता-शास्त्रों में और प्रतिष्ठाशास्त्रों में भी यही विधि नित्य पूजनविधि में कही गई है। मतलब यह है कि यदि श्रावक इस विधि के अनुसार पूजन करता है तो सामायिक विधि उसी में सम्मिलित होने से उसकी सामायिक विधि भी वही कहलाती है। 'सामायिक'[४] नाम की पुस्तक में 'पूजामुखविधि' और 'पूजाअन्त्यविधि' में विधि करने का स्पष्टीकरण है। श्रावक की पूजनविधि

---

१. सामायिकं प्रकुर्वीत कालत्रये जिनं प्रति।
श्रावको हि जिनेन्द्रस्य जिनपूजा पुर:सरम् ।।४६३।। भावसं. वामदेवकृ. पृ. १९५।

२. "जिनपूजां बिना सर्वा दूरा सामायिकी क्रिया।" भावसंग्रह, वामदेवकृत पृ. १९५।

३. अर्घ्य के बाद शांतिधारा और पुष्पांजलि करने की प्रथा दक्षिण में सर्वत्र है, उत्तर में प्राय: कम है।

४. वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला से प्रकाशित 'सामायिक' पुस्तक मंगाकर देखना चाहिए।

में प्रारंभ में ईर्यापथ शुद्धि और सिद्धभक्ति करना चाहिए। अनन्तर विधिवत् पंचामृत अभिषेक और अष्टद्रव्य से पूजन करके चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शान्तिभक्ति करना चाहिए यही विधि श्री पूज्यपाद स्वामीकृत पंचामृताभिषेक पाठ में भी पाई जाती है।

तृतीय अतिथिसंविभाग व्रत में दान का वर्णन—

पात्र, दातार, दानविधि, दातव्य— देने योग्य पदार्थ और दान का फल ये पाँच अधिकार होते हैं।

पात्र के तीन भेद हैं— उत्तम, मध्यम और जघन्य। रत्नत्रयधारी निर्ग्रंथ दिगम्बर साधु उत्तम पात्र हैं, ग्यारह प्रतिमा में से कोई भी प्रतिमाधारी श्रावक मध्यम पात्र हैं एवं अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं।

जप, तप आदि से सहित किन्तु सम्यक्त्व से रहित कुपात्र हैं एवं सम्यक्त्व, शील तथा व्रतों से रहित जीव अपात्र हैं।

दातारों के गुण— श्रद्धा, भक्ति, संतोष, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और शक्ति, ये सात गुण हैं।

दानविधि— प्रतिग्रह— पड़गाहन करना, उच्च स्थान देना, पाद-प्रक्षालन करना, पूजा करना, प्रणाम करना, मन:शुद्धि, वचन शुद्धि, कायशुद्धि और भोजन की शुद्धि कहना, ये नवधा भक्ति कहलाती है। इस नवधाभक्ति के हुए बिना उत्तम साधु आहार नहीं करते हैं।

दातव्य वस्तु— आहार, औषधि, शास्त्र और अभयदान ये दोनों योग्य हैं।

दान का फल— "सम्यग्दृष्टि[1] के द्वारा पात्रों में दिया गया दान स्वर्ग, मोक्ष फल को प्रदान करता है। कुपात्र में दिया गया दान फल रहित है एवं अपात्र में दिया गया दान अत्यन्त दु:ख को देने वाला है।"

गृहस्थ धर्म को धारण करने वाले पुरुष का लक्षण— "न्यायपूर्वक[2] धन कमाने वाला, गुणों से गुरु— माता-पिता का सम्मान एवं गुरुओं की, मुनियों की पूजा करने वाला, सत्य वचन बोलने वाला, परस्पर विरोध रहित धर्म, अर्थ और काम, इन तीन वर्गों को सेवन करने वाला, तीन पुरुषार्थ के योग्य, स्त्री, ग्राम और घर जिसके हैं, ऐसा लज्जाशील, शास्त्रोक्त योग्य आहार तथा विहार करने वाला, आर्य पुरुषों की संगति करने वाला, बुद्धिमान, दूसरों द्वारा किये हुए उपकार को मानने वाला, इन्द्रियों को वश में रखने वाला, धर्मविधि को सुनने वाला, दयालु और पापों से भयभीत पुरुष ही गृहस्थ धर्म को धारण करने के लिए योग्य है।

सूतक-पातक वर्णन

बालक का जन्म होने पर जो घरवालों को और कुटुम्बियों को कुछ कालावधि के लिए देवपूजा,

---

१. वसुनन्दि श्रावकाचार।

२. "न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भजन्,
अन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणी स्थानालयो ह्रीमय:।
युक्ताहारविहार आर्यसमिति: प्राज्ञ: कृतज्ञो वशी,
शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभी: सागारधर्मं चरेत्।।११।। सागारधर्मामृत, पृ. २०।

आहारदान आदि का कार्य वर्जित किया जाता है, उसी का नाम सूतक है एवं किसी के मरण के बाद जो अशौच होता है, उसे पातक संज्ञा है। यह सूचक-पातक आर्षग्रंथों से मान्य है। व्यवहार में जन्म-मरण दोनों के अशौच को सूतक शब्द से जाना जाता है।

जातीय बन्धुओं में प्रत्यासन्न और अप्रत्यासन्न ऐसे दो भेद होते हैं। चार पीढ़ी तक के बंधुवर्ग प्रत्यासन्न या समीपस्थ कहलाते हैं, इसके आगे अप्रत्यासन्न कहलाते हैं।

जन्म का सूतक चार पीढ़ी वालों तक के लिए १० दिन का है। पाँचवी पीढ़ी वालों को ६ दिन का, छठी पीढ़ी वालों को ४ दिन का और सातवीं पीढ़ी वालों को ३ दिन का है। इससे आगे वाली पीढ़ी वालों के लिए सूतक नहीं है, ऐसे ही मरण का सूतक चार पीढ़ी वालों तक के लिए १० दिन का, पाँचवी पीढ़ी के लिए ६ दिन का आदि है।

जन्म का सूतक चल रहा है, इसी बीच परिवार में मरण का सूतक आ जाने पर वह जन्म के सूतक के साथ समाप्त हो जाता है, ऐसे ही मरण के सूतक में जन्म का सूतक आ जाने पर उसी पहले वाले मरण के सूतक के साथ समाप्त हो जाता है, ऐसे ही जन्म का सूतक यदि ५-६ दिन का हो चुका है पुन: परिवार में किसी का जन्म हो जाये, तो वह सूतक पहले के साथ ही निकल जाता है। यदि पहले सूतक के अंतिम दिन पुन: किसी का जन्म आदि होवे, तो दो दिन सूतक और मानना चाहिए। यदि दूसरे दिन होवे तो तीन दिन का और मानना चाहिए।

तपस्वियों को जन्म और मरण का सूतक नहीं लगता है और तपस्वियों का मरण होने पर उनके परिवार वालों को भी सूतक नहीं लगता है। राजा के घर में पुत्र जन्म होने पर उनकी शुद्धि स्नानमात्र से हो जाती है। राजाओं को सूतक नहीं लगता है।

मंत्री, सेनापति, राजा, दास और दुर्भिक्ष आदि आपत्ति से पीड़ित लोग इनके मरने पर भी सूतक नहीं लगता है। युद्ध में मरने पर भी सूतक नहीं लगता है।

गर्भवती का तीन महीने के अंदर ही यदि गर्भस्राव हो जावे तो उसे ही तीन दिन का अशौच है। तीन महीने से लेकर छह महीने तक का यदि गर्भपात हो जाता है तो जितने महीने का हो, उतने दिन का अशौच है। छह महीने के बाद और आठ महीने तक में यदि गर्भपात होकर नष्ट हो जाता है तो माता को पूरे १० दिन का अशौच है, पिता को स्नानमात्र से शुद्धि है।

नाभि छेदन से पहले यदि बालक मर जाये तो माता को पूर्ण १० दिन का अशौच है, पिता व बंधुओं को तीन दिन का है। १० दिन के पहले यदि मर जावे तो पिता व सबको १० दिन का है। दस दिन पूर्ण होने पर अंतिम दिन यदि बालक मर जाये तो दो दिन का अशौच और पालना चाहिए। दूसरे दिन प्रात:मरण होने पर तीन दिन अशौच और पालना चाहिए। १० दिन बाद मरण होने पर माता-पिता व सहोदरों को दस दिन का अशौच है। इतर बांधवों को स्नानमात्र से शुद्धि है। दांत आने के बाद मरण होने पर पिता, भ्राता को दस दिन का तथा शेष जनों को स्नानमात्र से शुद्धि है। चौल कर्म के बाद बालक के मरने पर पिता-भ्राता को १० दिन का, चार पीढ़ी वालों तक ५ दिन का, आगे की पीढ़ी वालों को एक दिन का है। उपनयन के बाद मरण होने पर चार पीढ़ी वालों तक १० दिन का अशौच है।

पुत्री का मरण यदि चौलकर्म से पहले हो जावे तो बंधुओं को स्नानमात्र से शुद्धि है। व्रतसंस्कार से पहले मरण होने पर एक दिन का अशौच है। विवाह से पहले मरने पर तीन दिन का अशौच है। विवाहित पुत्री का पतिगृह में मरण होने पर माता-पिता को दो दिन का अशौच है। शेष जाति बांधवों को स्नानमात्र से शुद्धि है। पतिपक्ष वालों को पूर्ण १० दिन का सूतक है। यदि वह स्त्री पिता के घर में मरण पावे या प्रसूत हो तो माता-पिता को तीन दिन का अशौच है और उस पक्ष वालों को एक दिन का अशौच है।

दूर देश के अपने परिवार के किसी व्यक्ति के मरण का समाचार मिलने पर अवशिष्ट दिन का सूतक पालना चाहिए। जन्मादि होकर १० दिन बाद समाचार मिलने पर तीन दिन का अशौच मानना चाहिए। अगर एक वर्ष बाद मरण समाचार ज्ञात हो तो स्नानमात्र करना चाहिए। इस प्रकार यह संक्षिप्त सूतक-पातक विधि[1] कही गई है।

रजस्वला स्त्री का अशौच

महीने-महीने में जो रज:स्राव होता है, उस समय वो स्त्रियाँ रजस्वला कहलाती हैं । उन दिनों में उन्हें किसी भी वस्तु का स्पर्श नहीं करना चाहिए। देवता और गुरु का दर्शन भी नहीं करना चाहिए। अर्धरात्रि के अनन्तर रजस्वला होने पर प्रात:काल से अशौच गिनना चाहिए। इस तरह रजस्वला स्त्री तीन दिन तक स्नान, अलंकार आदि न करे, ब्रह्मचर्य का पालन करे। चतुर्थ दिवस स्नान कर शुद्ध होकर घर के काम-काज कर सकती है, देवपूजा, गुरुपास्ति आदि कार्यों को पाँचवें दिन कर सकती है।

एक बार रजस्वला होने के बाद बारह दिन के अंदर ही यदि रजोदर्शन हो जाये तो वह स्नान से शुद्ध हो जाती है। यदि अठारह दिन के पहले रज:स्राव हो जाता है, तो भी स्नानमात्र से शुद्ध हो जाती है। यदि अठारहवें दिन होता है तो दो दिन का अशौच मानना चाहिए। अठारह दिन के बाद होने पर तीन दिन तक अशुद्धि मानी गई है। रजस्वला स्त्रियाँ यदि आपस में एक-दूसरे को स्पर्श कर लेती हैं तो उन्हें चतुर्थ दिवस शुद्ध होकर गुर्वानी के पास प्रायश्चित लेने का विधान है।

जो स्त्रियाँ रजस्वला के दिनों में अशौच का पालन नहीं करती हैं, सभी को छूती रहती हैं या भोजन बनाकर सभी को खिला देती हैं, वे इस लोक में स्वास्थ्य हानि के साथ-साथ धार्मिक परम्परा की हानि करती हैं तथा पाप का संचय करके अगले भव की भी हानि कर लेती हैं अत: महिलाओं को इन तीन दिनों में विवेकपूर्वक अशौच का पालन करना चाहिए।

क्रियाएँ

श्रावकाध्याय संग्रह में क्रियाएँ तीन प्रकार की कही हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुषों को वे क्रियाएँ अवश्य ही करनी

---

१. यह सूतक-पातक विधि श्री गुणभद्राचार्य कृत त्रैवर्णिकाचार के आधार से है।

२. गर्भान्वयक्रियाश्चैव तथा दीक्षान्वयक्रिया:।
कर्त्रन्वयक्रियाश्चेति तास्त्रिधैवं बुधैर्मता:।।५१-आदि पु. पर्व ३८ पृ. २४४।

चाहिए क्योंकि वे सब क्रियाएँ उत्तम फल देने वाली हैं।

[1]गर्भान्वय क्रिया, दीक्षान्वय क्रिया, कर्त्रन्वय क्रिया इस तरह विद्वान् लोगों ने तीन प्रकार की क्रियाएँ मानी हैं।

गर्भान्वय क्रिया आधार (गर्भाधान) आदि त्रेपन जानना तथा दीक्षान्वय अड़तालीस समझना एवं कर्त्रन्वय क्रियाएँ सात हैं। महासागर से भी अत्यन्त अपार ऐसा जो श्रुतज्ञान के बारह अंगों में उपासकाध्ययन नाम का सातवां अंग है, उससे जो कुछ मुझे ज्ञान की एक बूंद प्राप्त हुई है, उसी के अनुसार मैं कहता हूँ।

तिरेपन गर्भान्वय क्रियाएँ

१. स्नान[2] की हुई स्त्री को मुख्य कर गर्भाधान के पहले अरहन्त देव की पूजा और मंत्रपूर्वक जो संस्कार किया जाता है, उसे 'आधान' क्रिया कहते हैं। उसकी विधि— जिन प्रतिमा के दाईं तरफ तीन चक्र, बाईं तरफ तीन छत्र और तीन प्रकार की पुण्याग्नि स्थापित करें। दोनों दम्पत्ति अरहन्त भगवान की पूजा करके अग्नि कुण्डों में होम विधि करके पूजन विधि पूर्ण करें।

२. गर्भाधान के तीसरे महीने में 'प्रीति' नाम की क्रिया होती है। इस क्रिया में भी पूर्वोक्त विधि से अरहंत पूजन करना चाहिए। दरवाजे पर तोरण बांधना एवं दो पूर्ण कुंभ स्थापना करना चाहिए। उस दिन से प्रतिदिन नगाड़े आदि बाजे बजवाने चाहिए।

प्रथम रजस्वला हुई चतुर्थ दिवस स्नान करके शुद्ध हुई, ऐसी स्त्री की विवक्षा है। इस स्त्री को पति के साथ पूर्वोक्त विधि से पूजन और होम करावें अनन्तर उन दम्पत्ति को विषयानुराग के बिना केवल सन्तान के लिए समागम करना चाहिए, यह गर्भाधान क्रिया कहलाती है।

३. गर्भाधान के पाँचवे महीने में 'सुप्रीति' क्रिया की जाती है, इसमें भी पूर्वोक्त पूजन विधि है।

४. सातवें महीने में पूर्वोक्त विधि से 'धृति' क्रिया की जाती है।

५. गर्भ से नौवें महीने में 'मोद' नाम की क्रिया की जाती है। इस क्रिया में द्विज विद्वान् गर्भिणी के शरीर पर गात्रिका मंत्रपूर्वक बीजाक्षर लिखते हैं और मंगलाचार करके, आभूषण पहनाकर उसकी रक्षा के लिए उसे कंकण सूत्र बांधते हैं।

६. पुत्र के उत्पन्न होने से 'प्रियोद्भव' या जात कर्म क्रिया होती है।

७. जन्म से बारहवें दिन शुभ नक्षत्र आदि में 'नामकर्म' क्रिया की जाती है। इसमें भी अरहन्त देव, ऋषिगणों की पूजन माना है।

८. दूसरे, तीसरे महीने में मंगल क्रिया, मंगल वाद्यपूर्वक बालक को प्रसूतिगृह से बाहर निकालना 'बहिर्यान' क्रिया है।

९. उस बालक को शय्या पर बिठाकर 'निषद्या' क्रिया की जाती है।

---

१. आधानं नाम गर्भादौ संस्कारो मंत्रपूर्वकः।
पत्नीं ऋतुमतीं स्नातां पुरस्कृत्यार्हदिज्यया।।७०।।–आदि पु. पृ. ३८ पृ. २४५।

१०. जन्म से सात-आठ महीने बीत जाने पर भगवान की पूजनपूर्वक बालक को अन्न खिलाना 'अन्नप्राशन' क्रिया है।

११. एक वर्ष पूर्ण होने पर वर्षवर्धन या वर्षगांठ मनाने को 'व्युष्टि' क्रिया कहते हैं।

१२. किसी शुभ दिन पूजन के बाद बालक का मुंडन करना 'केशवाप' या 'चौल' क्रिया है।

१३. बालक को पाँचवे वर्ष अक्षरों का दर्शन कराने के लिए 'लिपि संख्यान संग्रह' क्रिया की जाती है।

१४. गर्भ से आठवें वर्ष में बालक की 'उपनीति क्रिया' यज्ञोपवीत संस्कार क्रिया होती है।

१५. आगे कटि चिन्ह — करधनी, जंघा का चिन्ह — श्वेत धोती, उरोलिंग — जनेऊ और शिरोलिंग — चोटी, इन ब्रह्मचर्य व्रत के योग्य चिन्ह को धारण करना 'व्रतचर्या' क्रिया है। इसमें पलंग पर सोना, उबटन लगाना आदि त्याज्य है। पाँच अणुव्रत आदि व्रत हैं। विद्या का अभ्यास करने तक ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुमुख से उपासकाचार पढ़कर अध्यात्म शास्त्र, व्याकरण, न्याय, ज्योतिष, छन्द, अलंकार, कोष, गणित शास्त्र आदि पढ़ने चाहिए।

१६. विद्याभ्यास समाप्त होने पर यज्ञोपवीत, पांच अणुव्रत, अष्ट मूलगुण आदि व्रतों के सिवाय पृथ्वी पर शयन, आभूषण त्याग आदि व्रतों को बारह वर्ष या सोलह वर्ष बाद त्याग कर देना 'व्रतावरण' क्रिया है। इस क्रिया के बाद गुरु की आज्ञानुसार वस्त्र, माला, आभूषण आदि ग्रहण किये जाते हैं।

१७. अनन्तर गुरुआज्ञापूर्वक सुकुल में उत्पन्न कन्या के साथ विधिवत् विवाह होना विवाह क्रिया है।

१८. पिता की आज्ञानुसार, धन, धान्य सम्पदा लेकर अलग रहना 'वर्णलाभ' क्रिया है।

१९. पिता के द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त कर विशुद्ध रीति से जीविका करना और देवपूजा आदि षट्कर्म करना 'कुलचर्या' क्रिया है।

२०. कुलचर्या के बाद गृहस्थाचार्य बनने योग्य क्रियाएँ कराते हुए 'गृहीशिता क्रिया' प्राप्त करना चाहिए।

२१. अनन्तर अपने पुत्र पर सब गृहभार छोड़कर स्वाध्याय और उपवास आदि करते हुए अत्यन्त शान्ति प्राप्त करना 'प्रशान्ति' क्रिया है।

२२. वह श्रावक जब गृह छोड़ने को उद्यत होता है, तब 'गृहत्याग' क्रिया होती है।

२३. गुरु के पास जाकर क्षुल्लक दीक्षा लेना 'दीक्षाद्य' क्रिया है।

२४. जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करना 'जिनरूपता' क्रिया है।

२५. वह साधु शास्त्रज्ञान की समाप्ति होने पर्यंत मौनपूर्वक अध्ययन करता है, यह 'मौनाध्ययनवृत्तित्व' क्रिया है।

२६. तीर्थंकर पद के कारणभूत सोलहकारण भावनाओं का चिन्तवन करना 'तीर्थकृद्भावना' नाम की क्रिया है।

२७. गुरु के आचार्यपद के प्राप्त करने योग्य होकर आचार्यपद प्राप्त करना 'गुरु स्थानाभ्युपगम' क्रिया है।

२८. चतुर्विध संघ के पालन करने में तत्पर होना 'गणोपग्रहण' नाम की क्रिया है।

२९. अपने योग्य शिष्य को आचार्य पद भार समर्पण करना 'स्वगुरुस्थानावाप्ति' क्रिया है।

३०. शिष्य, पुस्तक आदि से ममत्व छोड़कर नि:संग होना, आत्म भावना में तन्मय होना नि:संगत्वात्मभावना' क्रिया है।

३१. मोक्ष में अपनी बुद्धि स्थापन कर ध्यान में तत्पर होना 'योग निर्वाण सम्प्राप्ति' क्रिया है।

३२. चतुराहार त्यागकर शरीर के छोड़ने में उद्युक्त होना 'योगनिर्वाणसाधना' क्रिया है।

३३. मन, वचन, काय के योगों की समाधि लगाकर प्राणों का त्यागकर इन्द्रपद में उत्पन्न होना 'इन्द्रोपपाद' क्रिया है।

३४. वहाँ जन्म होने के बाद देवगण मिलकर इन्द्र का अभिषेक करते हैं, वह 'इन्द्राभिषेक' क्रिया है।

३५. अनन्तर नमस्कार करते हुए देवों को उन-उनके पद पर नियुक्त करना 'विधिदान' क्रिया है।

३६. देवों से वेष्टित इन्द्र बहुत काल तक स्वर्ग सुख का अनुभव करता है, वह 'सुखोदय' नाम की क्रिया है।

३७. इन्द्र का अपनी आयु अल्प समझकर सबको समझाकर इन्द्र पद का त्याग करना 'इन्द्रपद त्याग' क्रिया है।

३८. गर्भ में आने के छह महीने पहले माता को सोलह स्वाप्न, रत्न वर्षा आदि का होना पुन: वहाँ से च्युत होकर माता के गर्भ में आना 'इन्द्रावतार' क्रिया है।

३९. हिरण्यगर्भ भगवान हिरण्योत्कृष्ट जन्मधारण करते हैं, इस प्रकार गर्भ में ही मति, श्रुत, अवधिज्ञान के धारक भगवान की 'हिरण्योत्कृष्ट जन्मता' क्रिया है।

४०. भगवान का जन्म होने पर इन्द्रगण आकर सुमेरु पर ले जाकर अभिषेक करते हैं, यह 'मंदराभिषेक' क्रिया है।

४१. बिना किसी के शिष्य बने ही भगवान सबके गुरु हैं अत: इन्द्र आकर सर्व जगत् के गुरु का पूजन करता है, वह 'गुरुपूजन' क्रिया है।

४२. कुमारकाल प्राप्त होने पर भगवान को युवराजपद का पट्ट बंध किया जाता है, वह 'यौवराज्य' क्रिया है।

४३. सम्राट् पद पर अभिषिक्त होना 'स्वराज्य' क्रिया है।

४४. चक्ररत्न की प्राप्ति होने पर 'चक्रलाभ' क्रिया होती है।

४५. चक्ररत्न को आगे कर दिशाओं को जीतना 'दिशांजय' क्रिया है।

४६. दिग्विजय पूर्ण कर अपने नगर में प्रवेश करने पर 'चक्राभिषेक' नाम की क्रिया होती है।

४७. साम्राज्यपद पर अभिषिक्त होकर भगवान अनेक राजाओं को योग्य शिक्षा देकर न्याय नीति बतलाते हैं, यह 'साम्राज्य' क्रिया है।

४८. राज्य से विरक्त होने पर लौकांतिक देवों द्वारा स्तुत्य भगवान स्व-पुत्र को राज्य देकर दीक्षा के लिए जाते हैं, वह 'निष्क्रान्ति' क्रिया है।

४९. वे भगवान बाह्याभ्यन्तर परिग्रह को छोड़कर ध्यान में लीन होते हैं, तब केवलज्ञान तेज प्रकट हो जाता है, वह 'योग सम्मह' क्रिया है।

५०. केवलज्ञान उत्पन्न होने पर समवसरण की रचना होती है, वह 'आर्हंत्य' क्रिया है।

५१. धर्मचक्र को आगे कर भगवान का विहार होता है, वह 'विहार' क्रिया है।

५२. विहार समाप्त होकर समवसरण विघटित हो जाने पर भगवान के योग-निरोध होता है, वह 'योगनिरोध' क्रिया है।

५३. अघातिया कर्मों का नाश हो जाने से मोक्ष के स्थान में पहुँच जाने पर 'अग्रनिर्वृत्ति' क्रिया होती है।

इस प्रकार गर्भाधान से लेकर निर्वाणपर्यन्त सब मिलाकर तिरेपन क्रियाएँ होती हैं। भव्य जीवों को उनका सदा अनुष्ठान करना चाहिए।

अड़तालीस दीक्षान्वय क्रियाएँ

इन उपर्युक्त त्रेपन क्रियाओं में से प्रारंभ की तेरह क्रियाएँ निकाल दीजिए तथा अवतार आदि आठ क्रियाएँ मिला दीजिए, तब अड़तालीस हो जाती हैं, यथा ५३-१३=४०, ४०+८=४८।

उन आठ क्रियाओं के नाम—अवतार, वृत्तलाभ, स्थानलाभ, गणग्रह, पूजाराध्य, पुण्ययज्ञ, दृढ़चर्या और उपयोगिता।

१. अवतार क्रिया—मिथ्यात्व से दूषित हुआ कोई भव्यपुरुष जब समीचीन मार्ग को ग्रहण करने के सम्मुख होता है, तब यह क्रिया की जाती है। वह भव्य गुरु के पास जाकर धर्म को सुनकर मिथ्यामार्ग से प्रेम छोड़ता हुआ समीचीन मार्ग में अपनी बुद्धि लगाता है। उस समय गुरु ही उसका पिता और तत्त्वज्ञान ही संस्कार किया हुआ गर्भ है। वह भव्य पुरुष धर्मरूप जन्म के द्वारा उस तत्त्वज्ञान रूप गर्भ में अवतीर्ण होता है। इसकी यह क्रिया गर्भाधान क्रिया के समान मानी जाती है क्योंकि जन्म की प्राप्ति दोनों ही क्रियाओं में नहीं है। इस प्रकार यह पहली 'अवतार' क्रिया है।

२. वृत्तलाभ—उसी समय गुरु के चरणकमलों को नमस्कार करते हुए और विधिपूर्वक व्रतों के समूह को प्राप्त हुए उस भव्य के 'वृत्तलाभ' नाम की दूसरी क्रिया होती है।

३. स्थानलाभ—तत्पश्चात् जिसने उपवास किया है, ऐसे उस भव्य के पूजा की विधिपूर्वक 'स्थानलाभ' नाम की तीसरी क्रिया होती है। इस क्रिया में गुरु विधिपूर्वक शिष्य को जैनधर्म की दीक्षा देते हैं।[१]

४. गणग्रह—स्थानलाभ क्रिया के बाद वह भव्यपुरुष मिथ्या देवताओं को घर से बाहर निकालता है,

१. आदिपुराण द्वितीय भाग पर्व ३०, पृ. २७२ पर इस स्थानलाभ क्रिया में दीक्षाविधि बताई गई है।

तब उसके 'गणग्रह' क्रिया होती है। उस समय उन देवताओं से कहता है कि "मैंने अज्ञानवश इतने दिन आपकी पूजा की, अब अपने ही जैनमत के देवताओं की पूजन करूँगा इसलिए क्रोध करना व्यर्थ है, आप अपनी इच्छानुसार किसी अन्य जगह रहिए। इस प्रकार उन्हें अन्य स्थान पर छोड़कर अपने मत के शान्त देवताओं का पूजन करते हुए यह 'गणग्रह' क्रिया होती है।

५. **पूजाराध्य—** जिनेन्द्रदेव की पूजा तथा उपवास आदि करते हुए द्वादशांग का अर्थ सुनना 'पूजाराध्य' क्रिया है।

६. **पुण्ययज्ञ—** अनन्तर साधर्मी पुरुषों के साथ-साथ चौदह पूर्व विद्याओं का अर्थ सुनने वाले उस भव्य के पुण्य को बढ़ाने वाली 'पुण्ययज्ञा' नाम की क्रिया होती है।

७. **दृढ़चर्या—** अपने मत के शास्त्र समाप्त कर अन्य मत के ग्रंथों अथवा अन्य किन्हीं दूसरे विषयों को सुनने वाले उस भव्य के 'दृढ़चर्या' क्रिया होती है।

८. **उपयोगिता—** पर्व के दिन उपवास में रात्रि में प्रतिमायोग धारण करना 'उपयोगिता' क्रिया है।

पूर्व में जो गर्भाधान से लेकर निर्वाणपर्यन्त तिरेपन क्रियाएँ बतलाई हैं, उनमें से प्रारंभ की गर्भाधान से लेकर लिपि संख्यान तक तेरह क्रियाओं के निकाल देने से तथा इन अवतार आदि आठ क्रियाओं के मिला देने से उपर्युक्त वे ही अड़तालीस क्रियाएँ 'दीक्षान्वय क्रिया' कहलाती हैं।[१]

कर्त्रन्वय क्रियाओं का वर्णन

इसके सात भेद हैं— सज्जाति, सद्गृहित्व, पारिव्राज्य, सुरेन्द्रता, साम्राज्य, आर्हन्त्य और परिनिर्वाण। ये क्रियाएँ अल्प संसारी भव्य प्राणी के ही हो सकती हैं। इसमें जो सबसे पहली क्रिया सज्जाति है, वह किसी निकट भव्य को मनुष्य जन्म की प्राप्ति होने पर होती है।

१. **सज्जाति—** जब वह दीक्षा धारण करने योग्य उत्तम वंश में विशुद्ध जन्म धारण करता है, तब उसके सज्जाति क्रिया होती है। पिता के वंश की शुद्धि को कुल और माता के वंश की शुद्धि को सज्जाति कहते हैं, इस सज्जाति के प्राप्त होने पर सहज ही प्राप्त हुए गुणों से रत्नत्रय की प्राप्ति सुलभ हो जाती है। यह[२] सज्जाति उत्तम शरीर के जन्म से ही बतलाई गई है क्योंकि पुरुषों के समस्त इष्ट पदार्थों की सिद्धि का मूलकारण यही एक सज्जाति है। जिस प्रकार विशुद्ध खान से उत्पन्न हुआ रत्न संस्कार के योग से उत्कर्षता को प्राप्त होता है, उसी प्रकार विशुद्ध कुल में जन्मा हुआ मनुष्य सुसंस्कार से द्विज कहलाता है। सर्वज्ञदेव की आज्ञा प्रधान मानता हुआ वह मंत्रपूर्वक सूत्र (यज्ञोपवीत) धारण करता है। तीन लर का यज्ञोपवीत द्रव्यसूत्र है और सम्यग्दर्शन आदि उस श्रावक के भावसूत्र कहलाते हैं। संस्कारों से संस्कृत उस श्रावक के यह सज्जाति नाम की पहली क्रिया है।

---

१. इन दीक्षान्वय क्रियाओं का विशेष स्पष्टीकरण आदिपुराण पर्व ३९, पृ. २७२ से देखिए।

२. शरीरजन्मना सैषा सज्जातिरूपवर्णिता।
एतन्मूला यतः सर्वाः पुंसामिष्टार्थसिद्धयः।।आदिपु. पृ. ३९।।

२. **सद्गृहित्व**— सज्जातीयत्व से सहित वह भव्य सद्गृहस्थ होता हुआ आर्य पुरुषों के करने योग्य छह कर्मों का पालन करता है। गृहस्थ अवस्था में पालन करने योग्य जो-जो विशुद्ध आचरण अरहन्त भगवान् के द्वारा कहे गये हैं, उन सबको पालन करने वाला 'सद्गृही' कहलाता है।

वह गृहस्थ असि, मषि आदि षट् क्रियाओं से उत्पन्न हुए दोष को पक्ष, साधन और चर्या के द्वारा दूर करता है, उसके 'सद्गृहित्व' क्रिया कहलाती है।

३. **पारिव्राज्य**— घर के निवास से विरक्त होते हुए पुरुष का जो दीक्षा ग्रहण करना है, वह पारिव्राज्य क्रिया है। इस पारिव्राज्य क्रिया में ममत्व भाव छोड़कर दिगम्बर रूप धारण करना पड़ता है। जिसका[1] कुल और गोत्र विशुद्ध है, चरित्र उत्तम है, मुख सुन्दर है और प्रतिभा अच्छी है, ऐसा पुरुष ही दीक्षा ग्रहण करने योग्य माना गया है। गुरु के द्वारा जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करना तीसरी पारिव्राज्य क्रिया है।

४. **सुरेन्द्रता**— पारिव्राज्य के फल का उदय होने से जो सुरेन्द्र पद की प्राप्ति होती है, वही यह 'सुरेन्द्रता' नाम की क्रिया है।

५. **साम्राज्य**— जिसमें चक्ररत्न के साथ-साथ निधियों और रत्नों से उत्पन्न हुए भोगोपभोगरूपी सम्पदाओं की परम्परा प्राप्त होती है, ऐसा चक्रवर्ती का सार्वभौम राज्य प्राप्त करना 'साम्राज्य' क्रिया है।

६. **आर्हन्त्य**— स्वर्ग से अवतीर्ण हुए अर्हन्त परमेष्ठी को जो पंचकल्याणकरूप सम्पदाओं की प्राप्ति होती है, उसे 'आर्हन्त्य' क्रिया कहते हैं, यह आर्हन्त्य क्रिया तीनों लोकों में क्षोभ उत्पन्न करने वाली है।

७. **परिनिर्वाण**— संसार के बंधन से मुक्त हुए परमात्मा की जो अवस्था होती है, उसे परिनिवृत्ति कहते हैं। यह सातवीं 'परिनिर्वाण' क्रिया है।

यह भव्यपुरुष प्रथम ही योग्य जाति को पाकर सद्गृहस्थ होता है, फिर गुरु की आज्ञा से उत्कृष्ट पारिव्राज्य को प्राप्त कर स्वर्ग जाता है, वहाँ उसे इन्द्र की लक्ष्मी प्राप्त होती है, तदनन्तर वहाँ से च्युत होकर उत्कृष्ट महिमा का धारक अर्हन्त होता है और इसके बाद निर्वाण को प्राप्त हो जाता है।

बारह अनुप्रेक्षा

जो श्रावक गृहस्थाश्रम में ही रहते हुए पंच अणुव्रत आदि व्रतों को पालन करते हैं, उनके वैराग्य जागृत करने के लिए चिन्तवन करने योग्य बारह अनुप्रेक्षाएं हैं अथवा वैराग्य उत्पन्न होने के अनन्तर तीर्थंकरों ने भी इन अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन किया है अत: वैराग्य को जन्म देने के लिए और उनको वृद्धिंगत करने के लिए ये माता के समान हैं।

अनित्य अनुप्रेक्षा— गाँव, नगर, स्थान, चक्रवर्ती, इन्द्र, धरणेन्द्र, शरीर, माता, पिता, पुत्र, स्त्री आदि सांसारिक पदार्थ इस जीव के लिए अनित्य हैं। शुद्ध अविनाशी आत्म चिन्तवन करने योग्य हैं क्योंकि आत्मा ही नित्य है।

---

१. विशुद्धकुलगोत्रस्य सद्वृत्तस्य वपुष्मत:।
दीक्षायोग्यत्वमाम्नातं सुमुखस्य सुमेधस:।।१५८।।आदिपु. पं. ३९, पृ. २८३।

अशरण अनुप्रेक्षा— हे जीवात्मन्! चतुर्गति संसार में जन्म लेने वाले जीव को सदा सुख-दुख भोगते समय या मरते समय देव, मंत्र, औषधि, रथ, सेना आदि कोई भी रक्षक– बचाने वाला नहीं है, केवल पंचपरमेष्ठी द्वारा प्रतिपादित जैनधर्म तथा चैतन्य चमत्काररूप अपनी आत्मा ही शरण है।

संसार अनुप्रेक्षा— यह जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पंचपरावर्तनरूप संसार वन में अनादिकालीन मिथ्यात्व की वासना से वासित होकर दु:ख उठा रहा है। कर्मरूपी यंत्र की प्रेरणा से कभी स्वर्ग में जाता है, कभी नरक में जाता है और कभी निगोद आदि की महादु:खमय योनि में जा पड़ता है। सर्वत्र भ्रमण करते हुए संसार में कहीं पर कोई भी सुखी नहीं है, ऐसा बार-बार विचार करना संसार अनुप्रेक्षा है।

एकत्वानुप्रेक्षा— यह जीव सदा अकेला है, परमार्थ दृष्टि से इसका मित्र कोई नहीं है, अकेला आया है, अकेला ही दूसरी योनि में चला जायेगा, बन्धुवर्गादि कोई भी श्मशान भूमि से आगे के साथी नहीं हैं, एक धर्म ही साथ जाने वाला है।

अन्यत्वानुप्रेक्षा— यद्यपि इस शरीर से मेरा अनादिकाल से संबंध है परन्तु यह अन्य है और मैं अन्य ही हूँ, शरीर और मैं सर्वथा भिन्न हूँ। जब अत्यन्त समीपस्थ शरीर भी अपना नहीं है, तो फिर स्त्री, कुटुम्बादि अपने किस प्रकार हो सकते हैं? ये तो प्रत्यक्ष ही दूसरे हैं।

अशुचि अनुप्रेक्षा— यह शरीर अत्यन्त अपवित्र है। माता-पिता के मलरूप रज और वीर्य से इसकी उत्पत्ति हुई है। इसके संसर्ग से अन्य पवित्र सुगंधित पदार्थ भी अपवित्र और घिनावने हो जाते हैं। इस अशुचि शरीर से ही रत्नत्रयरूप पवित्र निधि को प्राप्त किया जा सकता है, इस रत्नत्रय से ही आत्मा को पूर्ण पवित्र-पूज्य बनाया जा सकता है।

आस्रव अनुप्रेक्षा— मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन कारणरूप द्वारों से जीव के शुभ और अशुभ कर्मों का आगमन होता है, इसे ही आस्रव कहते हैं। इन आस्रव से बंध होता है जो कि संसार का मूल कारण है। आस्रव के कारणों से विमुख होकर आत्मा के स्वरूप का चिन्तवन करना चाहिए।

संवर अनुप्रेक्षा— कर्मों के आस्रव रोकने को संवर कहते हैं। इस संवर के कारणभूत पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दशधर्म, द्वादशानुप्रेक्षा और बाईस परीषहों के चिन्तवन करने को संवर अनुप्रेक्षा कहते हैं।

निर्जरा अनुप्रेक्षा— पूर्व संचित कर्म समूह के उदय में आकर झड़ जाने को निर्जरा कहते हैं। इसके दो भेद हैं— सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा। पूर्व संचित कर्मों की स्थिति पूर्ण होकर उनके फल देकर झड़ जाने को सविपाक निर्जरा एवं तपश्चर्या, परीषह आदि के द्वारा कर्मों की स्थिति पूरी किये बिना झड़ जाने को अविपाक निर्जरा कहते हैं। प्रथम निर्जरा सम्पूर्ण संसारी जीवों के होती है। द्वितीय निर्जरा सम्यग्दृष्टि और व्रतधारियों के ही होती है।

लोक अनुप्रेक्षा— अनन्त अलोकाकाश के मध्य में पुरुषाकार लोकाकाश है। यह अनादिनिधन, स्वयंसिद्ध है। इस प्रकार लोक में स्वर्ग, नरक आदि कहाँ हैं? निगोद और मोक्ष स्थान कहाँ हैं? यह जीव कहाँ से आया है? और कहाँ इसे जाना है? इत्यादि लोक के स्वरूप का बारम्बार विचार करना लोक अनुप्रेक्षा है।

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा— इस घोर दु:खरूप संसार में निगोद राशि से निकल कर त्रस जन्म को पाना दुर्लभ है। त्रस में भी पंचेन्द्रिय होना समुद्र में गिरी हुई वज्र कणिका के सदृश अत्यन्त दुर्लभ है। पंचेन्द्रिय में भी मनुष्य होना सब गुणों में कृतज्ञता के सदृश अत्यन्त दुर्लभ है। मनुष्य जन्म में भी उत्तम कुल, देश, इन्द्रियों की पूर्णता, आरोग्यता आदि उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। अंत में अहिंसामयी धर्म पाना, मुनिधर्म का धारण करना तथा समाधिमरण पाना अतिशय दुर्लभ हैं। इन सबको पाकर प्रमादरहित होते हुए अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेना ही उत्तम है क्योंकि परवस्तु की प्राप्ति तो कर्माधीन है किन्तु अपना ज्ञान, दर्शन स्वभाव तो अपने पास ही है, तो उसकी प्राप्ति को दुर्लभ क्यों मानना? अर्थात् अपने स्वभाव की प्राप्ति अपने पास ही होने से सुलभ है, मात्र पुरुषार्थ की आवश्यकता है, ऐसा बार-बार विचार करके उत्तम पुरुषार्थ करना चाहिए।

धर्म अनुप्रेक्षा— यह सर्वज्ञ प्रणीत जैनधर्म अहिंसा लक्षण युक्त है। सत्य, शौच, ब्रह्मचर्य आदि इसके अंग हैं। इनकी अप्राप्ति से जीव अनादि संसार में भ्रमण करता है, पाप के उदय से दु:खी होता है परन्तु इसकी प्राप्ति से अनेक सांसारिक सम्पदाओं को भोग करके मुक्ति प्राप्ति से सुखी होता है, इस प्रकार चिन्तवन करना धर्मानुप्रेक्षा है।

किसी भी श्रावक को इन बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करके पूर्णतया विरक्त होकर[१] पुन: माता-पिता आदि कुटुम्बीजनों से आज्ञा लेकर दिगम्बर मुनिराजों के संघ में जाकर गुरु के पास दीक्षा की याचना करनी चाहिए अथवा जो क्षुल्लक या ऐलक हैं, वे भी आचार्य के पास जाकर मुनि दीक्षा की याचना करते हैं, तब आचार्यप्रवर उनमें दीक्षा की योग्यता देखकर उन्हें विधिवत् जैनेश्वरी दीक्षा प्रदान करते हैं। दीक्षार्थी को केशलोंच करना होता है। वह सम्पूर्ण प्रकार के वस्त्र, आभरण, परिग्रह आदि का त्याग कर देता है। गुरुदेव उसे संयम के उपकरणरूप मयूर पंख की पिच्छिका, ज्ञान के उपकरणरूप शास्त्र और शौच का उपकरण कमण्डलु प्रदान करते हैं तथा अट्ठाईस मूलगुणों का लक्षण समझाकर उस शिष्य को पंचपरमेष्ठी की साक्षीपूर्वक दीक्षा देते हैं। उसके मस्तक पर विधिवत् मंत्रों का न्यास करके बीजाक्षरों का न्यास करते हैं। गुरु से दीक्षा को ग्रहण कर वह शिष्य भी कृतकृत्य होता हुआ गुरु को आत्मसमर्पण कर देता है।

मुनिधर्म

"**अट्ठाईस मूलगुण—** मूलगुण[२] और उत्तरगुण जीव के परिणाम हैं। महाव्रतादिक मूलगुण अट्ठाईस हैं। बारह तपश्चरण और बाईस परीषह इनको उत्तरगुण कहते हैं, ये चौंतीस हैं।" इन उत्तरगुणों का वर्णन आगे करेंगे।

अट्ठाईस मूलगुणों के नाम— पंच महाव्रत, पंच समिति, पंच इन्द्रियों को वश करना, छह आवश्यक क्रिया, लोच, आचेलक्य, स्नान का त्याग, क्षितिशयन, दंत धावन न करना, खड़े होकर आहार करना, दिन में एक बार आहार करना, ये २८ मूलगुण हैं।

---

१. आज्ञा लेकर दीक्षा लेना चाहिए। कुटुम्बीजनों की आज्ञा न मिलने पर भी दीक्षा ले सकते हैं अथवा उत्कृष्ट वैराग्य होने से बिना पूछे भी ले सकते हैं। ऐसे अनेकों उदाहरण प्रसिद्ध हैं। सर्वथा एकान्त नहीं है।

२. ते मूलुत्तरसण्णा मूलगुणा महव्वदादिअडवीसा। तवपरीसहादिभेदा चोत्तीसा उत्तरगुणक्खा।।३।।

(मूलाचार श्री कुंदकुंद कृत।)

पांच महाव्रत— मुख्य व्रतों को महाव्रत कहते हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिए कारणभूत हिंसादि के त्याग को व्रत कहते हैं। जिनको तीर्थंकर आदि महापुरुष ग्रहण करते हैं अथवा जो पालन करने वाले को महान् बना देते हैं, वे महाव्रत कहलाते हैं। इसके पाँच भेद हैं—

अहिंसा महाव्रत— कषाययुक्त मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को प्रमत्त योग कहते हैं, प्रमत्त योग से दश प्राणों का वियोग करना हिंसा है, ऐसी हिंसा से विरत होना, सर्व प्राणियों पर पूर्ण दया का पालन करना अहिंसा महाव्रत है।

सत्य महाव्रत— प्राणियों को जिससे पीड़ा होगी ऐसा भाषण, चाहे विद्यमान पदार्थ विषयक हो अथवा न हो, उसका त्याग करना।

अचौर्य महाव्रत— अदत्तवस्तु को ग्रहण नहीं करना।

ब्रह्मचर्य महाव्रत— पूर्णतया मैथुन का– स्त्रीमात्र का त्याग कर देना।

परिग्रह त्याग महाव्रत— बाह्य-अभ्यंतर परिग्रहों का त्याग करना, मुनियों के अयोग्य समस्त वस्तुओं का त्याग करना।

ये पाँच महाव्रत सर्व सावद्य— पापों के त्याग के कारण हैं।

पांच समिति— सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करना समिति है। उसके पाँच भेद हैं—

ईर्या समिति— अच्छी तरह देखकर मन को स्थिर कर गमन-आगमन करना।

भाषा समिति— आगम से अविरुद्ध, पूर्वापर सम्बन्ध से रहित, निष्ठुरता, कर्कश, मर्मच्छेदक आदि दोषों से रहित भाषण करना।

एषणा समिति— लोकनिंद्य आदि कुलों को छोड़कर और सूतक, पातक, जाति संकर आदि दोषों से रहित घरों में छ्यालीस दोष और बत्तीस अंतराय टालकर आहार ग्रहण करना।

आदाननिक्षेपण समिति— आँखों से देखकर और पिच्छिका से शोधन कर यत्नपूर्वक वस्तु को रखना और उठाना।

प्रतिष्ठापन समिति— जन्तु रहित प्रदेश में ठीक से देखकर मलमूत्रादि का त्याग करना।

इस प्रकार ये पाँच समितियाँ हैं।

पंच इन्द्रिय निरोध— स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पंच इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को हटाना-नियंत्रण करना इन्द्रिय निरोध है।

छह आवश्यक क्रियाएँ— अवश्य करने योग्य क्रियाएँ आवश्यक क्रियाएँ कहलाती हैं।

समता— राग-द्वेष, मोह से रहित होना अथवा त्रिकाल पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करना।

स्तव— ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना।

वन्दना— एक तीर्थंकर का दर्शन या वंदन करना अथवा पंचगुरुभक्तिपर्यन्त दर्शन, वंदना करना।

प्रतिक्रमण— अशुभ मन, वचन और काय के द्वारा जो प्रवृत्ति हुई थी, उससे परावृत्त होना अथवा किये हुए दोषों का शोधन करना। इस प्रतिक्रमण के दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ ऐसे सात भेद हैं।

प्रत्याख्यान— अयोग्य द्रव्य का त्याग करना अथवा योग्य वस्तु का भी त्याग करना।

व्युत्सर्ग— देह से ममत्वरहित होकर जिनगुण चिन्तनयुक्त कायोत्सर्ग करना, ऐसे छह आवश्यक हैं।

इन्द्रिय, कषाय, राग-द्वेषादि के वश में जो नहीं हैं वे अवश हैं, उनकी क्रियाएँ आवश्यक क्रियाएँ हैं, ये छह आवश्यक क्रियाएँ मुनियों को नित्य ही करनी चाहिए।

लोच— अपने हाथों से मस्तक और दाढ़ी-मूंछ के केशों को उखाड़ कर फेंक देना। यह केशलोच उत्कृष्ट दो महीने में, मध्यम तीन और जघन्य चार महीने में होता है।

आचेलक्य— चेल— वस्त्र, मुनिपने से अयोग्य सर्व परिग्रहों का त्याग कर देना।

अस्नान— स्नान का त्याग।

क्षितिशयन— घास, लकड़ी का फलक, शिला इत्यादि पर सोना।

अदंत धावन— दांतौन के लिए दन्त मंजन, काष्ठादि का उपयोग नहीं करना।

स्थिति भोजन— खड़े होकर पैरों को चार अंगुल अन्तर से रखकर भोजन करना।

एकभक्त— दिन में एक बार आहार लेना।

इस प्रकार ये अट्ठाईस मूलगुण कहलाते हैं।

पिंडशुद्धि प्रकरण

पिंड अर्थात् आहार की शुद्धि को पिंडशुद्धि कहते हैं। उद्गमदोष, उत्पादन दोष, एषणा दोष, संयोजनादोष, प्रमाणदोष, इंगालदोष, धूमदोष और कारणदोष ऐसे पिंडशुद्धि के आठ दोष हैं। इन दोषों से रहित ही पिंडशुद्धि होती है। इन दोषों के आठ भेद के उत्तर भेद छ्यालीस होते हैं। एषणा समिति में भी कहा है कि साधु छ्यालीस दोष और बत्तीस अन्तरायों को टालकर दिन में एक बार खड़े होकर अंजलिपुट में श्रावकों द्वारा विधिवत् दिये गये आहार को ग्रहण करता है।

अधःकर्म दोष— यह दोष गृहस्थाश्रित है, इसमें पंचसूना होती है अतः षट्जीव निकाय की विराधना होने से यह महादोष कहलाता है अर्थात् स्वयं आरम्भ आदि के द्वारा भोजन को बना लेना अधःकर्म दोष है। यह दोष इन छ्यालीस दोषों से अलग ही होने से मुनियों द्वारा सर्वथा त्याज्य है।

छ्यालीस भेद— उद्गम के १६, उत्पादन के १६, एषणादोष के १०, संयोजना, अंगार, प्रमाण, धूम।

उद्गमदोष के १६ भेदों के नाम— औद्देशिक, अध्यधि, पूति, मिश्र, स्थापित, बलि, प्रावर्तित, प्राविष्करण, क्रीत, प्रामृष्य, परिवर्त, अभिघट, उद्भिन्न, मालारोहण, आच्छेद और अनीशार्थ।

औद्देशिकदोष— पाखण्डी, श्रमण आदि के उद्देश्य से बनाया हुआ आहार लेना।

अध्यधि— पकते हुए अन्नादि में संयत को देखकर तंदुल आदि अधिक डाल देना।

पूति— प्रासुक में अप्रासुक मिश्र अथवा प्रासुक से ही मिश्र, जैसे-नया चूल्हा, बर्तन आदि में भोजन बनाकर संकल्प किया कि पहले साधु को देकर ही मैं प्रयोग में लूँगा, यह पूति दोष है।

मिश्र— अन्न प्रासुक है फिर भी पाखंडियों के साथ या गृहस्थों के साथ मुनियों को देना।

स्थापित— पात्र से भोजन निकालकर स्वगृह अथवा अन्यगृह में स्थापित किया हुआ आहार।

बलिदोष— यक्ष, नाग, कुलदेवता आदि के चढ़ाने के लिए बनाये हुए भोजन को आहार में देना।

प्राभृत— आहार काल से अतिरिक्त काल में हानि या वृद्धि करके दिया हुआ आहार।

प्रादुष्कार— आहार के उपयुक्त पात्र को भस्मादि से मांजना, भोजन या पात्र को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना आदि।

क्रीततर दोष— मुनि के घर में आने पर श्रावक अपने सचित्त या अचित्त वस्तु को ले जाकर अन्य श्रावक को देकर आहार लाकर साधु को देवे वह क्रीत दोष है।

ऋण (प्रामृष्य)— मुनि के घर में आने पर श्रावक अन्य किसी से उधार में लाकर जो आहार देवे उसे ऋण दोष कहते हैं।

परावर्त— अन्य श्रावकों को अपना चावल आदि देकर अच्छे चावल आदि लाकर मुनि को देना।

अभिघट— सरल पंक्ति से तीन अथवा सात घरों से आये हुए भात, लड्डू आदि साधु के ग्रहण करने योग्य हैं किन्तु इस पंक्तिक्रम से विरुद्ध लाये हुए आहार का लेना अभिघट दोष है।

उद्भिन्न— ढक्कन से बंद अथवा लाख आदि मुद्रित ऐसे पात्रों में रखे हुए जो औषधि, घी, लड्डू आदि पदार्थ हैं, उन्हें उसी समय खोलकर देना।

मालारोहण— नसैनी (सीढ़ी) से चढ़कर दूसरे मंजिल आदि की वस्तु को लाकर उसी समय देना।

आच्छेद्य— 'यदि यतियों को आहार नहीं दोगे तो तुम्हारा धन आदि लूट लेंगे', ऐसा राजादि द्वारा डर दिखाये जाने पर आहार देना।

अनीशार्थ— जिस अन्न लड्डू आदि का अप्रधान अर्थ कारण है, उनका आहार देना अथवा दानपति के द्वारा जिसका निषेध किया गया है, ऐसा आहार ग्रहण करना।

ये दोष श्रावकों के निमित्त से साधु को लगते हैं इसलिए उद्गम कहे जाते हैं।

उत्पादन दोष के १६ भेदों के नाम— धात्री दोष, दूत, निमित्त, आजीव, वनीपक, चिकित्सा, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, पूर्वस्तुति, पश्चात् स्तुति, विद्या, मंत्र, चूर्णयोग और मूलकर्म।

धात्री दोष— धाय के सदृश बालक का पोषण संरक्षण आदि करके आहार लेना।

दूत— अन्य ग्राम आदि जाते समय किसी का संदेश कहकर आहार लेना।

निमित्त— स्वर, व्यंजन आदि निमित्तों से शुभ-अशुभ फल बताकर आहार लेना।

आजीव— जाति, कुल, शिल्प आदि को बताकर दाता को प्रसन्न कर आहार लेना।

वनीपक— दाता के अनुकूल वचन बोलकर आहार लेना अर्थात् यदि दाता ने पूछा कि ब्राह्मण, भिक्षुक आदि को भोजन देना दान पुण्य है या नहीं? तब उसके अभिप्राय को देखकर 'पुण्य' ऐसा कह देना।

चिकित्सा— औषधि आदि से दाता को खुश करके आहार लेना।

क्रोधादि कषाय— क्रोध, मान, माया या लोभ इन कषायों को करके आहार उत्पादन करना, ये इन चार कषायों के निमित्त से चार दोष होते है।

पूर्व संस्तुति— 'तू दानी है, कीर्तिमान है' इत्यादि रूप से दाता की प्रशंसा करके आहार लेना।

पश्चात् स्तुति— आहार लेने के बाद दाता की प्रशंसा करना।

विद्या— विद्या आदि का प्रलोभन देकर आहार ग्रहण करना।

मंत्र— मंत्र का प्रलोभन देकर आहार ग्रहण करना।

चूर्णदोष— अंजन चूर्ण आदि देकर भोजन ग्रहण करना।

मूलकर्म दोष— अवश को वश करने का उपाय बताकर आहार ग्रहण करना।

ये उत्पादन आदि सोलह दोष साधु के द्वारा किये जाने से उत्पादन कहलाते हैं।

एषणा दोष के दस भेदों के नाम और लक्षण

शंकित— यह भोजन अध:कर्म से उत्पन्न हुआ है या नहीं? इत्यादि शंका करके आहार लेना।

म्रक्षित— घी, तेल आदि लिप्त हाथ से या लिप्त कलछी से दिया हुआ आहार लेना।

निक्षिप्त— सचित्त पृथ्वी, जल आदि पर रखा हुआ आहार लेना।

पिहित— अप्रासुक अथवा प्रासुक ऐसे बड़े आच्छादन हटाकर आहार लेना।

संव्यवहरण— आदर से या डर से आहार देते समय वस्त्र आदि को खींचकर आहार देवेद्ध सो ले लेना।

दायक— अशुद्ध दाता से, सूतक-पातक दोषों से दूषित जन से, दूध आदि पिलाती हुई स्त्री से या नपुंसक से आहार लेना।

उन्मिश्र— अप्रासुक द्रव्य से मिश्र आहार लेना।

अपरिणत— अग्न्यादि से अपक्व आहार या लवंग आदि से परिणत नहीं हुए जलादि का आहार लेना।

लिप्त— गेरु आदि से लिप्त पात्र से या हाथ से दिये हुए आहार को लेना या अप्रासुक जलादि से गीले हाथ और पात्र से आहार लेना।

छोटित— हाथ से बहुत सा दूध आदि गिराते हुए या अरुचिकर वस्तु को हाथ से गिराते हुए आहार लेना।

ये अशन के दस दोष हैं, जो हाथ में आये हुए भोजन से संबंध रखते हैं इसलिए अशन दोष कहलाते हैं।

संयोजना दोष— आहार और दान के पदार्थ मिश्रित कर देना अथवा ठंडा आहार उष्ण पान आदि से मिश्रित करना।

अतिमात्र (अप्रमाण) दोष— उदर के दो भाग पदार्थ से एवं एक भाग पेय पदार्थ से पूरित करना चाहिए तथा एक भाग खाली रखना चाहिए तभी आलस्य के बिना स्वाध्याय आदि क्रियाएँ निर्विघ्न होती हैं। इसका उल्लंघन करके अतिमात्र में भोजन करना ये दोष है।

अंगार दोष— अति लम्पटता से भोजन करना अंगार दोष है।

धूम दोष— अपने को इष्ट नहीं ऐसे पदार्थों की मन में निन्दा करता हुआ आहार ग्रहण करना धूमदोष है।

इस प्रकार से १६ उद्गम के, १६ उत्पादन के, १० एषणा के और संयोजना, अप्रमाण, अङ्गार और धूम ये ४६ दोष पिंडशुद्धि के कहलाते हैं। साधुओं को इन दोषों से रहित आहार ग्रहण करना चाहिए।

अन्तराय के ३२ भेद

१. **काक नामक अन्तराय**— मुनि आहार के लिए जा रहे हों या खड़े हों, ऐसे समय यदि काक बक, श्येन आदि पक्षी शरीर पर मलमूत्र कर दें तो यह काक अन्तराय होता है।

२. **अमेध्य**— अपवित्र विष्ठादिक से पादादिक का लिप्त हो जाना।

३. **छदि**— आहार के लिए खड़े हुए मुनिराज को वमन हो जाना।

४. **रोधन**— 'आहार के लिए तुम नहीं जा सकते' ऐसा कहना।

५. **रुधिर**— भोजन के समय अपने अथवा अन्य के चार अंगुल प्रमाण रक्त बहता हुआ देखना।

६. **अश्रुपात**— दु:ख से अपने अथवा पर के आँखों से अश्रु का बहना।

७. **जान्वध: परामर्श**— घुटने के नीचे यदि हाथ से स्पर्श हो जावे।

८. **जानूपरिव्यतिक्रम**— घुटने के ऊपर के स्थान को उल्लंघन करके जाना।

९. **नाभ्यधोनिर्गमन**— नाभि के ऊपर के स्थान को उल्लंघन करके जाना।

१०. **प्रत्याख्यात सेवना**— त्याग की हुई वस्तु का आहार में ग्रहण कर लेना।

११. **जन्तुवध**— अपने सामने मार्जारादि के द्वारा चूहा वगैरह का वध हो जाना।

१२. **काकादि पिंडहरण**— कौवे आदि पक्षी के द्वारा मुनि के हाथ का ग्रास हरण हो जाना।

१३. **ग्रासपतन**— भोजन करते समय साधु के हाथ से ग्रास गिर जाना।

१४. **पाणिजन्तुवध**— हस्तपात्र में यदि कोई चिंवटी आदि प्राणी आकर स्वयं मर जाये।

१५. **मांसादिदर्शन**— मांस, मद्य और मरे हुए पंचेन्द्रियों का शरीर दिख जाना।

१६. **पादान्तर प्राणिनिर्गमन**— आहार लेते समय दोनों पावों के बीच से पंचेन्द्रिय जीव चूहा आदि

का निकलना।

१७. **देवाद्युपसर्ग**— देवों, तिर्यञ्चों आदि द्वारा उपसर्ग का होना।

१८. **भाजनसम्पात**— देने वाले के हाथ से पात्र का गिर जाना।

१९. **उच्चार**— आहार के समय अपने उदर से विष्टा आदि का निकलना।

२०. **प्रस्रवण**— आहार के समय मूत्र आदि का निकलना।

२१. **अभोज्यगृहप्रवेश**— आहार के लिए निकलने पर चाण्डालादि के गृह में प्रवेश हो जाना अथवा सूतकपातक आदि से सहित श्रावकों के यहाँ आहार के लिए जाना।

२२. **पतन**— भ्रम, मूर्च्छा, थकावट आदि से गिर जाना।

२३. **उपवेशन**— आहार के समय साधु यदि बैठ जावे।

२४. **सदंश**— कुत्ता, बिल्ली वगैरह के द्वारा काट जाना।

२५. **भूमिस्पर्श**— सिद्ध भक्ति हो जाने के बाद भूमि का हाथ से स्पर्श हो जाना।

२६. **निष्ठीवन**— कफ, थूक आदि का मुनि द्वारा जमीन पर किया जाना।

२७. **करेणकिंचित्ग्रहण**— आहार के समय मुनि भूमि से कुछ उठा ले।

२८. **उदरकृमिनिर्गमन**— पेट से कृमि का निकलना।

२९. **अदत्तग्रहण**— नहीं दी हुई वस्तु का ग्रहण करना।

३०. **प्रहार**— अपने ऊपर अथवा अन्य के ऊपर प्रहार करना।

३१. **ग्रामदाह**— यदि गाँव में आग लग जावे उस समय अन्तराय है।

३२. **पादेन किंचित् ग्रहण**— भूमि पर से किसी वस्तु को पैर से उठा लेना।

ये ३२ अन्तराय बतलाये गये, इनके अतिरिक्त चाण्डालादि स्पर्श, कलह, इष्टमरण, साधर्मिक संन्यास पतन, प्रधान मरण आदि इन अन्तरायों का भी पालन करना चाहिए।

इन अन्तरायों के अतिरिक्त १४ मल दोष माने गये हैं, उनका स्पष्टीकरण—

नख, रोम, जन्तु (विकलत्रय का मृत कलेवर), अस्थिर कण (जौ, गेहूं, आदि का अवयव), कुण्डक (शालि आदि के अन्दर का अवयव), पूय (पीव), रक्त, चर्म, मांस, बीज, फल, कंद, मूल ये चौदह मल माने गये हैं। इनमें कोई महामल है और कोई अल्पमल है। रक्त, मांस, अस्थि, चर्म, पीव ये महादोष हैं। आहार में इनके दर्शन से सर्व आहार त्याग करके प्रायश्चित्त भी कर लेना चाहिए। द्वीन्द्रिय आदि विकलत्रय का शरीर और बाल यदि आहार में दीख पड़े तो आहार त्याग कर देना चाहिए। नख दीख पड़े तो आहार त्याग के साथ अल्प प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए। अंकुरोत्पन्न धान्य, कण, कुण्ड, बीज, कंद, फल और मूल, इनको अन्न से अलग कर आहार ग्रहण कर सकते हैं।

मुनिजन छह हेतुओं से आहार ग्रहण करते हैं— वेदना— क्षुधा की वेदना मिटाने के लिए। वैयावृत्य— अपनी और अन्य की वैयावृत्ति करने के लिए। क्रियार्थ— सामायिक आदि आवश्यक क्रियाओं का निर्विघ्न पालन करने के लिए। संयमार्थ— तेरह प्रकार के संयम का पालन करने के लिए। प्राणचिन्ता— प्राणों की रक्षा आहार बिना असंभव है और प्राणों के बिना— आयु के बिना रत्नत्रय सिद्धि नहीं हो सकती। धर्मचिन्ता— आहार के बिना दशधर्मादि का पालन कैसे होगा? ऐसा सोचकर उपर्युक्त छह कारणों से मुनि आहार ग्रहण करते हैं।

आहार त्याग के कारण— आकस्मिक व्याधि या पीड़ा हो जाने से, उपसर्ग आ जाने से आहार का त्याग कर देते हैं। ब्रह्मचर्य की रक्षा हेतु, प्राणि दया हेतु, अनशन तपश्चरण हेतु और संन्यास के काल में मुनि नि:स्पृह होकर आहार का त्याग कर देते हैं।

वास्तव में बल, आयु के लिए साधु आहार नहीं लेते हैं किन्तु स्वाध्याय, संयम और ध्यान की सिद्धि के लिए ही साधु आहार ग्रहण करते हैं। नवकोटि से विशुद्ध, श्रावकों द्वारा नवधाभक्ति से दिये गये आहार को अन्तराय आदि टाल कर लेते हैं।

समाचार का वर्णन

समाचार शब्द के चार अर्थ हैं— रागद्वेष रहित प्रवृत्ति को समाचार कहते हैं अथवा निरतिचार मूलगुणों का आचरण समाचार है अथवा प्रमत्तसंयत आदि मुनियों का अहिंसादिरूप आचार समाचार है अथवा सब क्षेत्रों में कायोत्सर्ग आदि आचारों का पालन करना समाचार है।

समाचार के दो भेद हैं— औघिक और पदविभागिक।

सामान्य आचार को औघिक कहते हैं— इसके दश भेद हैं। सूर्योदय से प्रारंभ कर अहोरात्र तक मुनियों का जितना आचार है, वह सब पदविभागिक है। उसके अनेक भेद हैं।

औघिक के दश भेद— इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका, निषेधिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छंदन, सनिमंत्रण और उपसपंत्।

इच्छाकार— सम्यग्दर्शन आदि इष्ट को हर्ष से स्वीकार करना। इसमें स्वेच्छा से प्रवृत्ति करना।

मिथ्याकार— अतिचारों के होने पर 'यह अपराध मिथ्या हो' ऐसा मैं फिर नहीं करूँगा। ऐसा कहना।

तथाकार— गुरु आदि से सूत्र का अर्थ सुनकर 'यह सत्य है' ऐसा कहना।

आसिका— रहने के स्थान, मंदिर-गुफा आदि से निकलते समय वहाँ के व्यंतर आदि देवों से पूछकर जाना।

निषेधिका— जिन मंदिर, निवास स्थान में प्रवेश करते समय नि:सही बोलते हुए वहाँ के व्यंतर आदि से पूछकर प्रवेश करना।

आपृच्छा— गुरु आदिकों से वंदनापूर्वक प्रश्न करना। आहार आदि के लिए जाते समय पूछना।

प्रतिपृच्छा— किसी बड़े कार्य के समय गुरु आदि से बार-बार पूछना।

छन्दन— उपकरण आदि के ग्रहण करने में या वन्दना आदि क्रिया में आचार्य के अनुकूल प्रवृत्ति करना।

सनिमंत्रण— गुर्वादि से विनयपूर्वक पुस्तकादि की याचना करना।

उपसंपत्— गुरुजनों के लिए "मैं आपका ही हूँ" ऐसा आत्मसमर्पण करना।

पदविभागिक समाचार

कोई धैर्य, वीर्य, उत्साह आदि गुणों से सहित मुनि अपने गुरु के पास सभी श्रुत पढ़कर अन्य आचार्य के पास पढ़ने के लिए यदि जाना चाहता है, तो वह गुरु के पास विनय से अन्यत्र जाने की आज्ञा हेतु बार-बार प्रश्न करता है। अवसर देखकर शिष्य तीन, पाँच अथवा छह बार प्रश्न करता है। दीक्षागुरु, शिक्षागुरु से आज्ञा लेकर अपने साथ एक, दो या तीन मुनि लेकर जाता है क्योंकि एकाकी विहार का आचार्यों ने निषेध किया है।[1]

यहाँ मुनियों के आचार का दिङ्मात्र वर्णन किया है, विशेष मूलाचार आदि ग्रंथों से देखना चाहिए।

आर्यिकाओं का समाचार

आर्यिकाएँ परस्पर में अनुकूल रहें, ईर्ष्या आदि से दूर रहें। उपर्युक्त मूलगुणों का और दश प्रकार के समाचार गुणों का पालन करें। आर्यिकाओं के लिए वृक्षमूल, आतापन आदि योग का निषेध है, बाकी सभी क्रियाएँ मुनियों के समान ही हैं।

आर्यिकाएँ ग्राम से न अधिक दूर, न निकट, ऐसी वसतिका में मिलकर वात्सल्य से रहती हैं। यतियों के स्थान से दूर रहें। ये गणिनी की आज्ञा लेकर ही आहार आदि के लिए गमन करें। गुरुओं के दर्शनार्थ या प्रायश्चित्त आदि लेने के लिए गणिनी को साथ लेकर ही जावें। साधुपद के अयोग्य रोना, गाना, सोना, आरंभ आदिरूप कोई भी क्रियाएँ न करें।

विशेष— आर्यिकाएँ दो साड़ी रखती हैं और बैठकर ही करपात्र में आहार ग्रहण करती हैं। इतना ही मुनियों से इनमें अंतर है। इनके पंच महाव्रत उपचार से कहे जाते हैं इसलिए इनके संयमरूप छठा गुणस्थान नहीं होता है। फिर भी ऐलक की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। एक लंगोटीमात्र ऐलक[2] द्वारा भी वंदनीय हैं।

कहा भी है— "ग्यारहवीं प्रतिमाधारी ऐलक लंगोटी में ममत्व सहित होने से उपचार महाव्रत के योग्य भी नहीं है किन्तु आर्यिका एक साड़ी मात्र धारण करने पर भी ममत्व रहित होने से उपचार महाव्रत के योग्य हैं।"

संघ के पाँच आधार[3]— जिस संघ में आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर ये पाँच

---

१. सच्छंद गदागदी सयण णिसयणादाणभिक्ख वोसरणे।
सच्छंदजपंरोचि य मा भू मे सत्तू वि एगागी।।२९।।-मूलाचार श्री कुन्दकुन्द कृत।

२. कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतम्।
अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटिकेऽप्यार्यिकार्हति।।३६।।-सागार धर्मामृत पृ. ५१८

३. तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा।
आइरिय-उवज्झाया, पवत्तथेरा गणधरा य।।३४।।-मूलाचार

आधार रहते हैं, उस संघ में ही विद्याध्ययन आदि सुचारू रहते हैं।

आचार्य— शिष्यों के ऊपर अनुग्रह में कुशल, पंचाचार का स्वयं पालन करने और शिष्यों को कराने वाले, प्रायश्चित्त आदि देने वाले आचार्य होते हैं।

उपाध्याय— जो शिष्यों को श्रुत पढ़ाते हैं।

संघ प्रवर्तक— जो चार प्रकार के मुनियों को चर्यादि में प्रवृत्ति कराते हैं।

स्थविर (मर्यादोपदेशक)— जो बाल, वृद्ध मुनियों को उपदेश देकर सन्मार्ग का पालन करते हैं।

आज इस पंचमकाल में मिथ्यादृष्टियों की बहुलता होने से एवं हीन संहनन आदि होने से मुनियों को संघ में ही रहना चाहिए, एकलविहारी नहीं बनना चाहिए।

आचार्य, उपाध्याय और साधुपरमेष्ठी का लक्षण

आचार्य— जो दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन पांच आचारों का स्वयं आचरण करते हैं और अन्यों को कराते हैं तथा छत्तीस गुणों से रहित होते हैं, वे आचार्य परमेष्ठी कहलाते हैं।

छत्तीस गुणों के नाम— बारह तप, दशधर्म, पाँच आचार, छह आवश्यक क्रियाएँ, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति तथा कायगुप्ति ऐसे ये छत्तीस गुण आचार्य परमेष्ठी के होते हैं।

ये आचार्य शिष्यों को शिक्षा, दीक्षा और प्रायश्चित्त आदि देते हैं और संघ के नायक कहलाते हैं।

उपाध्याय— जो चौदह वर्ष के व्याख्याता हैं अथवा [१]तत्कालीन परमागम के व्याख्यान करने वाले हैं। ये शिष्यों को पढ़ाते हैं किन्तु संग्रह करना, दीक्षा देना आदि कार्य नहीं करते हैं। इनके पच्चीस गुण कहे गये हैं। यथा— आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृकथांग, उपासकाध्ययनांग, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरोपपादिकदशांग, प्रश्नव्याकरणांग और विपाकसूत्रांग ये ग्यारह अंग हैं।

उत्पादपूर्व, अग्रायणीय, वीर्यानुप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, कर्मप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणानुवाद, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार ये चौदह पूर्व कहलाते हैं। ये उपाध्याय परमेष्ठी इन अंग-पूर्वों का पठन-पाठन करने से पच्चीस गुणधारी कहे जाते हैं अथवा तत्कालीन सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता, पढ़ाने वाले होने से भी उपाध्याय कहलाते हैं।

साधु— जो अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हैं अथवा तेरह प्रकार का चारित्र और तेरह प्रकार की क्रियाओं में कुशल हैं। प्रमाद रहित आवश्यक क्रियाओं को करने वाले हैं अथवा छत्तीस प्रकार के उत्तर गुणों को पालन करते हैं। अठारह हजार शील के भेदों के धारक, चौरासी लाख उत्तरगुणों के पालक साधु परमेष्ठी होते हैं।

आचार्य, उपाध्याय, साधु इन तीनों में सर्वप्रथम अट्ठाईस मूलगुण होना परम आवश्यक है। जैसे मूल के बिना वृक्ष नहीं हो सकता, वैसे ही मूलगुणों के बिना मुनि नहीं हो सकते।

---

१. तत्कालिक प्रवचन व्याख्यातारो वा।-धवला प्र. पु. पृ. ५१।

मुनि के चार भेद हैं— यति, मुनि, अनगार और ऋषि। उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी पर चढ़ने वाले यति कहलाते हैं। अवधिज्ञानी, मन:पर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी मुनि कहलाते हैं। ऋद्धि को प्राप्त हुए महासाधु ऋषि कहलाते हैं। अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करने वाले गृहत्यागी, वन, मठ, मंदिर आदि में रहने वाले मुनि अनगार कहलाते हैं। आजकल के सभी साधु अनगार लक्षण वाले हैं।

मुनियों के छत्तीस उत्तर गुणों का वर्णन— बारह तप और बाईस परीषहों को उत्तर गुण कहते हैं। इनका संक्षिप्त लक्षण इस प्रकार है—

बारह तप— अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अभ्यन्तर तप हैं।

अनशन— चार प्रकार के आहार का त्याग करना।

अवमौदर्य— भूख से कुछ कम खाना।

वृत्तिपरिसंख्यान— आहार के समय अटपटी प्रतिज्ञा ले लेना।

रसपरित्याग— मधुर आदि रसों का त्याग करना।

विविक्तशय्यासन— विषयीजनों के संचार रहित स्थान में सोना, बैठना।

कायक्लेश— शरीर से आसन आदि के समय कष्ट सहन करना।

प्रायश्चित्त— व्रतादि में दोष लग जाने पर गुरु से प्रायश्चित्त ग्रहण करके शोधन करना।

विनय— दर्शन, ज्ञानादि का और उनके धारकों का आदर करना।

वैयावृत्ति— आचार्य, उपाध्याय आदि की उनके अनुकूल सेवा शुश्रूषा करना।

स्वाध्याय— वाचना, पृच्छना आदि पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना।

व्युत्सर्ग— अंतरंग, बहिरंग उपाधि का त्याग करना।

ध्यान— समस्त चिन्ताओं का त्याग कर धर्म में तथा आत्मचिन्तवन में एकाग्र होना।

बाईस परीषहों के नाम— क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन। मोक्षार्थी पुरुष इन्हें शांतभाव से सहन करते हैं, तब इन्हें भिक्षा (आहार) नहीं मिलने पर या अल्प मिलने पर परीषहजय कहते हैं।

खेद को प्राप्त नहीं होना क्षुधा परीषहजय है।

प्यास की बाधा को समाधिरूपी जल से शांत करना तृषापरीषहजय है।

आवरण (वस्त्र) आदि से रहित खुले स्थान पर बर्फ आदि की ठण्डी को सहन करना शीत परीषहजय है।

ग्रीष्मकालीन सूर्य से संतप्त पृथ्वी पर उष्णता को सहन करना उष्ण परीषहजय है।

दंश, मशक, बिच्छू, सर्प आदि से काटे जाने पर उनकी पीड़ा को सहन करना दंशमशक परीषहजय है।

बालकवत् निर्विकार रहना नग्न परीषहजय है।

शून्य स्थान, गुफा आदि में अरुचि न करके ध्यान, अध्ययन करना अरति परीषहजय है।

स्त्री द्वारा विभ्रम भाव से बाधा पहुँचाने पर भी निश्चल मन रहना स्त्री परीषहजय है।

कंकरीली सड़कों पर चलते समय खेदखिन्न नहीं होना चर्यापरीषहजय है।

नियतकाल तक बैठने पर कष्ट होता है, उसे शांति से सहन करना निषद्या परीषहजय है।

स्वाध्याय आदि से थककर एक करवट, शयन करते समय कंकरीली आदि पृथ्वी के निमित्त से हुए कष्ट को सहन करना शय्या परीषहजय है।

अज्ञानियों द्वारा कठोर, असभ्य, निन्द्य वचन सुनकर भी क्रोध नहीं करना आक्रोश परीषहजय है।

अज्ञानी द्वारा तीक्ष्ण मुद्गर आदि से ताड़ित किये जाने पर भी दु:खी नहीं होना वध परीषहजय है।

शरीर के शुष्क हो जाने पर भी आहार, औषधि आदि नहीं मांगना याचना परीषहजय है।

बहुत काल तक आहार का लाभ न मिलने पर भी "लाभादलाभो वरं मे" लाभ की अपेक्षा अलाभ ही अच्छा है, ऐसा मानना अलाभ परीषहजय है।

अनेक रोगों के हो जाने पर भी औषधि उपचार आदि की अपेक्षा नहीं करना रोग परीषहजय है।

तृण, कंकर, कांटे आदि की बाधा को सहन करते हुए प्राणी पीड़ा को परिहार करने की भावना रखना तृणस्पर्श परीषहजय है।

स्नान त्याग व्रत होने से मल से लिप्त शरीर होते हुए खाज आदि रोग से उत्पन्न पीड़ा की उपेक्षा कर देना, मलिन शरीर से मन में ग्लानि नहीं लाना मलपरीषहजय है।

महातपस्वी, सिद्धान्तवेत्ता, कुशल साधु होने पर भी किसी द्वारा सत्कार पुरस्कार को प्राप्त नहीं होने पर मन में खिन्न नहीं होना सत्कार पुरस्कार परीषहजय है।

मैं बहुत ज्ञानी हूँ इत्यादि रूप से विद्या-बुद्धि का मद नहीं करना प्रज्ञा परीषहजय है।

'यह मूर्ख है' इत्यादि शब्दों द्वारा दूसरों से अपमानित होने पर भी और मैंने घोर तपश्चरण आदि किया है, फिर भी मुझमें ज्ञान का अतिशय नहीं होता है इत्यादि रूप से खिन्न नहीं होना अज्ञान परीषहजय है।

मैं शुद्ध परिणामी चिरदीक्षित हूँ फिर भी मेरी देवादिकों द्वारा कोई पूजा आदि नहीं होती है। 'महोपवासादि से देवों द्वारा अतिशय किया जाता था, यह सब असत्य दिखता है, ऐसा मन में नहीं सोचना अदर्शन परीषहजय है।

साधु, संवर और निर्जरा के लिए इन उत्तरगुणों का पालन भी करते हैं किन्तु यदि इन उत्तरगुणों का पालन न हो सके तो वे मुनि नहीं रहे, ऐसी बात नहीं है।

चारित्र के तेरह भेद— पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति ये तेरह प्रकार के चारित्र हैं। इसे

चरण भी कहते हैं।

करण के तेरह भेद— षट् आवश्यक क्रिया, पंचपरमेष्ठी को नमस्कार, आ:सही और नि:सही ये तेरह प्रकार की क्रिया हैं। इन्हें ही करण कहते हैं। षट् आवश्यक क्रियाओं का वर्णन अट्ठाईस मूलगुणों में आ चुका है।

पंचपरमेष्ठी— अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँचों परमेष्ठियों को नमन करना। किसी मंदिर, निवास स्थान आदि से निकलते समय असही और प्रवेश के समय निसही करना चाहिए।

प्रतिक्रमण— व्रतों में लगे हुए दोषों का निराकरण करना प्रतिक्रमण है। उसके सात भेद हैं— ईर्यापथिक, रात्रिक, दैवसिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ।

गमन करने, मंदिर आदि में पहुँचने पर ईर्यापथ शुद्धिपाठ 'ईर्यापथ' में प्रतिक्रमण होता है। रात्रि के अंत में रात्रिक, दिवस के अंत में— सायंकाल में दैवसिक, पन्द्रह दिन बाद— चतुर्दशी, अमावस्या या पूर्णिमा को किया जाने वाला प्रतिक्रमण पाक्षिक, कार्तिक और फाल्गुन की अष्टान्हिका के अंत में होने वाला चातुर्मासिक, वर्ष के अंत में अर्थात् आषाढ़[१] सुदी चतुर्दशी या पूर्णिमा को किया जाने वाला प्रतिक्रमण वार्षिक और मरणकाल में सर्व दोषों का प्रतिक्रमण उत्तमार्थ प्रतिक्रमण कहलाता है।

कायोत्सर्ग के भेद— शरीर से ममत्व का त्याग करना— णमोकार मंत्र का स्मरण करना कायोत्सर्ग है। इसका लघु काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल एक वर्ष पर्यन्त है। णमोकार मंत्र की गाथा बोलने में तीन श्वासोच्छ्वास लगना चाहिए। इस तरह नौ बार णमोकार मंत्र जपने में सत्ताईस श्वासोच्छ्वास हो जाते हैं। मल, मूत्र विसर्जन के अनन्तर, ईर्यापथ शुद्धि में, साधुओं के निषद्या क्षेत्र की वंदना में और आहार के अनन्तर इनमें पच्चीस श्वासोच्छ्वास में, नव बार णमोकार मंत्र पढ़ना चाहिए और स्वाध्याय, देववन्दना आदि के कायोत्सर्ग में सत्ताईस श्वासोच्छ्वास होने चाहिए। दैवसिक प्रतिक्रमण में १०८ श्वासोच्छ्वास, रात्रिक में ५६, पाक्षिक में ३००, चातुर्मासिक में ४००, वार्षिक में ५०० श्वासोच्छ्वास में कायोत्सर्ग होते हैं।

साधुओं के अहर्निश २८ कायोत्सर्ग— त्रिकाल देववंदना में चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्तिसंबंधी दो-दो २×३=६, दैवसिक, रात्रिक प्रतिक्रमण में सिद्ध, प्रतिक्रमण, वीर और चतुर्विंशतिभक्तिसंबंधी चार-चार ४×२=८, पूर्वाह्न, अपराह्न, पूर्वरात्रिक, अपररात्रिक ऐसे चार कालिक स्वाध्याय में— स्वाध्याय के प्रारंभ में श्रुतभक्ति, आचार्यभक्ति एवं समाप्ति में श्रुतभक्ति ऐसे तीन-तीन भक्तिसंबंधी ४×३=१२, रात्रियोग प्रतिष्ठापन में योगभक्तिसंबंधी एक और निष्ठापनसंबंधी एक ऐसे दो इस तरह सब मिलकर ६+८+१२+२=२८ कायोत्सर्ग साधुओं को नित्य ही करने योग्य हैं।

विशेष— सायंकाल में प्रतिक्रमण के अनन्तर 'मैं आज रात्रि में इसी वसतिका में निवास करूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा को रात्रियोग प्रतिष्ठापन कहते हैं। इसके अनुष्ठान में योगभक्ति की जाती है, ऐसे ही प्रात: प्रतिक्रमण के अनन्तर उस रात्रियोग का निष्ठापन योगभक्तिपूर्वक कर दिया जाता है। दैवसिक, रात्रिक प्रतिक्रमण में प्रतिक्रमण विधि स्पष्ट है जो कि क्रियाकलाप, मुनिचर्या आदि पुस्तकों में मुद्रित है। सूर्य उदयकाल, सूर्यास्त

---

१. 'आषाढान्तसांवत्सरी,'-अनगार ध., पृ. ५७९। २. आचारसार पृ. २३४ से। चारित्रसार। अनगार पृ. ६८।

३. धवला पु.....पृ. ९।

काल, मध्यान्ह और मध्यरात्रिक इन चारों समय में चार-चार घड़ी का काल छोड़कर बाकी काल चारों समय के स्वाध्याय का काल है।

देववन्दना (सामायिक) — सामायिक — देववन्दना करने का इच्छुक मुनि जिनचैत्यालय में जाकर मंदिर की तीन प्रदक्षिणा देवे।[२]

सामायिक की यही विधि सिद्धान्तसार में कही गई है —

"आदाहीणं[३], पदाहीणं, तिखुत्तं, तिऊणदं, चदुस्सिरं बारसावत्तं चेदि।"

स्वाधीनता, परीति — तीन प्रदक्षिणा, त्रयी निषद्या — तीन बार बैठकर आलोचना करना, त्रिबार कायोत्सर्ग करना, चार शिरोनति, बारह आवर्त, इस प्रकार छह कृतिकर्म देववन्दना में माने गये हैं।

देव वन्दना करने वाला मुनि स्वाधीन होकर देववन्दना करे। मंदिर की तीन प्रदक्षिणा देवे। तीन बार आलोचना करते समय बैठकर करे। तीन बार कृत्य विज्ञापना करे। एक कायोत्सर्ग में बारह आवर्त करे और चार शिरोनति करे अर्थात् सबसे प्रथम जिनमंदिर के पास पहुँचकर अपने पैर धोकर मंदिर की तीन प्रदक्षिणा देवे। अन्दर प्रवेश करके जिनेन्द्र भगवान के मुखकमल का दर्शन करते हुए पहले "पडिक्कमामि भंत्ते इरियावहिया" इत्यादि ईर्यापथ आलोचना पढ़े। अनन्तर "भगवन्! देववन्दनां करिष्यामि" इत्यादि प्रतिज्ञा करके "सिद्धं सम्पूर्ण भव्यार्थं" से लेकर "समता सर्वभूतेषु" आदिपर्यंत पाठ पढ़े पुनः नव बार जाप्य करके "थोस्सामि" इत्यादि चतुर्विंशति स्तव पढ़े। इनमें सामायिक दण्डक और थोस्सामि के आदि और अन्त में तीन-तीन आवर्त करना चाहिए। ऐसे एक कायोत्सर्गसंबंधी चार बार तीन-तीन आवर्त होने से बारह आवर्त हो जाते हैं पुनः वंदना मुद्रा से 'जयति भगवान' से प्रारंभ कर चैत्यभक्ति पढ़े और बैठकर "इच्छामि भंते चेइयभत्ति" इत्यादि आलोचना करें, ऐसे ही पंचगुरुभक्ति का क्रम है और अंत में समाधि भक्ति में भी यही क्रम है।[४] सभी क्रियाओं के अंत में समाधिभक्ति सर्व दोष शुद्धि के लिए की जाती है। ऐसे त्रिकाल[२] देववन्दना में चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति इन दो भक्ति संबंधी दो-दो कायोत्सर्ग प्रमुख होते हैं।

साधु की दिनचर्या

संयमी साधु शुद्ध स्वात्मोपलब्धि के प्रधान कारणभूत समाधि की सिद्धि के लिए अहर्निश स्वाध्याय आदि परिकर्म[३] को विधिवत् करें।

[४]अर्धरात्रि के अनन्तर दो घड़ी व्यतीत हो जाने पर साधु निद्रा का त्याग करके अपररात्रिकस्वाध्याय-प्रतिष्ठापनक्रियायां पूर्वा.....श्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" नव बार णमोकार मंत्र का जाप्य करके 'अर्हद्वक्त्रप्रसूतं' इत्यादि लघुश्रुतभक्ति पढ़े।

---

१. पूर्णतया सामायिक विधि को समझने के लिए मुनिचर्या, सामायिक भाष्य या 'सामायिक' नामक पुस्तकें देखें।
२. त्रिकाल देव वंदना और त्रिकाल सामायिक एक ही हैं अतः आगमोक्त विधिवत् सामायिक करना चाहिए।
३. शुद्धस्वात्मोपलम्भाग्रसाधनाय समाधये। परिकर्म मुनिः कुर्यात् स्वाध्यायादिकमन्वहम् ।। अनगार ध. पृ. ६२९।
४. साधु की इस दिनचर्या का प्रकरण अनगारधर्मामृत के आधार से है।
५. मुनिचर्या, क्रियाकलाप, धर्मध्यानदीपक आदि पुस्तकों में प्रतिक्रमण मुद्रित है।

"अथ अपररात्रिकस्वाध्यायप्रतिष्ठापनक्रियायां.....आचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं"

इस प्रकार प्रतिज्ञा करके कायोत्सर्ग करके "श्रुतजलधिपारगेभ्यः" इत्यादि लघु आचार्यभक्ति पढ़ें अनन्तर भक्तिपूर्वक ग्रंथ को नमस्कार करके स्वाध्याय प्रारंभ करें। सूर्योदय के दो घड़ी अवशेष रहने पर "अथ अपररात्रिकस्वाध्यायनिष्ठापनक्रियायां श्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" प्रतिज्ञा करके, कायोत्सर्ग करके लघु श्रुतभक्ति करें। इस प्रकार अपररात्रिक स्वाध्याय के प्रारंभ और समाप्ति में तीन कायोत्सर्ग हो जाते हैं।

अनन्तर 'रात्रिक प्रतिक्रमण' करके रात्रि-संबंधी दोषों का विशोधन करें। इस प्रतिक्रमण में सिद्ध, प्रतिक्रमण, वीर और चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति ऐसे चार भक्तियाँ प्रमुख होती हैं।[५]

प्रतिक्रमण के अनन्तर रात्रियोगनिष्ठापना करें अर्थात् सायंकाल में प्रतिक्रमण के अनन्तर जो रात्रियोग ग्रहण किया था, उसका त्याग करें। उसकी विधि—

"अथ रात्रियोगनिष्ठापनक्रियायां.....योगिभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।" प्रतिज्ञा करके ९ बार जाप्य करके "प्रावृट्काले" इत्यादि लघुयोगिभक्ति का पाठ करें। इसका अर्थ यह है कि जो मैंने रात्रि में इसी वसति में निवास का नियम किया था, उसको समाप्त करता हूँ पुनः लघु आचार्यभक्ति द्वारा आचार्य वन्दना करें।

अनन्तर सूर्योदय से लेकर दो घड़ी तक विधिवत् देव वन्दना करें। इसमें ईर्यापथ शुद्धि करके सामायिक स्वीकार करके वृहत् चैत्यभक्ति और पंचमहागुरुभक्ति करने का विधान है, अन्त में समाधि भक्ति की जाती है, इसके बाद अवशिष्ट समय में यथायोग्य आत्मध्यान करें। इस प्रकार यह सामायिक विधि होती है पुनः लघु सिद्धभक्ति और लघु आचार्यभक्तिपूर्वक पौर्वाह्निक आचार्य वंदना करें।

अनन्तर सूर्योदय से दो घड़ी बीत जाने पर 'पौर्वाह्निक' स्वाध्याय की प्रतिष्ठापना करके विधिवत् स्वाध्याय करके मध्यान्ह काल के दो घड़ी पूर्व स्वाध्याय विसर्जन कर देवे।

मध्याह्न के दो घड़ी पूर्व से "माध्यान्हिक देववन्दना" पूर्वोक्त विधि से करें। लघुश्रुत और आचार्यभक्तिपूर्वक आचार्य की वंदना करें। अनन्तर यदि उपवास है तो ध्यान, आराधना, जाप्य आदि में दो घड़ी व्यतीत करें अन्यथा यदि आहार के लिए जाना है तो गुरुवन्दना करके गोचरी वृत्ति से आहार को जावे।[१] वहाँ पड़गाहन आदि होने के बाद नवधाभक्ति के अनन्तर "अथ प्रत्याख्याननिष्ठापनक्रियायां सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" ऐसी प्रतिज्ञा करके ९ बार जाप्य करके लघु सिद्धभक्ति बोलकर पहले दिन आहार के अनन्तर ग्रहण किये गये प्रत्याख्यान की समाप्ति करके आहार प्रारंभ करे। आहार के बाद "अथ प्रत्याख्यानप्रतिष्ठापनक्रियायां सिद्धभक्ति कायोत्सर्ग करोम्यहं' ऐसी प्रतिज्ञा करके ९ बार जाप्य करके लघु सिद्धभक्ति बोलकर तत्काल ही प्रत्याख्यान ग्रहण कर लेवे अर्थात् अगले दिन आहार ग्रहण करने तक आहार का त्याग कर देवे पुनः गुरु के पास आकर लघु सिद्धभक्ति

१. आचार ग्रंथों में मध्यान्ह सामायिक के अनन्तर ही साधुओं को आहार के लिए जाने का विधान आता है किन्तु वर्तमान में मध्यान्ह सामायिक से पूर्व ९, १०, ११ बजे के काल में आहार की प्रथा है। सभवतः श्रावकों की आहार बेला में ही साधुओं को आहारार्थ जाना उचित होने से ऐसी प्रथा है। शास्त्रों में ऐसा विधान है कि श्रावकों के यहाँ भोजन का समय होने पर साधुचर्या के लिए निकलें। अतएव वर्तमान में सामायिक के पूर्व ही चर्यार्थ जाना सुघटित हो जाता है।

२. यह चार घड़ी मात्र का शयन उत्कृष्ट मार्ग है यदि इतने शयनमात्र से शरीर स्वास्थ्य काम नहीं कर सकता है तो शरीर का ध्यान करते हुए क्रिया करें अन्यथा स्वास्थ्य की हानि से स्वाध्याय ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

एवं योगिभक्ति बोलकर गुरु से प्रत्याख्यान ग्रहण करके लघु आचार्यभक्ति द्वारा आचार्य की वन्दना करें और गोचरी संबंधी दोषों का प्रतिक्रमण करें।

पुन: विधिवत् 'अपराह्निक' स्वाध्याय प्रतिष्ठापन करके सूर्यास्त से दो घड़ी पूर्व विसर्जित कर देवें।

अनन्तर 'दैवसिक प्रतिक्रमण' द्वारा दिवस संबंधी दोषों का निराकरण करके रात्रियोग ग्रहण कर लेवें। अर्थात् 'अथ रात्रियोगप्रतिष्ठापनक्रियायां योगिभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" प्रतिज्ञा करके लघु योगिभक्ति बोलकर 'मैं आज रात्रि में इसी वसति में रहूँगा" ऐसा नियम ग्रहण कर लेवें पुन: लघुसिद्धश्रुत आचार्यभक्ति द्वारा अपराह्निक आचार्य वन्दना करके विधिवत् 'अपराह्निक देववन्दना' करें।

पुन: सूर्यास्त से दो घड़ी बीत जाने पर पूर्वरात्रिक स्वाध्याय को विधिवत् प्रारंभ करके अर्धरात्रि के दो घड़ी पूर्व तक स्वाध्याय करके निष्ठापन कर देवे। अनन्तर श्रम का परिहार करने के लिए चार[२] घड़ी पर्यन्त शयन करें। साधुओं की यह अहर्निश चर्या संक्षेप से कही गई है। विस्तार से अनगार धर्मामृत, मूलाचार, आचारसार आदि से समझना चाहिए।

इस प्रकार इस दैनिकचर्या में चार बार स्वाध्याय के १२, तीन बार देववन्दना के ६, दो बार प्रतिक्रमण के ८ और दो बार योगभक्ति के २, ऐसे २८ कायोत्सर्ग हो जाते हैं।

नैमित्तिक क्रिया

चतुर्दशी के दिन देववन्दना में सिद्ध, चैत्य, श्रुत, पंचगुरु और शांति इस तरह पाँच भक्तियाँ करनी चाहिए अथवा चैत्य, पंचगुरु के मध्य में श्रुतभक्ति करके तीन भक्तियाँ ही करना चाहिए।

अष्टमी के दिन सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, आलोचना सहित चारित्रभक्ति अर्थात् चारित्रभक्ति करके 'इच्छामि भंते अट्ठमियम्हि' इत्यादि आलोचना बोलकर शान्तिभक्ति करके समाधि भक्ति करें।

आष्टान्हिक पर्व में पौर्वाह्निक स्वाध्याय के अनन्तर सभी साधु मिलकर सिद्ध, नन्दीश्वर, पंचगुरु और शान्ति भक्ति का पाठ करें। ऐसे ही श्रुतपंचमी आदि की क्रियाओं को ग्रंथों से देखना चाहिए।

वर्षायोग— आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी के दिन 'मंगलगोचर मध्यान्ह वन्दना' करके आहार के अनन्तर बृहत् सिद्धभक्ति, योगभक्तिपूर्वक उपवास ग्रहण करके बृहत् आचार्यभक्ति, बृहतशान्तिभक्ति करें। अनन्तर आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को पूर्वरात्रि में वर्षायोगप्रतिष्ठापना में क्रिया-कलाप के आधार से सिद्धभक्ति, योगभक्ति, चैत्यभक्ति आदि क्रियाएँ करके वर्षायोग ग्रहण कर लेवें।

अनन्तर उपवासपूर्वक कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पश्चिम रात्रि में आगमोक्त भक्तिपाठपूर्वक "वर्षायोगनिष्ठापना" करके रात्रिकप्रतिक्रमण करें पुन: वीरनिर्वाण क्रिया करें। इसमें सिद्धभक्ति, निर्वाणभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शान्तिभक्ति की जाती है। बाद में देववन्दना करें।

तीर्थंकरों के कल्याणक स्थानों की वंदना में, मुनियों, आचार्यों की निषद्या वन्दना में भी शास्त्रोक्त भक्तियों का पाठ करके कृतिकर्मपूर्वक वंदना की जाती है। इस प्रकार यहाँ संक्षेप में मुनियों की नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं को बताया है।

इस प्रकार साधु अपनी नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं को करते हुए शक्ति के अनुसार कर्मदहन, चारित्र शुद्धि, सिंहनिष्क्रीडित आदि व्रतों का अनुष्ठान भी करते हैं। इन व्रतों के द्वारा अपने कर्मों की निर्जरा करते हुए तथा सातिशय पुण्य बंध करते हुए अपने संसार को बहुत ही लघु कर लेते हैं अर्थात् दो-चार भवों में जल्दी ही मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

ये मुनि दश धर्मों का पालन करते हैं। षोडशकारण भावनाओं के चिन्तवन से तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके तीन लोकों के भव्य जीवों का अनुग्रह करने में समर्थ हो जाते हैं।

मुनियों के दश धर्म

समिति में तत्पर मुनि प्रमाद का परिहार करने के लिए दश धर्म का पालन करते हैं। उनके नाम—

उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म हैं।

उत्तमक्षमा— शरीर की स्थिति के कारण आहार के लिए जाते हुए मुनि को दुष्टजन गाली देवें, उपहास करें, तिरस्कार करें, मारें-पीटें आदि तो भी मुनि के मन में कलुषता का न आना उत्तम क्षमा है।

उत्तम मार्दव— जाति आदि मदों के आवेशवश अभिमान न करना।

उत्तम आर्जव— मन, वचन, काय की कुटिलता को न करना।

उत्तम शौच— प्रकर्ष प्राप्त लोभ का त्याग करना।

उत्तम सत्य— साधु पुरुषों के साथ साधु वचन बोलना।

उत्तम संयम— प्राणी की हिंसा और इन्द्रियों के विषयों का परिहार करना।

उत्तम तप— कर्मक्षय के लिए बारह प्रकार का तप करना।

उत्तम त्याग— संयम के योग्य ज्ञानादि का दान करना।

उत्तम आकिंचन्य— जो शरीर आदि है उनमें भी 'यह मेरा है' ऐसे अभिप्राय का त्याग करना।

उत्तम ब्रह्मचर्य— स्त्रीमात्र का त्याग कर देना अथवा स्वतंत्र वृत्ति का त्याग करने के लिए गुरुकुल में निवास करना[1] ये दश धर्म संवर के कारण माने गये हैं।

सोलहकारण भावनाएँ

१. **दर्शनविशुद्धि**— पच्चीस मलदोषरहित विशुद्ध सम्यग्दर्शन को धारण करना।

२. **विनयसम्पन्नता**— देव, शास्त्र, गुरु तथा रत्नत्रय का विनय करना।

३. **शीलव्रतों में अनतिचार**— व्रतों और शीलों में अतिचार नहीं लगाना।

४. **अभीक्ष्णज्ञानोपयोग**— सदा ज्ञान के अभ्यास में लगे रहना।

५. **संवेग**— धर्म और धर्म के फल में अनुराग होना।

---

१. सर्वार्थसिद्धि पृ. ३१४।

६. **शक्तितस्त्याग**— अपनी शक्ति के अनुसार आहार, औषधि, अभय और शास्त्र दान देना।

७. **शक्तितस्तप**— अपनी शक्ति को न छिपाकर अन्तरंग-बहिरंग तप करना।

८. **साधुसमाधि**— साधुओं का उपसर्ग आदि दूर करना या समाधि सहित वीरमरण करना।

९. **वैयावृत्यकरण**— व्रती, त्यागी साधर्मी की सेवा करना, वैयावृत्ति करना।

१०. **अर्हन्तभक्ति**— अरहंत भगवान की भक्ति करना।

११. **आचार्यभक्ति**— आचार्य की भक्ति करना।

१२. **बहुश्रुतभक्ति**— उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करना।

१३. **प्रवचन भक्ति**— जिनवाणी की भक्ति करना।

१४. **आवश्यक अपरिहाणि**— छह आवश्यक क्रियाओं का सावधानी से पालन करना।

१५. **मार्गप्रभावना**— जैनधर्म का प्रभाव फैलाना।

१६. **प्रवचनवत्सलत्व**— साधर्मी जनों में अगाध प्रेम करना।

इस सोलह भावनाओं में दर्शनविशुद्धि का होना बहुत जरूरी है, फिर उसके साथ दो-तीन आदि कितनी भी भावनाएँ हों या सभी हों, तो तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है।

ऋद्धियों का वर्णन

तपश्चर्या को करने वाले मुनि अनेक प्रकार की ऋद्धियों के स्वामी हो जाते हैं।

ऋद्धियों के आठ[१] भेद हैं— बुद्धिऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, क्रियाऋद्धि, तपऋद्धि, बलऋद्धि, औषधिऋद्धि, रसऋद्धि और क्षेत्रऋद्धि।

बुद्धिऋद्धि के १८, विक्रिया के ११, क्रिया के २, तप के ७, बल के ३, औषधि के ८, रस के ६ और क्षेत्र ऋद्धि के २ ऐसे अवान्तर भेद ५७ होते हैं।

बुद्धिऋद्धि के १८ भेद— अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, केवलज्ञान, बीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि, पदानुसारिबुद्धि, संभिन्नश्रोतृत्व, दूरास्वादनत्व, दूरस्पर्श, दूरघ्राण, दूरश्रवण, दूरदर्शन, दशपूर्वित्व, चौदहपूर्वित्व, निमित्तऋद्धि, प्रज्ञाश्रमण, प्रत्येकबुद्धित्व और वादित्व।

१. **अवधिज्ञान**— यह प्रत्यक्षज्ञान अन्तिमस्कंधपर्यन्त परमाणु आदि मूर्त द्रव्यों को जानता है।

२. **मन:पर्ययज्ञान**— यह ज्ञान चिन्तित, अचिन्तित या अर्धचिन्तित के विषयभूत अनेक भेदरूप पदार्थों को नरलोक के भीतर जानता है।

३. **केवलज्ञान**— यह ज्ञान सम्पूर्ण पदार्थों को, लोक और अलोक को विषय कर लेता है तथा इन्द्रियादि की सहायता से रहित अखण्ड है।

---

१. तिलोयपण्णत्ति पृ. २७१ से २८६ के आधार से है।

४. **बीजबुद्धि**— नोइन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय इन प्रकृतियों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से विशुद्ध हुए किसी महर्षि की बुद्धि, संख्यातस्वरूप शब्दों के बीच में से लिंग सहित एक ही बीजभूत पद को पर के उपदेश से प्राप्त करके उस पद के आश्रय से सम्पूर्ण श्रुत को विचार कर ग्रहण करती है, यह बीजबुद्धि है।

५. **कोष्ठबुद्धि**— उत्कृष्ट धारणा से युक्त कोई मुनि अनेक ग्रंथों के शब्दरूप बीजों को बुद्धि से ग्रहण करके मिश्रण रहित बुद्धिरूपी कोठे में धारण करता है।

६. **पदानुसारी**— यह बुद्धि आदि, मध्य अथवा अंत में गुरु के उपदेश से एक पद को ग्रहण करके सारे ग्रंथ को ग्रहण कर लेती है। इनके अनुसारिणी, प्रतिसारिणी और उभयसारिणी ऐसे तीन भेद होते हैं।

७. **संभिन्नश्रोतृत्व**— इस ऋद्धि वाला मुनि श्रोत्रेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर दशों दिशाओं में संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित मनुष्य-तिर्यंचों के अक्षरानक्षरात्मक बहुत प्रकार के होने वाले शब्दों को सुनकर प्रत्युत्तर दे सकता है।

८. **दूरास्वादित्व**— जिह्वा इन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र से बाहर संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित विविध रसों के स्वाद को जान लेना।

९. **दूरस्पर्शत्व**— स्पर्शनेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र से बाहर संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित आठ प्रकार के स्पर्शों को जान लेना।

१०. **दूरघ्राणत्व**— घ्राण इन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर संख्यात योजनों तक बहुत प्रकार के गंधों को ग्रहण कर लेना।

११. **दूरश्रवणत्व**— श्रोत्रेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर संख्यात योजनोंपर्यन्त में स्थिर रहने वाले बहुत प्रकार के मनुष्य और तिर्यंचों के अक्षरानक्षरात्मक शब्दों को श्रवण कर लेना।

१२. **दूरदर्शित्व**— चक्षु इन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर संख्यात योजनों में स्थित बहुत प्रकार के द्रव्यों को देखना यह दूरदर्शित्व है।

१३. **दशपूर्वित्व**— मुनियों के दशपूर्व के पढ़ने में पाँच सौ महाविद्या और सात सौ लघु विद्याओं के देवता आकर मुनि से आज्ञा मांगते हैं। उस समय जो महर्षि जितेन्द्रिय होने के कारण उन विद्याओं की इच्छा नहीं करते, वे दशपूर्वी हैं।

१४. **चौदहपूर्वित्व**— जो महर्षि सम्पूर्ण श्रुत के पारंगत श्रुतकेवली होते हैं, वे चौदह पूर्वी हैं।

१५. **अष्टांगमहानिमित्त**— यह ऋद्धि नभ, भौम, अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, चिन्ह और स्वप्न इन आठ भेदों से युक्त निमित्तज्ञान में कुशल है।

१६. **प्रज्ञाश्रमणत्व**— इस ऋद्धि से युक्त महामुनि अध्ययन के बिना ही चौदह पूर्वों में से अति सूक्ष्म विषय का निरूपण करने में कुशल होते हैं। इसके औत्पत्तिकी, पारिणामिकी, वैनयिकी और कर्मजा ऐसे चार भेद हो जाते हैं।

१७. **प्रत्येकबुद्धि**— जिसके द्वारा गुरु के उपदेश के बिना ही कर्मों के उपशम से सम्यग्ज्ञान और तप के विषय में प्रगति होती है,

१८. **वादित्व**— ऋद्धि के द्वारा शक्रादि के पक्ष को भी बहुत वाद से निरुत्तर कर दिया जाता है, वह वादित्व ऋद्धि है।

विक्रिया ऋद्धि के ग्यारह भेद— अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्धान और कामरूप।

१. **अणिमा**— अणु के बराबर शरीर को करना। इसके द्वारा महर्षि अणुप्रमाण छिद्र में प्रविष्ट होकर चक्रवर्ती के कटक और निवेश की रचना कर लेते हैं।

२. **महिमा**— मेरु के बराबर शरीर को कर लेना।

३. **लघिमा**— वायु से भी लघु शरीर को करना।

४. **गरिमा**— वज्र से भी अधिक गुरुतायुक्त शरीर को करना।

५. **प्राप्ति**— भूमि पर स्थित रहकर अंगुलि के अग्रभाग से सूर्य, चन्द्र, मेरुशिखर आदि को प्राप्त करना— छू लेना।

६. **प्राकाम्य**— इस ऋद्धि से जल के समान पृथ्वी पर उन्मज्जन-निमज्जन करना और पृथ्वी के समान जल में गमन करना।

७. **ईशित्व**— सब जगत् पर प्रभुता का होना।

८. **वशित्व**— सभी जीवसमूह का वश में होना।

९. **अप्रतिघात**— इस ऋद्धि के बल से शैल, शिला और वृक्षादि के मध्य में होकर आकाश के समान गमन करना।

१०. **अंतर्धान**— जिससे अदृश्यता प्राप्त होती है, वह अंतर्धान नामक ऋद्धि है।

११. **कामरूपित्व**— जिससे युगपत् बहुत से रूपों को रचता है, वह कामरूप ऋद्धि है।

क्रिया ऋद्धि के भेद— आकाशगामित्व और चारणत्व ये दो भेद हैं।

१. **आकाशगामित्व**— इनमें से जिस ऋद्धि के द्वारा कायोत्सर्ग आसन अथवा अन्य प्रकार से ऊर्ध्व स्थित होकर या बैठकर जाता है, वह आकाशगामित्व ऋद्धि है।

२. **चारणऋद्धि**— इस ऋद्धि को जलचारण, जंघाचारण, फलचारण, पुष्पचारण, पत्रचारण, अग्निशिखाचारण, धूम्रचारण, मेघचारण, धाराचारण, मर्कटतंतुचारण, ज्योतिश्चारण और मरुच्चारण ऐसे अनेकों भेद होते हैं।

चार अंगुलप्रमाण पृथ्वी को छोड़कर आकाश में घुटनों को मोड़े बिना जो बहुत योजनों तक गमन करना है, वह जंघाचारण ऋद्धि है। ऐसे ही सभी के लक्षण समझना।

तप ऋद्धि के भेद— उग्रतप, दीप्ततप, तप्ततप, महातप, घोरतप, घोरपराक्रम, अघोरब्रह्मचारित्व ये तप ऋद्धि के सात भेद हैं।

१. **उग्रतप ऋद्धि के दो भेद हैं**— उग्रोग्रतप, अवस्थित उग्रतप। दीक्षोपवास को आदि करके आमरणांत एक-एक अधिक उपवास को बढ़ाकर निर्वाह करना उग्रोग्रतप है।

दीक्षार्थ एक उपवास करके पारणा करे और पुनः एक-एक दिन का अन्तर देकर उपवास करता जाये पुनः कुछ निमित्त पाकर वेला, तेला आदि के क्रम से नीचे न गिरकर उत्तरोत्तर आमरणांत उपवासों को बढ़ाते जाना अवस्थित उग्रतप ऋद्धि है।

२. **दीप्त तप**— जिसके प्रभाव से मन, वचन, काय से बलिष्ठ ऋषि की बहुत उपवासों द्वारा शरीर कान्ति सूर्यवत् दैदीप्यमान होती जाये।

३. **तप्त तप**— तप्त कड़ाही में गिरे हुए जलकणवत् खाया हुआ अन्न धातुओं सहित क्षीण हो जाये, मलमूत्र आदि न बने।

४. **महातप**— जिसके बल से मुनि चार प्रकार के सम्यग्ज्ञानों के बल से मंदरपंक्ति प्रमुख सब ही महान् उपवासों को कर लेवें।

५. **घोरतप**— जिसके बल से ज्वर, शूलादि रोगों से शरीर के अत्यन्त पीड़ित होने पर भी दुर्द्धर तपश्चरण हो जाये।

६. **घोरपराक्रम**— जिसके प्रभाव से तीनों लोकों के संहार करने की शक्ति से युक्त अनेकों अद्भुत कार्यों को करने की शक्ति से सहित हो जाते हैं।

७. **अघोरब्रह्मचारित्व**— जिसके प्रभाव से मुनि के क्षेत्र में चौरादि की बाधाएँ, कालमहामारी, महायुद्धादि नहीं होते हैं।

बलऋद्धि के भेद— मन, वचन, काय के भेद से यह ऋद्धि तीन प्रकार की है।

१. **मनबल ऋद्धि**— इस ऋद्धि के बल से मुनि अन्तर्मुहूर्त मात्र काल में सम्पूर्ण श्रुत का चिंतवन कर लेते हैं।

२. **वचनबल**— इस ऋद्धि के प्रगट होने से मुनि श्रमरहित और अहीनकंठ होते हुए मुहूर्त मात्र के भीतर सम्पूर्ण द्वादशांग श्रुत का उच्चारण कर लेते हैं।

३. **कायबल**— इस ऋद्धि से मुनि मास, चार मास आदि पर्यंत कायोत्सर्ग करते हुए भी श्रम से रहित रहते हैं तथा तीनों लोकों को भी कनिष्ठा अंगुली के ऊपर उठाकर अन्यत्र स्थापित करने में समर्थ हो जाते हैं।

औषधि ऋद्धि के आठ भेद— आमर्षौषधि, क्ष्वेलौषधि, जल्लौषधि, मलौषधि, विप्रुषौषधि, सर्वौषधि, मुखनिर्विष और दृष्टिनिर्विष।

१. **आमर्षौषधि**— जिसके प्रभाव से जीव ऋषि के हाथ, पैरादि के स्पर्शमात्र से नीरोग हो जावें।

२. **क्ष्वेलौषधि**— इस ऋद्धि से मुनियों के लार, कफ, अक्षिमल आदि जीवों के रोगों को नष्ट कर देते हैं।

३. **जल्लौषधि**— मुनि के शरीर का पसीना सर्व रोगों को नष्ट कर देता है।

४. **मलौषधि**— मुनि के दांत, नासिका आदि का मल भी रोगों को नाश कर देवे।

५. **विप्रुषौषधि**— मुनियों के मूत्र, विष्ठा भी जीवों के भयानक रोगों का नाश कर देवे।

६. **सर्वौषधि**— दुष्कर तप से युक्त मुनियों का स्पर्श किया हुआ जल, वायु आदि सम्पूर्ण व्याधियों का नाश कर देवे।

७. **वचननिर्विष (मुखनिर्विष)**— तिक्त रस व विष से युक्त विविध प्रकार का अन्न जिन-मुनि के वचन से निर्विषता को प्राप्त हो जाता है।

८. **दृष्टिनिर्विष**— रोग और विष से युक्त जीव जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के द्वारा देखने मात्र से ही नीरोगता को प्राप्त कर लेते हैं।

रस ऋद्धि के छह भेद— आशीविष, दृष्टिविष, क्षीरस्रावी (क्षीरस्रावी), मधुस्रावी (मधुस्रावी), अमृतस्रवी (अमृतस्रावी), सर्पिस्रवी (सर्पिस्रावी)।

१. **आशीविष**— जिस शक्ति से दुष्कर तप से युक्त मुनि के द्वारा 'मर जावो' इस प्रकार कहने पर जीव सहसा मर जावे।

२. **दृष्टिविष**— जिससे रोष युक्त मुनि द्वारा देखने मात्र से जीव सहसा मर जावे।[१]

३. **क्षीरस्रावी**— मुनि के हस्ततल पर रखे हुए रूखे आहारादि तत्काल ही दुग्ध परिणाम को प्राप्त हो जाये अथवा जिनके वचन दुग्धवत् पुष्टिकारक होवें।

४. **मधुस्रावी**— मुनि के हाथ का आहार मधुरस युक्त हो जावे या उनके वचन मनुष्य, तिर्यंचों के दु:खनाशक होवें।

५. **अमृतस्रावी**— मुनियों के हाथ का रुक्ष आहार अमृतवत् हो जावे या उनके वचन अमृतवत् तुष्टि-प्रद होवें।

६. **सर्पिस्रावी**— मुनियों के हाथ का रुक्ष आहार क्षणमात्र में घृतरूप को प्राप्त कर ले या जिनके वचन दु:खादि को शांत कर देते हैं।

क्षेत्रऋद्धि के दो भेद— अक्षीणमहानसिक और अक्षीणमहालय।

अक्षीण महानसिक— जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के आहार के बाद शेष भोजनशाला में रखे हुए अन्न में से जिस किसी भी प्रियवस्तु को यदि उस दिन चक्रवर्ती का सम्पूर्ण कटक भी खावे, तो भी वह लेशमात्र क्षीण नहीं होती है।

---

१. इस प्रकार मुनि इन ऋद्धियों के प्रयोग से किसी का घात नहीं करते हैं, अन्यथा वे मुनि नहीं रहेंगे। यहाँ तो ऋद्धि की शक्ति-प्रभाव बतलाया गया है। २. मूलाराधना गाथा २६ पृ. १०४।

अक्षीणमहालय— जिस ऋद्धि के प्रभाव से समचतुष्कोण चार धनुषप्रमाण क्षेत्र में असंख्यात मनुष्य-तिर्यंच समा जाते हैं, वह अक्षीणमहालय ऋद्धि है।

घोराघोर तपश्चरण करने वाले मुनियों के ये ऋद्धियाँ प्रगट हो जाया करती हैं। गणधर देव के ये ऋद्धियाँ तत्क्षण ही उत्पन्न हो जाया करती हैं। ये ऋद्धियाँ भावलिंगी मुनियों के ही प्रगट होती हैं, अन्यों के नहीं हो सकती हैं।

सल्लेखना

मनुष्यादि भव के पर्याय का नाश होना मरण है।

उस मरण के पाँच भेद हैं— [1]पण्डित-पण्डित मरण, पण्डित मरण, बाल पण्डित मरण, बालमरण, बाल-बाल मरण।

पण्डित-पण्डित मरण— क्षीणकषाय केवली भगवान पण्डित-पण्डित मरण से मरते हैं अर्थात् केवली मरण का पण्डित-पण्डित मरण नाम है।

पण्डित मरण— छठे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक में होने वाला मरण पण्डित मरण है।

बाल पण्डित मरण— विरताविरत— देश संयत के मरण को बाल पण्डित मरण कहते हैं।

बालमरण— अविरत सम्यग्दृष्टि का मरण बाल मरण है।

बाल-बाल मरण— मिथ्यादृष्टि जीवों का मरण, आपघात आदि करके मरण करना, यह सब बाल-बाल मरण है क्योंकि ये जीव बार-बार मरण करते ही रहते हैं।

पण्डित मरण

पण्डित मरण के तीन भेद होते हैं— पादोपगमन, भक्त प्रतिज्ञा और इंगिनीमरण।

पादोपगमन— अपने पावों द्वारा संघ से निकलकर और योग्य प्रदेश में जाकर जो मरण किया जाता है, वह पादोपगमन मरण है। इसमें मुनिराज अपने शरीर की वैयावृत्य स्वयं भी नहीं करते हैं और इतर मुनियों द्वारा भी नहीं कराते हैं। विशिष्ट संहनन वाले मुनि ही इस मरण को स्वीकार करते हैं।

भक्त प्रतिज्ञा मरण— भक्त— आहार की प्रतिज्ञा— त्याग करना भक्त प्रतिज्ञा है। इस मरण में स्व-पर वैयावृत्य की अपेक्षा रहती है।

इंगिनी मरण— स्वाभिप्राय को इंगिनी कहते हैं, अपने अभिप्राय से युक्त होकर स्वयं ही स्व की शुश्रूषा करते हुए जो मरण किया जाता है, वह इंगिनीमरण है, इसमें मुनि दूसरे मुनियों से शुश्रूषा नहीं कराते हैं।

इस काल में पादोपगमन और इंगिनीमरण करने योग्य संहनन का अभाव है अतः भक्त प्रतिज्ञामरण का यहाँ स्पष्टीकरण करते हैं।

भक्तप्रत्याख्यान मरण के दो भेद हैं— सविचार भक्त-प्रत्याख्यान और अविचार भक्त-प्रत्याख्यान।

---

१. आचारसार पृ. २५७। २. भगवती आराधना पृ. १३५।

जो गृहस्थ अथवा मुनि उत्साह और बलयुक्त हैं, जिनका कुछ काल के अनन्तर मरण होगा, उनके सविचार भक्त-प्रत्याख्यान मरण होता है, इससे विपरीत अकस्मात् मरण के आ जाने पर पराक्रम रहित साधु का मरण अविचार भक्त-प्रत्याख्यान है।

भक्त-प्रत्याख्यान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्टकाल द्वादश वर्ष प्रमाण है, अर्थात् कोई भी मुनि निमित्तज्ञानादि[1] के द्वारा जब अपनी आयु को बारह वर्ष के भीतर निर्णीत कर लेते हैं, तब वे उत्कृष्ट सल्लेखना को ग्रहण कर लेते हैं।

वे[2] मुनिराज बारह वर्ष को किस प्रकार बितावें, सो कहते हैं। इन बारह वर्षों में प्रारंभ के चार वर्ष तो नाना प्रकार के अनशन, अवमौदर्य, सर्वतोभद्र, एकावली, द्विकावली, रत्नावली, सिंहावलोकन आदि तपों का अनुष्ठान करते हुए पूर्ण करें। आगे के चार वर्ष रसपरित्याग नामक तप से पूर्ण करें पुनः दो वर्ष तक कभी अल्प भोजन, कभी नीरस भोजन करते हुए बितावें पुनः एक वर्ष तक कभी अल्प आहार करते हुए पूर्ण करें। आगे छह महीने तक अनुत्कृष्ट तप करें पुनः आगे छह मासपर्यंत सर्वोत्कृष्ट तप करते हुए पूरा करें। इस प्रकार विधि बतलाई गई है अर्थात् भक्त प्रत्याख्यान सल्लेखना कषायों को कृश करते हुए विधिवत् काय को भी कृश करता जावे, इसी का नाम सल्लेखना है।

आचार्य अपनी सल्लेखना करने के लिए अपने योग्य शिष्य को अपना आचार्यपद देकर स्वयं संघ का त्याग कर अन्य संघ में जाकर सल्लेखना ग्रहण करते हैं अथवा कदाचित् अपने संघ में भी सल्लेखना लेते हैं। जो सल्लेखना ग्रहण करते हैं वे क्षपक कहलाते हैं और जो आचार्य उनकी सल्लेखना कराते हैं, वे निर्यापकाचार्य कहलाते हैं।

आचार्यों ने एक मुनि की सल्लेखना के समय अड़तालीस मुनियों की आवश्यकता बतलाई है। योग्य वसति में क्षपक को सल्लेखना ग्रहण कराकर वे मुनि क्या-क्या करते हैं? उसको बताते हैं।

चार मुनि क्षपक को उठाते, बिठाते आदि सेवा का काम करते हैं, जिससे संयम में बाधा न आवे।

चार मुनि क्षपक को धर्मश्रवण कराते हैं।

चार मुनि आचारांग के अनुकूल क्षपक को आहार कराते हैं।

चार मुनि क्षपक को पान (पीने योग्य पदार्थ) की व्यवस्था करते हैं।

चार मुनि क्षपक की रक्षा करते हैं।

चार मुनि क्षपक के शरीर के मल को दूर करते हैं।

चार मुनि क्षपक की वसतिका के द्वार के अधिकारी हैं।

चार मुनि अन्य दर्शनार्थियों को सम्बोधन करते हैं।

चार मुनि रात्रि में जागरण करते हुए क्षपक को संभालते हैं।

चार मुनि देश की प्रवृत्ति देखते हैं।

चार मुनि बाहर से आये जनों को कथादि सुनाते हैं।

---

१. सर्वार्थसिद्धि पृ. ३५३।

चार मुनि वाद करके अन्य मतों का निराकरण करते हैं।

ऐसे ये अड़तालीस निर्यापक मुनि यत्नपूर्वक क्षपक की समाधि सिद्ध करते हुए संसार समुद्र से पार कराते हैं। यदि अधिक रूप में समाधि के समय इतने मुनियों का योग न मिले, तो जितने हों उतने में ही उपर्युक्त व्यवस्था बना देना चाहिए। कम-से-कम दो मुनि होना अत्यन्त आवश्यक ही है।

इस प्रकार सल्लेखना से मरण करने वाले भव्य जीव अधिक से अधिक सात-आठ भव और कम से कम दो तीन भव ही ग्रहण करते हैं, अनन्तर मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेते हैं।

पाँच प्रकार के मुनि

पुलाक[१], वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पाँच भेद निर्ग्रन्थ मुनियों के होते हैं।

पुलाक— जो उत्तरगुणों की भावना से रहित हैं, कहीं पर और कदाचित् व्रतों में परिपूर्णता को प्राप्त नहीं होते हैं, वे पुलाक मुनि कहलाते हैं। ये मुनि भावसंयमी ही हैं, द्रव्यलिंगी नहीं हैं।

वकुश— जो निर्ग्रंथ होते हैं, व्रतों को अखंडरूप से पालन करते हैं, शरीर और उपकरणों की शोभा बढ़ाने में लगे रहते हैं, परिवार अर्थात् शिष्यों से घिरे रहते हैं और विविध प्रकार के मोह से युक्त होते हैं, वे वकुश कहलाते हैं।

कुशील के दो भेद हैं— प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील।

जो परिग्रह से घिरे हुए हैं, जो मूल और उत्तर गुणों में परिपूर्ण हैं लेकिन कभी-कभी उत्तरगुणों की विराधना करते हैं, वे प्रतिसेवना कुशील हैं।

जिन्होंने अन्य कषायों के उदय को जीत लिया है, जो केवल संज्वलन कषाय के आधीन हैं, वे कषाय कुशील हैं।

निर्ग्रन्थ— जिस प्रकार जल में की गई लकड़ी की रेखा अप्रगट रहती है उसी प्रकार जिनके कर्मों का उदय अप्रगट हो और जो अन्तर्मुहूर्त के बाद होने वाले केवलज्ञान, केवलदर्शन को प्राप्त करते हैं, वे निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

स्नातक— जिन्होंने घातिया कर्मों का नाश कर दिया है, ऐसे दोनों प्रकार के केवली स्नातक कहलाते हैं। ये पाँचों ही निर्ग्रंथ कहलाते हैं। इनमें चारित्र परिणामों की न्यूनाधिकता होने के कारण भेद होने पर भी नैगम, संग्रह आदि नयों की अपेक्षा सभी निर्ग्रंथ हैं अर्थात् भावलिंगी मुनि हैं।

संयमियों की संख्या— प्रमत्तसंयत गुणस्थान वाले मुनि ५३९८२०६, अप्रमत्त मुनि २९६९९१०३, उपशम श्रेणी वाले चारों गुणस्थानवर्ती ११९६, क्षपक श्रेणी वाले चारों गुणस्थानवर्ती २३९३, सयोगीजिन ८९८५०२, अयोगीजिन ५९८ ऐसे सभी संयमियों की संख्या मिलकर बराबर ८९९९९९९७ है अर्थात् छठे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक सभी संयमियों का प्रमाण तीन कम नव करोड़ है। उनको मैं हाथ

---

१. जो सारो सव्वसारेसु सो सारो एस गोयम।
सारं झाणंति णामेण सव्वं बुद्धेहिं देसिदं।।-पाक्षिक प्रतिक्रमण।

२. 'उत्तम संहननस्यैकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानमांतर्मुहूर्तात्'।।२७।।-तत्त्वार्थसूत्र नव. अ.।

जोड़कर शिर नमाकर नमस्कार करता हूँ।

ध्यान

बारह प्रकार के तप के अंतर्गत आभ्यन्तर तप के छह भेदों में अंतिम भेद ध्यान है। इस ध्यान के बल से ही मुनि कर्मों का नाश करते हैं। कहा भी है—

'सभी[१] सारों में भी सारभूत वस्तु क्या है? हे गौतम! वह सार ध्यान ही है, ऐसा सर्वदर्शियों ने कहा है।

ध्यान का लक्षण— एक[२] विषय में चित्तवृत्ति को रोकना ध्यान है। यह उत्तम संहनन वाले को एक अन्तर्मुहूर्त तक हो सकता है।

ध्यान के चार भेद हैं— आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल।

इनमें से आर्त, रौद्रध्यान संसार के हेतु हैं और धर्म, शुक्लध्यान मोक्ष के हेतु हैं।

आर्तध्यान

पीड़ा से उत्पन्न हुए ध्यान को आर्तध्यान कहते हैं।

इसके चार भेद हैं— विष, कंटक, शत्रु आदि अप्रिय पदार्थों का संयोग हो जाने पर 'वे कैसे दूर हों' इस प्रकार चिन्ता करना प्रथम अनिष्ट-संयोगज आर्तध्यान है।

अपने इष्ट-पुत्र, स्त्री और धनादिक के वियोग हो जाने पर उसकी प्राप्ति के लिए निरन्तर चिन्ता करना द्वितीय इष्टवियोगज आर्तध्यान है।

वेदना के होने पर उसे दूर करने के लिए सतत चिन्ता करना तीसरा वेदनाजन्य आर्तध्यान है।

आगामी काल में विषयों की प्राप्ति के लिए निरन्तर चिन्ता करना चौथा निदानज आर्तध्यान है।

यह आर्तध्यान छठे गुणस्थान तक हो सकता है। छठे में निदान नाम का आर्तध्यान नहीं हो सकता है।

रौद्र ध्यान

क्रूर परिणामों से उत्पन्न हुए ध्यान को रौद्रध्यान कहते हैं। उसके चार भेद हैं—

हिंसा में आनन्द मानना हिंसानन्द रौद्रध्यान है।

झूठ बोलने में आनन्द मानना मृषानन्द रौद्रध्यान है।

चोरी में आनन्द मानना चौर्यानन्द रौद्रध्यान है।

विषयों के संरक्षण से आनन्द मानना परिग्रहानन्द रौद्रध्यान है।

यह ध्यान पाँचवें गुणस्थान तक हो सकता है किन्तु देशविरतों का रौद्रध्यान नरक आदि दुर्गतियों का कारण नहीं हो सकता है।

धर्मध्यान

---

१. प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी।

संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होने के लिए या विरक्त होने पर उस भाव की स्थिरता के लिए जो प्रणिधान होता है, उसे धर्मध्यान कहते हैं।

उसके चार भेद हैं— आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान। इनकी विचारणा के निमित्त मन को एकाग्र करना धर्म्यध्यान है।

सर्वज्ञ प्रणीत आगम को प्रमाण मान करके 'यह इसी प्रकार हैं' क्योंकि जिनेन्द्र भगवान अन्यथावादी नहीं है। इस प्रकार सूक्ष्मपदार्थों का भी श्रद्धान कर लेना आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

मिथ्यादृष्टि प्राणी उन्मार्ग से कैसे दूर होंगे? इस प्रकार निरन्तर चिन्तवन करना अपायविचय धर्म्यध्यान है।

ज्ञानावरणादि कर्मों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव निमित्तक फल के अनुभव के प्रति उपयोग का होना विपाक विचय धर्म्यध्यान है।

लोक के आकार और स्वभाव का निरन्तर चिन्तवन करना संस्थानविचय धर्म्यध्यान है।

अन्यत्र धर्म्यध्यान[1] के दश भेद भी माने हैं। यथा—

अपायविचय, उपायविचय, विपाकविचय, विरागविचय, लोकविचय, भवविचय, जीवविचय, आज्ञाविचय, संस्थान विचय और संसार विचय- ये धर्मध्यान के दश भेद हैं।

मुख्यरूप से संस्थानविचय आदि धर्म्यध्यान के स्वामी[1] मुनि ही हैं किन्तु गौणरूप से असंयत सम्यग्दृष्टि और देशविरत भी माने गये हैं अर्थात् यथाशक्ति श्रावकों को भी ध्यान का अभ्यास करना चाहिए।

आगे संस्थान धर्मध्यान के विशेष भेदों का वर्णन करते हैं।

संस्थान विचय धर्मध्यान

संस्थान विचय[2] धर्मध्यान के चार भेद हैं— पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत।

पिण्डस्थ ध्यान— पिण्डस्थ ध्यान में श्री वर्धमान स्वामी ने पाँच धारणाएँ बताई हैं। उनके बल से संयमी मुनि ज्ञानी होकर संसाररूपी पाश को काट डालता है।

उनके— पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना, वारुणी और तत्त्वरूपवती ये नाम हैं।

पार्थिवी धारणा— प्रथम ही योगी, मध्यलोक में स्वयंभूरमण समुद्रपर्यन्त जो तिर्यक्लोक है, उसके समान कल्लोल रहित, क्षीर समुद्र का ध्यान करें। इस समुद्र के मध्यभाग में सुन्दर सुवर्ण जैसी प्रभा वाले और जम्बूद्वीप सदृश एक लाख योजन विस्तृत एक सहस्रदल कमल का चिन्तवन करें। उस कमल के मध्य में मेरु सदृश और पीत रंग वाली कर्णिका है। उस पर श्वेत वर्ण का सिंहासन है, उस पर योगी अपनी आत्मा

---

१. किं च कैश्चिच्चधर्मस्थ चत्वारः स्वामिनः स्मृताः।
सदृष्ट्याद्यप्रमत्तान्ता यथायोग्येन हेतुना।।-ज्ञानार्णव पृ. २८२।

२. संस्थान विचय धर्मध्यान और शुक्लध्यान का वर्णन ज्ञानार्णव के आधार से है।

को शांत स्वरूप चिन्तवन करें।

पुन: उस सिंहासन पर बैठे हुए चिन्तवन करें कि— मेरी आत्मा कर्मों का नाश करने में उद्यमशील है।

आग्नेयी धारणा— तत्पश्चात् वह योगी ध्यान करता है कि— अपने नाभिमण्डल में सोलह ऊँचे-ऊँचे पत्तों वाला एक कमल है। उन पत्तों पर क्रम से 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अ: ये सोलह अक्षर लिखे हैं। कमल की कर्णिका पर 'ह्रँ' महामंत्र विराजमान है पुन: सोचें कि— हृदय में स्थित एक कमल अधोमुख है, आठ पांखुड़ी वाला है, उन आठ पत्तों पर क्रम से आठ कर्म स्थित हैं। नाभि में स्थित कमल के 'ह्रँ' से अग्नि की लौ निकलती हुई ऊपर बढ़ते-बढ़ते आठ दल कमल को जला रही है। कमल को दग्ध करते हुए (अग्नि बाहर) व्याप्त होकर पश्चात् त्रिकोण अग्नि बन जाती है जो कि ज्वाला समूह जलते हुए बड़वानल के समान है। बाह्य त्रिकोण अग्नि बीजाक्षर 'रं' से व्याप्त और अन्त में साथिया के चिन्ह से चिन्हित है एवं ऊर्ध्व वायु मण्डल से उत्पन्न धूम रहित कांचन की सी प्रभा वाला है। यह अग्नि मण्डल उस नाभिस्थ कमल और शरीर को भस्म करके जलाने योग्य पदार्थ का अभाव होने से धीरे-धीरे स्वयं शान्त हो जाता है।

श्वसना (वायवी) धारणा— पुन: वह ध्यानी सोचता है कि आकाश में विचरण करता हुआ महावेगवान् वायुमण्डल है अर्थात् पर्वतों को कम्पित करती हुई महावेगशाली वायु चल रही है और जो शरीरादि की भस्म है, उसको इसने तत्काल उड़ा दिया, फिर शान्त हो गई।

वारुणी धारणा— पुन: बिजली, इन्द्रधनुष आदि सहित मेघमण्डल चारों तरफ से मूसलाधार वर्षा कर रहा है। यह जल शरीर के जलने से उत्पन्न हुए समस्त भस्म को प्रक्षालित कर देता है।

तत्त्वरूपवती धारणा— तत्पश्चात् 'मैं सप्तधातुरहित पूर्णचन्द्रवत् निर्मल सर्वज्ञ सदृश हो गया हूँ, सिंहासन पर आरूढ़ हूँ, देव-असुर आदि से पूजित हूँ' ऐसा चिन्तवन करता हुआ योगी अपने को आठों कर्मों से रहित पुरुषाकार चिन्तवन करें।

इस प्रकार पिण्डस्थ स्थान में निश्चल अभ्यास करता हुआ ध्यानी मुनि मोक्षसुख को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है।

पदस्थ ध्यान

जिसको योगीश्वर अनेक पवित्र मंत्रों के अक्षरस्वरूप पदों का अवलम्बन करके चिन्तवन करते हैं, उसे पदस्थ ध्यान कहते हैं।

वर्णमातृका ध्यान— अनादि सिद्धान्त में प्रसिद्ध वर्णमातृका का ध्यान करना चाहिए। उसकी विधि— ध्यानी मनुष्य नाभि में स्थित सोलह दल वाले कमल के पत्तों पर क्रम से 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अ:' इन अक्षरों का चिन्तवन करें पुन: हृदय स्थान पर कर्णिका सहित चौबीस पत्रों के कमल पर क्रम से पच्चीस अक्षरों का ध्यान करें अर्थात् कर्णिका पर 'क' से लेकर क्रम से प्रत्येक दल पर 'ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म' ये पच्चीस अक्षर हैं तत्पश्चात् आठ पत्रों से विभूषित मुखकमल के प्रत्येक दल पर भ्रमण करते हुए 'य र ल व श ष स ह' इन आठ वर्णों का ध्यान करें। इस

प्रकार से वर्णमातृका का ध्यान करने वाला मनुष्य समस्त श्रुत पारंगत— श्रुतकेवली हो जाता है। इसके जाप्य से क्षयरोग, अरुचिपना, अग्निमन्दता, कुष्ठ, उदर रोग, श्वास-कास आदि रोगों को भी जीतता है और उसके वचनसिद्धि आदि भी प्राप्त हो जाती हैं।

ऐसे ही हृदयकमल, ललाट आदि में 'ॐ' 'ह्रीं ' आदि मंत्रों का ध्यान करना चाहिए।

हृदय में आठ पांखुड़ी का कमल स्थापित करके उसकी कर्णिका पर 'णमो अरहंताणं' उस कर्णिका से बाहर आठ पत्तों में से चार दिशाओं के चार दलों पर क्रम से 'णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं,' इन मंत्रों का ध्यान करें एवं चार विदिशाओं के चार पत्तों पर 'सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः, सम्यक्तपसे नमः, इन चार मंत्रों का चिन्तवन करें।

और भी अनेक मंत्रों के ध्यान का अभ्यास करना चाहिए जिससे कि मन की चंचलता का अभाव होता है और सातिशय पुण्य का भी बंध होते हुए तमाम पाप कर्मों की निर्जरा हो जाती है।

रूपस्थ और रूपातीत ध्यान

इस रूपस्थ ध्यान में समवसरण में स्थित अर्हन्त परमेष्ठी का ध्यान किया जाता है।

आगम से समवसरण का विस्तृत वर्णन समझ करके उसका ध्यान करें।

रूपातीत ध्यान में अमूर्त, अजन्मा, इन्द्रियों के अगोचर ऐसे परमात्मा— सिद्धपरमेष्ठी का ध्यान करता है पुनः वह योगी अपनी आत्मा को ही शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निर्विकार परमात्मस्वरूप चिन्तवन करता है। 'मैं ही सर्वज्ञ हूँ, सर्वव्यापक हूँ, सिद्ध हूँ' इत्यादिरूप से अपनी शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है।

इस प्रकार से ध्यानी, रूपातीत ध्यान में सिद्ध परमेष्ठी के ध्यान का अभ्यास करके शक्ति की अपेक्षा से अपने आपको भी उनके समान जानकर और अपने आपको उनके समान व्यक्त करने के लिए उसमें (अपने आप में) लीन हो जाता है, तब आप ही कर्मों का नाश करके व्यक्तरूप सिद्ध परमेष्ठी हो जाता है।

शुक्लध्यान

जिस प्रकार अचल दीपक सघन अंधकार को शीघ्र ही नष्ट कर देता है, उसी प्रकार मुनि का सुनिश्चल धर्मध्यान भी कर्मकलंक के समूह को शीघ्र ही नष्ट कर देता है।

जिनके आदि का संहनन है और जो वैराग्यपदवी को प्राप्त हुए हैं, ऐसे पुरुष ही अपने चित्त को शुक्ल-ध्यान करने में समर्थ ऐसा निश्चल कर सकते हैं अर्थात् उत्तम संहनन वाला ही मुनि शरीर के छेदने, भेदने, मारने और जलाने पर भी अपनी आत्मा से उस शरीर को अत्यन्त भिन्न देखता हुआ चलायमान नहीं होता है। चित्राम की तरह मूर्तिवत् निश्चल रहता है। वही शुक्लध्यान का पात्र हो सकता है।

जिसके प्रथम वज्रवृषभनाराचसंहनन है, जो ग्यारह अंग और चौदह पूर्व का जानने वाला है, शुद्ध चारित्रवान् है, वही मुनि चारों प्रकार के शुक्लध्यानों को धारण करने के योग्य होता है।

शुक्लध्यान का लक्षण— जो निष्क्रिय है, इन्द्रियातीत है और 'मैं इसका ध्यान करूँ' इस प्रकार के विकल्प से रहित है, जिसमें चित्त अपने स्वरूप के ही सन्मुख है, ऐसा आत्मा के शुचिगुण के संबंध से यह शुक्लध्यान कहलाता है।

शुक्लध्यान के चार भेद हैं— पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरत-क्रियानिवृत्ति। इनमें से पहले के दो ध्यान तो छद्मस्थ योगी— बारहवें गुणस्थानपर्यंत श्रुतकेवलियों के होते हैं और अंत के दो ध्यान केवलज्ञानियों के ही होते हैं।

पृथक्त्व वितर्क— जिसमें पृथक्-पृथक् रूप से श्रुतज्ञान बदलता रहता है अर्थात् अर्थ, व्यंजन और योगों का संक्रमण होता रहता है, वह प्रथम शुक्लध्यान है।

एकत्ववितर्क— जिसमें अर्थ, व्यंजन आदि का संक्रमण न हो, जो एक रूप से ही स्थित हो, उसे एकत्व वितर्क कहते हैं।

प्रथम शुक्लध्यान से मोहनीय कर्म का उपशम अथवा क्षय हो जाता है और द्वितीय शुक्लध्यान से बारहवें गुणस्थान में शेष तीन घातिया कर्मों का अभाव हो जाता है।

वे योगी द्वितीय शुक्लध्यान से घातिया कर्मों का नाश करके लोकालोक प्रकाशी केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं और नवकेवललब्धियों के स्वामी परमात्मा हो जाते हैं। समवसरण में विराजमान हुए वे भगवान बहुत काल तक भव्यों को धर्मोपदेश देते हुए अन्त में योग निरोध करते हैं।

जो जिनदेव उत्कृष्ट आयु छह महीने की अवशेष रहते हुए केवली हुए हैं, उनके अवश्य ही समुद्घात होता है और जो छह महीने से अधिक आयु शेष रखते हुए केवली हुए हैं, उनके समुद्घात में विकल्प है अर्थात् हो या न भी हो।

जब केवली भगवान की आयु अन्तर्मुहूर्तमात्र अवशेष रह जाती है, तब उनके बादर मनोवचन योग सूक्ष्म होकर बादरकाय योग भी सूक्ष्म हो जाता है तथा 'सूक्ष्म वचन मनोयोग का निग्रह करके सूक्ष्म एक काययोग में स्थित हो जाते हैं, उनका वह ध्यान सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति कहलाता है। अनन्तर सूक्ष्म काययोग से रहित होते हुए केवली चौदहवें गुणस्थान में अयोगी कहलाते हैं। उनके उपान्त्य समय में चौथा व्युपरतक्रिया-निवृत्ति नाम का शुक्लध्यान प्रगट होता है, जिससे बहत्तर प्रकृतियों का नाश होकर अंतिम समय में शेष तेरह प्रकृतियों का विलय हो जाता है। इस चौदहवें गुणस्थान का काल लघु ह्रस्वाकार 'अ इ उ ऋ ऌ' के उच्चारणकाल प्रमाण है। इसके अनन्तर वे अयोगी भगवान कर्मों के बंधन से रहित होते हुए एक समय में ही ऊर्ध्वगमन स्वभावी होने से लोक के अग्रभाग में विराजमान हो जाते हैं। लोकाग्र भाग से आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने से इनका आगे गमन नहीं होता है अत: वहीं सदा-सदा के लिए विराजमान हो जाते हैं।

योगीश्वरों के पति श्री सिद्ध भगवान के ज्ञानरूपी सूर्य में भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालसंबंधी समस्त द्रव्य पर्यायों से व्याप्त जो यह जगत है, सो एक ही समय में स्पष्ट प्रतिभाषित होता है, ऐसे सिद्ध भगवान हम लोगों को भी सिद्धिसुख प्रदान करें।

इस अनुयोग में श्रावकधर्म और मुनिधर्म का किञ्चित् वर्णन किया है। विशेष जिज्ञासुओं को रत्नकरण्डश्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, सागारधर्मामृत, मूलाचार, भगवती आराधना, चारित्रसार, आचारसार, अनगारधर्मामृत आदि ग्रंथों का स्वाध्याय करना चाहिए।

चतुर्थ खण्ड

द्रव्यानुयोग

जीवाजीवसुतत्त्वे, पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः, श्रुतविद्यालोकमातनुते।।४६।।

अर्थ— द्रव्यानुयोगरूपी दीपक जीव-अजीवरूप सुतत्त्वों को, पुण्य-पाप और बंध-मोक्ष को तथा भावरूपी प्रकाश को विस्तृत करता है अर्थात् जिसमें छहों द्रव्यों का, पुण्य-पाप और बंध-मोक्ष का विस्तृत वर्णन रहता है, वह द्रव्यानुयोग है।

छह द्रव्यों का वर्णन

द्रव्य का लक्षण— द्रव्य[1] का लक्षण सत् है अथवा गुण[2] और पर्यायों के समुदाय को द्रव्य कहते हैं।

द्रव्य छह होते हैं— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

जीव का लक्षण

जीव[3] का लक्षण उपयोग है।

जीव द्रव्य को विशेष समझने के लिए नव अधिकार बताये गये हैं— जीवत्व[4], उपयोगमयत्व, अमूर्तिकत्व, कर्तृत्व, स्वदेहपरिमाणत्व, भोक्तृत्व, संसारित्व, सिद्धत्व और स्वभाव से ऊर्ध्वगमनत्व- ये जीव के नव अधिकार हैं।

जीवत्व— जिसके व्यवहारनय से तीनों कालों में इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं और निश्चयनय से जिसके चेतना होती है, वह जीव है।

उपयोगमयत्व— उपयोग दो प्रकार का है— दर्शनोपयोग, ज्ञानोपयोग। उसमें दर्शनोपयोग चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन के भेद से चार प्रकार का है और मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, कुअवधिज्ञान, मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान इनके भेद से ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है। व्यवहारनय से यह बारह प्रकार का उपयोग सामान्यतया जीव का लक्षण है और शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध दर्शन, ज्ञान ही जीव का लक्षण है।

अमूर्तिकत्व— जीव में निश्चयनय से पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श नहीं होते हैं। इस कारण से अमूर्तिक है और व्यवहारनय से कर्मबन्ध सहित होने से मूर्तिक है।

कर्तृत्व— जीव व्यवहारनय से ज्ञानावरण आदि पुद्गल कर्मों का, अशुद्ध निश्चयनय से रागादि भाव कर्मों का और शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध ज्ञान आदि चैतन्य भावों का कर्ता है।

भोक्तृत्व— यह जीव व्यवहारनय से पुद्गलमय कर्मों के फल— सुख और दु:ख को भोगता है और निश्चयनय से आत्मा के शुद्ध दर्शन और शुद्ध ज्ञानरूप भावों को ही भोगता है।

स्वदेहपरिमाणत्व— जीव व्यवहारनय से समुद्घातों के सिवाय शेष हालातों में शरीर नामकर्म के उदय से होने वाले संकोच-विस्तार गुण के कारण घड़े आदि में स्थित दीपक की तरह अपने छोटे-बड़े शरीर के बराबर है और निश्चयनय से असंख्यात प्रदेश वाले लोकाकाश के बराबर है।

संसारित्व— संसारी जीव के मुख्य दो भेद हैं— त्रस और स्थावर। उसमें पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पाँच एकेन्द्रिय 'स्थावर' जीव हैं। शंख आदि द्वीन्द्रिय, चिंवटी आदि त्रीन्द्रिय, भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय तथा मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय ये चार 'त्रस' जीव हैं। ये सब जीव संसारी कहलाते हैं।

---

१. सद्द्रव्यलक्षणं।-तत्वार्थसूत्र। २. गुणपर्ययवद्द्रव्यं।-तत्त्वार्थसूत्र। ३. उपयोगो लक्षणं।-तत्त्वार्थसूत्र। ४. द्रव्यसंग्रह गाथा २।

सिद्धत्व— जो ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों से रहित, सम्यक्त्व आदि आठ गुण सहित, छोड़े हुए अंतिम शरीर से किंचित् कम आत्मप्रदेश वाले हैं, वे 'सिद्ध' कहलाते हैं।

ऊर्ध्वगमनत्व— वे सिद्ध अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अग्रभाग में, तनुवातवलय में सिद्धशिला पर स्थित हैं। धर्मास्तिकाय के न होने से आगे अलोक में गमन से रहित तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित होते हैं। कर्म से छूटने के बाद सभी जीव नियम से ऊर्ध्वगमन ही करते हैं।

इस प्रकार से नव अधिकारों में निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनों नयों के द्वारा जीव द्रव्य का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। विशेष रीति से गुणस्थान, जीव समास और मार्गणाओं के द्वारा भी जीव को समझना चाहिए।

"[१]गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग, क्रम से ये बीस प्ररूपणाएँ जिनागम में वर्णित हैं।"

इन बीसों में से जो चौदह मार्गणाएं हैं, उनमें जीवसमास, पर्याप्ति आदि को सम्मिलित कर देने से गुणस्थान और मार्गणाएँ दो ही प्ररूपणाएँ मुख्य रहती हैं।

गुणस्थान

मोह और योग के निमित्त से होने वाले जीव के परिणामों को गुणस्थान कहते हैं, ये चौदह होते हैं।

चौदह गुणस्थानों के नाम— मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, असंयत, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्त विरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली।

मिथ्यात्व— मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न होने वाले मिथ्या परिणामों का अनुभव करने वाला जीव विपरीत श्रद्धान वाला हो जाता है, जैसे— पित्त ज्वर से युक्त जीव को मीठा रस भी अच्छा मालूम नहीं होता, उसी प्रकार से मिथ्यात्वी जीव को यथार्थ धर्म रुचिकर नहीं होता है।

सासादन— उपशम सम्यक्त्व के अन्तर्मुहूर्त काल में जब जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट छह आवली प्रमाणकाल शेष रहे, उतने काल में अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी के भी उदय में आने से सम्यक्त्व की विराधना होने से जो अव्यक्त परिणाम होता है, उसे सासादन कहते हैं।

मिश्र— सम्यक्त्वमिथ्यात्व नामक प्रकृति के उदय से दही और गुड़ के मिश्रित स्वाद के सदृश जो मिश्र परिणाम होता है, उसे मिश्र गुणस्थान कहते हैं।

असंयत— अनन्तानुबंधी की चार और दर्शन मोहनीय की तीन ऐसी सात[२] प्रकृतियों के उपशम से उपशमसम्यक्त्व होता है और सातों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है तथा देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति के

---

१. गुणजीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य।
उवओगो वि य कमसो बीसं तु परूवणा भणिदा।।२।।–गोम्मटसार जीवकाण्ड

२. सबसे पहले अनादि मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबंधी की चार और मिथ्यात्व इन पाँच प्रकृतियों का ही उपशम होता है। अनन्तर उपशमसम्यक्त्व के बल से मिथ्यात्व के ही तीन टुकड़े हो जाते हैं। सादि मिथ्यादृष्टि के इन सात प्रकृतियों का उपशम होता है।

उदय से जो सम्यक्त्व होता है, उसे वेदकसम्यक्त्व कहते हैं। इस वेदक में चल, मलिन और अगाढ़ दोष भी लगते रहते हैं। यह सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रिय विषयों से और त्रसस्थावर की हिंसा से विरत नहीं रहता है, फिर भी अनर्गल प्रवृत्ति न करते हुए जिनेन्द्र भगवान के वचनों पर श्रद्धान करता है, इसलिए असंयत सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

देशविरत— जो एक ही समय में त्रस हिंसा से विरत और स्थावर हिंसा से अविरत होता है, वह सम्यग्दृष्टि एकदेश व्रतों को पालन करने वाला देशविरत कहलाता है।

प्रमत्तविरत— संज्वलन कषाय और नोकषाय के उदय से जो संयम होता है, उसमें मल को उत्पन्न करने वाला प्रमाद रहता है इसलिए इसे प्रमत्तविरत कहते हैं।

अप्रमत्तविरत— जब संज्वलन कषाय और नोकषाय का मंद उदय होता है, तब प्रमाद का अभाव होने से इस गुणस्थान को अप्रमत्तसंयत कहते हैं।

[१]**अपूर्वकरण**— इस गुणस्थान में पूर्व में प्राप्त नहीं हुए ऐसे अपूर्व-अपूर्व विशुद्ध परिणामों को प्राप्त करता हुआ यह जीव भिन्नसमयवर्ती जीवों के परिणामों की सदृशता को प्राप्त नहीं होता है।

अनिवृत्तिकरण— यहाँ पर एक समयवर्ती नाना जीवों के परिणामों में पाई जाने वाली विशुद्धि में परस्पर भेद नहीं पाया जाता अतएव इन परिणामों को अनिवृत्तिकरण कहते हैं।

सूक्ष्मसांपराय— जो जीव अत्यन्त सूक्ष्म लोभ कषाय मात्र से युक्त है, उसको सूक्ष्मसांपराय नामक दशम गुणस्थानवर्ती कहते हैं।

उपशांत कषाय— सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले निर्मल परिणाम को उपशान्त कषाय नामक ग्यारहवाँ गुणस्थान कहते हैं।

क्षीणकषाय— जिस निर्ग्रन्थ का चित्त मोहनीय कर्म के सर्वथा नष्ट हो जाने से निर्मल हो गया है, उसे क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती कहते हैं।

सयोगकेवली— जो बारहवें गुणस्थान के अन्त में तीन घाति और कुछ अघाति प्रकृतियों का अन्त करके केवलज्ञान को प्राप्त करके नव केवललब्धि से सहित हो जाते हैं, वे सयोगकेवली हैं।

अयोगकेवली— जो अठारह हजार शील के भेदों के स्वामी हैं, पूर्ण संवर व निर्जरा के अंतिम पात्र होने से मुक्तावस्था के सन्मुख हैं, वे काययोग से भी रहित अयोगकेवली कहलाते हैं।

सिद्ध— इन चौदह गुणस्थानों के अनन्तर गुणस्थानातीत सिद्ध होते हैं, वे अष्टकर्मों से रहित, शान्तिमय, निरंजन, सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से सहित, कृतकृत्य हो चुके हैं और लोक के अग्रभाग में निवास करने वाले हैं, उन्हें सिद्ध कहते हैं।

---

१. कोई मुनिराज उपशम श्रेणी में चढ़ जाते हैं। उनके भी अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय और उपशांत कषाय ये चार गुणस्थान होते हैं। जो मुनि क्षपक श्रेणी में चढ़ते हैं उनके भी अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय और क्षीणकषाय ये चार गुणस्थान होते हैं अर्थात् उपशान्तकषाय गुणस्थान क्षपक श्रेणी वालों के नहीं होता है। उपशम श्रेणी वाले नियम से नीचे गिरते हैं।

जीवसमास

जिनके द्वारा अनेक जीवों का या उनकी अनेक जातियों का संग्रह किया जा सके उसे जीव समास कहते हैं।

जीव समास के चौदह भेद— एकेन्द्रिय के दो भेद हैं— बादर और सूक्ष्म। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय। पंचेन्द्रिय के संज्ञी और असंज्ञी। इस तरह से सातों ही प्रकार के जीव पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों ही तरह के हुआ करते हैं इसलिए जीव समास के चौदह भेद होते हैं।

पर्याप्ति

गृहीत आहार वर्गणा को खलरस भाग आदिरूप परिणमाने की जीव के शक्ति के पूर्ण हो जाने को पर्याप्ति कहते हैं।

पर्याप्ति के छह भेद हैं— आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्तियाँ हैं। एकेन्द्रिय जीव के प्रारंभ की चार, विकलत्रय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय के मन रहित पांच और संज्ञी पंचेन्द्रिय के मन सहित छह पर्याप्तियाँ होती हैं।

प्राण

जिनके सद्भाव में जीव में जीवितपने का और वियोग होने पर मरणपने का व्यवहार होता है उन्हें प्राण कहते हैं।

प्राणों के दश भेद— पांच इन्द्रिय, तीन बल— मनोबल, वचनबल और कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये दश प्राण हैं।

इनमें से एकेन्द्रिय के स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं। द्वीन्द्रिय के रसना इन्द्रिय और वचन बल ये छह प्राण, त्रीन्द्रिय के घ्राणेन्द्रिय सहित सात प्राण, चतुरिन्द्रिय के चक्षुइन्द्रिय अधिक होने से आठ प्राण, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के कर्णेन्द्रिय सहित नौ प्राण और पंचेन्द्रिय संज्ञी के मन सहित दशों प्राण होते हैं।

संज्ञा

संज्ञा नाम वाञ्छा का है जिसके निमित्त से दोनों ही भवों में दारुण दु:ख की प्राप्ति होती है उस वाञ्छा को संज्ञा कहते हैं।

संज्ञाएं चार हैं— आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रह संज्ञा। ये प्रत्येक प्राणियों में पायी जाती हैं।

मार्गणा

मार्गणा शब्द का अर्थ है अन्वेषण। जिन भावों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों में जीव का अन्वेषण किया जावे उनका नाम 'मार्गणा' है।

मार्गणा के चौदह भेद— 'गति[१], इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार ये चौदह मार्गणाएं हैं।"

---

१. गइइंदियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे य।
संजमदंसण लेस्सा भवियासम्मत्तसण्णि आहारे।।–गोम्मटसार जीवकाण्ड

गति— गति नामकर्म के उदय से होने वाली जीव की पर्याय को गति कहते हैं। उसके चार भेद हैं— नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति।

इन्द्रिय— इन्द्र का अर्थ आत्मा है उसके चिन्ह को इन्द्रिय कहते हैं अथवा जो अपने-अपने विषय में अहमिन्द्रों के समान स्वतंत्र हों उन्हें इन्द्रिय कहते हैं। उसके पाँच भेद हैं— स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इन इन्द्रियों की अपेक्षा से ही एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव होते हैं।

काय— जाति नामकर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से होने वाली आत्मा की पर्याय को जिनमत में काय कहते हैं।

इसके छह भेद हैं— पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस।

पृथ्वीकायिक नामकर्म के उदय से जिनका शरीर पृथ्वी रूप हो उसे पृथ्वीकायिक जीव कहते हैं, ऐसे ही सर्वत्र समझना। पाँच स्थावरों में बादर और सूक्ष्म से दो भेद होते हैं और त्रस जीव बादर ही होते हैं।

बादर का लक्षण— बादर नामकर्म के उदय से जो शरीर दूसरे को रोकने वाला हो अथवा जो स्वयं दूसरे से रुके उसको बादर-स्थूल कहते हैं।

सूक्ष्म का लक्षण— सूक्ष्म नामकर्म के उदय से जो शरीर दूसरे को न तो रोके और न स्वयं दूसरे से रुके उसको सूक्ष्म कहते हैं। इनमें से स्थूल शरीर आधार की अपेक्षा रखते हैं किन्तु सूक्ष्म शरीर बिना किसी अन्तर के ही लोक में सर्वत्र अनन्तानन्त भरे हुए हैं।

वनस्पति के दो भेद हैं— प्रत्येक और साधारण। प्रत्येक के दो भेद हैं— सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित। जिसके आश्रित अनेकों निगोदिया जीव रहते हैं उसे सप्रतिष्ठित कहते हैं और जिनके अन्य जीव नहीं है उसे अप्रतिष्ठित कहते हैं।

साधारण के दो भेद हैं— नित्यनिगोद और इतर निगोद। जिन्होंने अभी तक निगोद वास को नहीं छोड़ा है वे नित्यनिगोद और जो निगोद से निकलकर स्थावरकाय और त्रसकाय में आकर पुनः निगोद में गये हैं। वे इतर निगोद कहलाते हैं।

साधारण का लक्षण— इन साधारण जीवों का समान ही आहार होता है एक साथ ही श्वासोच्छ्वास ग्रहण होता है। जब एक जीव मरण करता है वहाँ पर अनन्त जीवों का मरण और जहाँ पर एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ अनन्त जीवों का उत्पाद होता है। इनकी आयु भी अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है।

"द्रव्य[१] की अपेक्षा से समस्त सिद्ध राशि से और सम्पूर्ण अतीत काल के समयों का जितना प्रमाण है उससे अनन्तगुणे जीव एक निगोद शरीर में रहते हैं।"

स्थावर— पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पांच स्थावर कहलाते हैं।

त्रस— द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव त्रस कहलाते हैं।

---

१. एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण।।११६।।-गोम्मटसार जी.।

योगमार्गणा— पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन, काय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है उसे योग कहते हैं। उसके १५ भेद हैं— चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग।

४ मनोयोग— सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग और अनुभय मनोयोग।

४ वचनयोग— सत्य वचनयोग, असत्य वचनयोग, उभय वचनयोग और अनुभय वचनयोग।

७ काययोग— औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियक, वैक्रियक मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र और कार्माण।

वेद मार्गणा— मोहनीय कर्म के अन्तर्गत वेदकर्म के उदय से जीवों के भाववेद होता है और निर्माण नामकर्म सहित अंगोपांगनामकर्म के उदय से द्रव्यवेद होता है। देवगति और नरकगति में जो द्रव्यवेद होता है वही भाववेद होता है। मनुष्य और तिर्यंच गति में कदाचित् किसी जीव में विषमता भी हो जाती है। इसलिए द्रव्यवेद पुरुष होने से भाव वेद चाहे स्त्री हो, चाहे पुरुष, चाहे नपुंसक तीनों भाववेदों में से किसी से भी मुक्ति हो जाती है।

वेद के तीन भेद हैं— स्त्रीवेद, पुरुष और नपुंसकवेद।

कषाय मार्गणा— जो सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र और परिणामों को 'कषंति' कषे-घाते उसे कषाय कहते हैं।

कषाय के २५ भेद हैं— अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ये सोलह कषायें हैं। नव नोकषाय-हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। ये सब मिलकर २५ कषायें हैं।

ज्ञान मार्गणा— जिसके द्वारा जीव भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल संबंधी समस्त द्रव्य और उनके गुण तथा उनकी अनेक प्रकार की पर्यायों को जाने उसको ज्ञान कहते हैं।

ज्ञान के पाँच भेद हैं— मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। आदि के मति, श्रुत, अवधि ये ज्ञान मिथ्याज्ञान भी हैं। ज्ञान के मिथ्या होने में अंतरंग कारण मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी कषाय का उदय है।

कुमतिज्ञान— दूसरे के उपदेश के बिना ही विष ,यंत्र, कूट, पंजर तथा बंध आदि के विषय अणुबम आदि हिंसक अस्त्रों के विषय में जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसे कुमति ज्ञान कहते हैं।

कुश्रुतज्ञान— चौर शास्त्र, हिंसा शास्त्र, महाभारत, रामायण आदि के परमार्थ शून्य उपदेश मिथ्या श्रुतज्ञान कहलाते हैं।

विभंगज्ञान— विपरीत अवधिज्ञान को विभंगज्ञान कहते हैं।

मतिज्ञान— इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। उसके अवग्रह,

ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं।

श्रुतज्ञान— मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थ से भिन्न पदार्थ के ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान नियम से मतिज्ञानपूर्वक होता है। इन श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक अनक्षरात्मक इस तरह अथवा शब्दजन्य और लिंगजन्य इस तरह दो भेद हैं।

अवधिज्ञान— द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से जिसका विषय सीमित हो उसे अवधिज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं— भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय अथवा देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ऐसे तीन भेद हैं।

मन:पर्ययज्ञान— दूसरे के मन में स्थित पदार्थ जिसके द्वारा जाना जाये उस ज्ञान को मन:पर्यय कहते हैं। यह मन:पर्यय ज्ञान मनुष्य क्षेत्र में ही उत्पन्न होता है, बाहर नहीं। मन:पर्यय के दो भेद हैं— ऋजुमति और विपुलमति। यह मन:पर्यय ज्ञान ऋद्धिधारी, वर्धमानचारित्र वाले मुनियों के ही हो सकता है सबके नहीं।

केवलज्ञान— ज्ञानावरण कर्म के पूर्णतया नष्ट हो जाने से, सम्पूर्ण, समग्र, केवल, प्रतिपक्ष रहित सर्वपदार्थों को युगपत् जानने वाला लोकालोक प्रकाशी केवलज्ञान होता है।

संयम मार्गणा— अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच व्रतों को धारण करना, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, उत्सर्ग इन पांच समितियों का पालन करना, क्रोधादि चार कषायों का निग्रह करना, मन, वचन, कायरूप दण्ड का त्याग तथा पांच इन्द्रियों का जय, इसको संयम कहते हैं।

संयम के पांच भेद हैं— सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यातचारित्र। इनमें देशसंयम और असंयम को मिलाने से इस मार्गणा के सात भेद हो जाते हैं।

दर्शन मार्गणा— सामान्य विशेषात्मक पदार्थ के शेष अंश का ग्रहण न करके केवल सामान्य अंश का जो निर्विकल्प रूप से ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं। इसके चार भेद हैं— चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

लेश्या मार्गणा— कषाय के उदय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति का नाम लेश्या है। यह भावलेश्या का लक्षण है और शरीर के वर्णरूप द्रव्य लेश्या होती है।

लेश्या के छह भेद हैं— कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल तथा प्रत्येक के उत्तरभेद अनेक हैं।

कृष्णलेश्या का लक्षण— तीव्र क्रोध करने वाला हो, वैर को न छोड़े, युद्ध प्रिय, धर्म और दया से रहित हो, दुष्ट हो, जो किसी के वश में न हो, ये सब कृष्णलेश्या के चिन्ह हैं।

नीललेश्या— काम करने में मंद, स्वच्छन्द, विवेक रहित, कलाचातुर्य से रहित, इन्द्रिय विषयों का लंपटी, मानी, मायाचारी, आलसी, अति निद्रालु, वंचना में दक्ष, धन लोलुपी होना, ये सब नीललेश्या के चिन्ह हैं।

कापोतलेश्या— दूसरे के ऊपर क्रोध करना, निन्दा करना, दु:ख देना, वैर करना, शोकाकुलित होना, दूसरे के ऐश्वर्य आदि को सहन न कर सकना, दूसरे का तिरस्कार करना, अपनी प्रशंसा करना, रण में मरने की इच्छा आदि कापोतलेश्या के चिन्ह हैं।

पीतलेश्या— अपने कार्य-अकार्य, सेव्य-असेव्य को समझने वाला हो, सबके विषय में समदर्शी, दया

और दान में तत्पर हो, मन, वचन, काय के विषय में कोमल परिणामी हो, ये सब पीतलेश्या वाले के लक्षण हैं।

पद्मलेश्या— दान देने वाला, भद्र परिणामी, उत्तम कार्य करने के स्वभाव वाला, कष्ट रूप और अनिष्ट रूप उपसर्गों को सहन करने वाला, मुनिजन, गुरुजन की पूजा में प्रीति युक्त होना ये सब पद्मलेश्या के लक्षण हैं।

शुक्ललेश्या— पक्षपात न करना, निदान को न बांधना, समदर्शी, इष्ट से राग और अनिष्ट से द्वेष न करना, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि में स्नेह रहित होना, ये सब शुक्ल लेश्या के लक्षण हैं।

भव्यमार्गणा— जिन जीवों को अनन्त चतुष्टय रूप सिद्धि होने वाली हो अथवा जो उसकी प्राप्ति के योग्य हों वे भव्य और इनसे विपरीत अभव्य कहलाते हैं। कितने ही भव्य ऐसे हैं जो मुक्ति प्राप्ति के योग्य हैं परन्तु कभी मुक्त न होंगे, जैसे विधवा सती स्त्री में पुत्रोत्पत्ति की योग्यता है किन्तु उसके कभी पुत्र उत्पन्न नहीं होगा। इसके सिवाय कोई भव्य ऐसे हैं जो नियम से मुक्त होंगे। इस तरह स्वभाव भेद के कारण भव्य दो प्रकार के हैं। जो इन दोनों स्वभावों से रहित हैं उन्हें अभव्य कहते हैं। जैसे बंध्या स्त्री को निमित्त मिलने पर भी पुत्र उत्पन्न नहीं होता है अतः इस मार्गणा के भव्य और अभव्य दो भेद हैं।

सम्यक्त्व मार्गणा— छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय, नव पदार्थ, इनका जिनेन्द्र देव ने जिस प्रकार से वर्णन किया है उसी प्रकार जो श्रद्धान है उसे सम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व दो प्रकार से होता है एक तो केवल आज्ञा से, दूसरा अधिगम से।

इस मार्गणा के ६ भेद हैं— उपशम सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व और वेदक सम्यक्त्व, मिश्र, सासादन और मिथ्यात्व।

संज्ञीमार्गणा— नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम को या उससे उत्पन्न ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। जिनके यह लब्धि का उपयोग रूप मन-ज्ञानविशेष पाया जाये उनको संज्ञी कहते हैं और जिनके यह मन न हो उनको असंज्ञी कहते हैं। इन असंज्ञी जीवों के मानस ज्ञान नहीं होता है। इसलिए संज्ञी मार्गणा के संज्ञी और असंज्ञी ऐसे दो भेद होते हैं।

आहारमार्गणा— शरीर नामक नामकर्म के उदय से औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इनमें से यथासंभव किसी भी शरीर तथा वचन और द्रव्य मन रूप बनने के योग्य नोकर्म वर्गणाओं का जो ग्रहण होता है उसको आहार कहते हैं।

जीव दो प्रकार के होते हैं— आहारक, अनाहारक। विग्रह गति को प्राप्त होने वाले चारों गति संबंधी जीव, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात करने वाले सयोगकेवली, अयोगकेवली, समस्तसिद्ध इतने जीव तो अनाहाकर होते हैं और इनको छोड़कर शेष सभी जीव आहारक होते हैं।

समुद्घात— मूल शरीर को न छोड़कर तैजस-कार्माणरूप उत्तरदेह के साथ-साथ जीव प्रदेशों के शरीर से बाहार निकलने को समुद्घात कहते हैं।

समुद्घात के सात भेद हैं— वेदना, कषाय, वैक्रियक, मारणांतिक, तैजस, आहारक और केवली।

इस प्रकार से संक्षेप में चौदह मार्गणाओं का वर्णन हुआ है।

उपयोग

जीव का जो भाव ज्ञेयवस्तु को ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होता है उसको उपयोग कहते हैं। इसके दो भेद हैं— साकार और निराकार। पाँच प्रकार का सम्यग्ज्ञान और तीन प्रकार कुज्ञान यह आठ प्रकार का ज्ञान साकारोपयोग है और चार प्रकार का दर्शन, निराकारोपयोग है। इस प्रकार उपयोग के १२ भेद होते हैं।

इस प्रकार से गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग, सब मिलाकर बीस प्ररूपणा होती हैं। इनका विशेष वर्णन गोम्मटसार जीवकांड से समझना चाहिए।

द्रव्य संग्रह में कहा है कि—

चौदह मार्गणा, चौदह जीव समास और चौदह गुणस्थान ये सब अशुद्धनय से होते हैं किन्तु शुद्धनय से सभी जीव शुद्ध ही होते हैं।

इस तरह जीव द्रव्य का वर्णन करके अजीव द्रव्य का संक्षेप से वर्णन करते हैं।

अजीवद्रव्य— पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच द्रव्य अजीव हैं। इनमें से पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है बाकी चार अमूर्तिक हैं।

पुद्गल— जिसका पूरण-गलन रूप स्वभाव हो उसे पुद्गल कहते हैं।

पुद्गल के दो भेद हैं— अणु और स्कंध। एक अविभागी पुद्गल का टुकड़ा जिसका दूसरा हिस्सा न हो सके उसे अणु-परमाणु कहते हैं। दो अणु, तीन अणु आदि से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओं के मिलने से स्कंध बनता है। हम और आपको जो भी दिखता है वह सब स्कंध ही है।

पुद्गल के बीस गुण हैं—

पाँच रस— खट्टा, मीठा, कडुवा, कषायला, चरपरा।

पांच वर्ण— काला, नीला, पीला, लाल, सफेद।

दो गंध— सुगंध ओर दुर्गंध।

आठ स्पर्श— शीत, उष्ण, मृदु, कठोर, हल्का, भारी, स्निग्ध और रुक्ष।

पुद्गल द्रव्य की पर्यायें— शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकार, खण्ड, अंधकार, छाया, उद्योत और आतप ये सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।

धर्म द्रव्य का लक्षण— जीव और पुद्गल द्रव्य ही गमनशील हैं। शेष द्रव्य नहीं। जैसे पानी चलती हुई मछली को चलने में सहायक है, उसी प्रकार जो द्रव्य चलते हुए जीव और पुद्गल को चलने में सहायक है किन्तु प्रेरक नहीं है वह धर्म द्रव्य कहलाता है।

अधर्म द्रव्य का लक्षण— चलते हुए पथिक को ठहराने में सहायक हुई छाया के सदृश जीव पुद्गल को ठहराने में जो सहायक है किन्तु प्रेरक नहीं है वह अधर्म द्रव्य है। धर्म और अधर्म द्रव्य से यहाँ पुण्य और पाप नहीं समझना।

आकाश द्रव्य— जीवादि छहों द्रव्यों को अवकाश देने में समर्थ द्रव्य को आकाश कहते हैं। इस

आकाश के लोकाकाश और अलोकाकाश दो भेद हैं।

जितने में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और कालद्रव्य पाये जाते हैं उसे लोकाकाश कहते हैं, इसके परे चारों तरफ अनन्तानन्त अलोकाकाश है।

कालद्रव्य— जो द्रव्यों के परिवर्तन रूप और परिणमन आदि लक्षण वाला होता है वह व्यवहार काल है और वर्तना लक्षण वाला निश्चय काल है।

वर्तना— अपने-अपने उपादान कारण से स्वयं परिणमनशील द्रव्यों के परिणमन में कुम्हार के चक्र के भ्रमण में उसके नीचे की कीलि के समान जो सहकारी होता है उसे वर्तना कहते हैं। उस वर्तना को ही निश्चयकाल कहते हैं। अर्थात् निश्चय काल का लक्षण वर्तना है और व्यवहारकाल का लक्षण घड़ी, घण्टा, दिन, महीना आदि है।

जैसे रत्नों की राशि में प्रत्येक रत्न पृथक्-पृथक् स्थित हैं उसी प्रकार लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु पृथक्-पृथक् स्थित हैं। लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात होने से ये कालद्रव्य के अणु भी असंख्यात हैं।

पांच अस्तिकाय— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच अस्तिकाय हैं। कालद्रव्य 'अस्ति' तो है किन्तु काय नहीं है अत: यह अस्तिकाय नहीं है।

छहों द्रव्यों के प्रदेश— एक जीव द्रव्य, धर्म, अधर्म द्रव्य और लोकाकाश, इनके प्रत्येक के असंख्यात प्रदेश होते हैं। अलोकाकाश के अनन्त प्रदेश हैं। पुद्गल के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं और कालद्रव्य एक प्रदेशी है।

प्रमाण का वर्णन

प्रमाणनयैरधिगम:।।[१]

प्रमाण और नयों के द्वारा जीवादि पदार्थों का बोध होता है।

सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। न्याय ग्रंथों में [२]'अपने और अपूर्व अर्थ को निश्चय कराने वाला ज्ञान प्रमाण माना है।'

प्रमाण के दो भेद हैं— परोक्ष और प्रत्यक्ष।

परोक्षप्रमाण— इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला ज्ञान परोक्ष है। उसके दो भेद हैं— मतिज्ञान और श्रुतज्ञान।

मतिज्ञान के चार भेद हैं— अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

अवग्रह— इन्द्रिय और पदार्थ का संबंध होते ही जो सामान्य ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं। दर्शन के अनन्तर जो पदार्थ का प्रथम ग्रहण होता है वह अवग्रह है। जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा 'यह शुक्लरूप है' ऐसा जानना।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र। २. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं।-परीक्षामुख।

ईहा— अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ में उसके विशेष जानने की इच्छा ईहा है। जैसे जो शुक्लरूप देखा था 'वह बगुला' है या ध्वजा'।

अवाय— विशेष के निर्णय द्वारा जो यथार्थ ज्ञान होता है उसे अवाय कहते हैं। जैसे पंख आदि फड़फड़ाने से जान लेना 'यह बगुला ही है।'

धारणा— जानी हुई वस्तु को कालान्तर में न भूलना धारणा है। इस धारणा से ही कालान्तर में स्मृति आदि होती है।

इन अवग्रह आदि ज्ञानों के विषय बारह प्रकार के हैं। बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनि:सृत, अनुक्त, ध्रुव, अल्प, अल्पविध, अक्षिप्र, नि:सृत, उक्त और अध्रुव।

बहुत वस्तुओं के ग्रहण को बहुज्ञान कहते हैं। जैसे सेना या वन को एक समूह रूप में ग्रहण करना 'बहु' ज्ञान है।

हाथी, घोड़े या आम आदि अनेक भेदों को जानना बहुविध ज्ञान है।

वस्तु के एकदेश को देखकर सम्पूर्ण को जानना अनि:सृत है। जैसे तालाब में डूबे हाथी की सूंड को देखकर हाथी को जान लेना।

शीघ्रता से जाती हुई वस्तु को जान लेना क्षिप्रज्ञान है। जैसे तेजी से चलती हुई रेलगाड़ी को जानना।

बिना कहे भी अभिप्राय को जान लेना अनुक्त है।

बहुत काल तक जैसे का तैसा ज्ञान रहना ध्रुव है। ऐसे ही अल्प-अल्पविध आदि को समझ लेना।

इस प्रकार से अवग्रह के बारह भेद होते हैं। ऐसे ही ईहा, अवाय, धारणा के बारह-बारह भेद होने से सब अड़तालीस भेद हो जाते हैं तथा इनमें से प्रत्येक ज्ञान पांच इन्द्रिय और मन से होता है अत: ४८ को ६ से गुणा करने पर मतिज्ञान के २८८ भेद हो जाते हैं।

ये २८८ भेद अर्थावग्रह की अपेक्षा से हैं।

अर्थात् अवग्रह के दो भेद हैं-अर्थावग्रह और व्यञ्जनावग्रह।

पदार्थ को ऐसा स्पष्ट जानना जिसके बाद ईहा, अवाय और धारणा हो सकें वह अर्थावग्रह है।

जो अवग्रह अस्पष्ट हो जिसके बाद ईहा, अवाय, धरणा न हो सकें वह व्यञ्जनावग्रह है।

व्यञ्जनावग्रह, चक्षुइन्द्रिय और मन के द्वारा नहीं होता है। शेष चार इन्द्रियों से बारह प्रकार के पदार्थों का होता है अत: व्यञ्जनावग्रह के १२×४= ४८ भेद होते हैं।

इस तरह अर्थावग्रह की अपेक्षा २८८ और व्यञ्जनावग्रह की अपेक्षा ४८ ऐसे मिलकर २८८+४८=३३६ भेद मतिज्ञान के होते हैं।

व्यञ्जनावग्रह यदि बार-बार होता है तो वह अर्थावग्रह हो जाता है फिर उसके ऊपर ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान हो जाते हैं। जैसे मिट्टी के कोरे सकोरे पर १-२ बूंद जल तत्काल सूख जाता है। यदि लगातार जल

की बूंदे गिरती रहें तो वह सकोरा गीला हो जाता है। यह अर्थावग्रह का दृष्टान्त है।

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, मतिज्ञान के बिना श्रुतज्ञान नहीं होता। श्रुतज्ञान के दो भेद हैं— **आक्षरात्मक, अनक्षरात्मक।** इन्हीं दो में विशेष रूप से श्रुतज्ञान के बीस भेद हैं— पर्याय, पर्याय समास, अक्षर, अक्षर समास, पद, पद समास, संघात, संघात समास, प्रतिपत्तिक, प्रतिपत्तिक समास, अनुयोग, अनुयोग समास, प्राभृत-प्राभृत, प्राभृतप्राभृत समास, प्राभृत, प्राभृत समास, वस्तु, वस्तु समास, पूर्व, पूर्व समास। इसमें से पर्याय और पर्याय समाज ये दो ज्ञान अनक्षरात्मक हैं शेष १८ अक्षरात्मक हैं।

सूक्ष्म लब्धि— अपर्याप्तक निगोदिया जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में स्पर्शन इन्द्रिय मतिज्ञानपूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है वह 'पर्याय' नामक श्रुतज्ञान है, उससे कम श्रुतज्ञान किसी जीव को नहीं होता अत: यह 'पर्याय' श्रुतज्ञान नित्य-उद्घाटित (सदा निरावरण) है। यदि इस स्थान पर भी कर्म का आवरण होता तो वह निगोदिया जीव ज्ञानशून्य-जड़ हो जाता।

इस जघन्य श्रुतज्ञान के ऊपर अनन्त भागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि, अनन्त गुणवृद्धिरूप छह प्रकार की वृद्धियाँ असंख्यात बार (असंख्यात लोक प्रमाण) होने पर 'अक्षर' श्रुतज्ञान होता है।

पर्याय श्रुतज्ञान से अधिक और अक्षर श्रुतज्ञान से कम जो श्रुतज्ञान के बीच के असंख्यात भेद हैं वे सब '**पर्याय समास**' कहलाते हैं। इस तरह पर्याय और पर्याय समास ये दो श्रुतज्ञान अनक्षरात्मक हैं। शेष ऊपर के सब ज्ञान अक्षरात्मक हैं। पर्यायज्ञान, अक्षर ज्ञान के अनन्तवें भाग प्रमाण है।

अक्षर श्रुतज्ञान सम्पूर्ण अक्षरात्मक श्रुतज्ञान का मूल है। अक्षरज्ञान के ऊपर एक-एक अक्षरज्ञान की वृद्धि होते-होते जब संख्यात अक्षर रूप वृद्धि हो जाती है तब '**पद**' नामक श्रुतज्ञान होता है। अक्षरज्ञान के ऊपर और पदज्ञान से कम बीच के संख्यात भेद '**अक्षर समास**' नामक श्रुतज्ञान है।

पद के तीन अर्थ हैं— अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यमपद।

'पुस्तक पढ़ो' आदि अनियत अक्षरों के समूह रूप किसी अभिप्राय विशेष को बतलाने वाला 'अर्थपद' होता है। क्रियारूप 'तिङन्त' तथा संज्ञारूप 'सुबंत' अक्षर समूह पद भी इसी अर्थपद में गर्भित हैं। विभिन्न छन्दों के ८ नियत अक्षर समूह रूप प्रमाण पद होता है जैसे 'नम: श्री वर्धमानाय' तथा १६, ३४, ८३, ०७, ८८८ (सोलह अबर, चौंतीस करोड़, तिरासी लाख, सात हजार आठ सौ अठासी) अक्षरों का एक 'मध्यम पद' होता है। श्रुतज्ञान में इसी मध्यमपद को लिया गया है।

एक पद के ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब संख्यात हजार पदों की वृद्धि हो जाये तब '**संघात**' नामक श्रुतज्ञान होता है। संघात श्रुतज्ञान से कम और पदज्ञान से अधिक जितने श्रुतज्ञान हैं वे '**पदसमास**' कहलाते हैं। संघात श्रुतज्ञान चारों गति में किसी एक गति का निरूपण करने वाले अपुनरुक्त मध्यमपदों का समूहरूप होता है।

संघात श्रुतज्ञान के ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब संख्यात हजार संघात की वृद्धि हो जावे तब चारों गतियों का विस्तार से वर्णन करने वाला '**प्रतिपत्ति**' नामक 'श्रुतज्ञान' होता है। संघात और

प्रतिपत्ति ज्ञान के बीच के भेद 'संघातसमास' कहलाते हैं।

प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान के ऊपर अक्षर की वृद्धि होते-होते जब संख्यात हजार प्रतिपत्ति की वृद्धि हो जाती है तब चौदह मार्गणाओं का विस्तृत विवेचन करने वाला '**अनुयोग**' नामक श्रुतज्ञान होता है। प्रतिपत्ति और अनुयोग के बीच के जितने भेद हैं वे 'प्रतिपत्ति समास' कहलाते हैं।

अनुयोग ज्ञान के ऊपर पूर्वोक्त रूप से वृद्धि होते-होते जब संख्यात हजार अनुयोगों की वृद्धि हो जाती है तब '**प्राभृत-प्राभृतक**' नामक श्रुतज्ञान होता है। अनुयोग और प्राभृत-प्राभृतक ज्ञान के बीच के भेद '**अनुयोग समास**' कहलाते हैं।

इसी प्रकार अक्षर-अक्षर की वृद्धि होते-होते जब चौबीस प्राभृत-प्राभृतक की वृद्धि हो जावे तब '**प्राभृत**' ज्ञान होता है। दोनों के बीच के भेद '**प्राभृत-प्राभृतक समास**' हैं।

बीस प्राभृतप्रमाण 'वस्तु' नामक श्रुतज्ञान होता है। प्राभृत और वस्तु के बीच के भेद 'प्राभृत समास' हैं।

वस्तु ज्ञान में पूर्वोक्त रूप से वृद्धि होते-होते दस आदि एक सौ पंचानवे वस्तु रूप वृद्धि होती है तब '**पूर्व**' नामक श्रुतज्ञान होता है, वस्तु और पूर्व के मध्यवर्ती श्रुतज्ञान 'वस्तुसमास' कहलाते हैं।

पूर्वज्ञान से वृद्धि होते-होते पूर्ण श्रुतज्ञान के मध्यवर्ती भेद '**पूर्वसमास**' कहलाते हैं। इस तरह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के १८ भेद हैं। इनको भावश्रुत भी कहते हैं।

अक्षरात्मक श्रुतज्ञान द्वादश अंग रूप है उसमें समस्त पद एक अरब, बारह करोड़, तिरासी लाख, अट्ठावन हजार, पाँच (१,१२८३५८००५) मध्यम पद हैं। जिसका विशेष स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है।

१. आचारांग में १८००० पद हैं, इसमें मुनिचर्या का वर्णन है।

२. सूत्रकृतांग में ३६००० पद हैं, इसमें सूत्ररूप व्यवहार क्रिया, स्वसमय आदि का विवेचन है।

३. स्थानांग में ४२००० पद हैं, इसमें समस्त द्रव्यों के एक से लेकर समस्त संभव विकल्पों का वर्णन है।

४. समवायांग में १६४००० पद हैं, इसमें समस्त द्रव्यों के पारस्परिक सादृश्य का विवरण है।

५. व्याख्याप्रज्ञप्ति में २२८००० पद हैं, इसमें साठ हजार प्रश्नों के उत्तर हैं।

६. ज्ञातृकथा में ५५६००० पद हैं, इसमें गणधर आदि की कथाएं तथा तीर्थंकरों का महत्व आदि बतलाया गया है।

७. उपासकाध्ययन में ११७०००० पद हैं, इसमें श्रावकाचार का वर्णन है।

८. अन्त:कृद्दशांग में २३२८००० पद हैं, इसमें प्रत्येक तीर्थंकर के समय के १०-१० मुनियों के तीव्र उपसर्ग सहन करके मुक्त होने का कथन है।

९. अनुत्तरौपपादिक दशांग में ९२४४००० पद हैं, इसमें प्रत्येक तीर्थंकर के समय में १०-१० मुनियों के घोर उपसर्ग को सहन कर विजय आदि अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होने का कथन है।

१०. प्रश्न व्याकरण में ९३१६००० पद हैं, इसमें नष्ट, मुष्टि, चिन्ता आदि प्रश्नों के अनुसर हानि-लाभ

आदि बतलाने का विवरण है।

११. विपाक सूत्र में १८४००००० पद हैं, इसमें कर्मों के फल देने का विशद विवेचन है।

१२. दृष्टिवाद में १०८६८५६००५ पद हैं, इसमें ३६३ मिथ्यामतों का वर्णन तथा उनके निराकरण का वर्णन है। इसके पाँच भेद हैं-परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका।

परिकर्म में गणित के करण सूत्र हैं, इसके पाँच भेद हैं—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, द्वीपसागर प्रज्ञप्ति और व्याख्या प्रज्ञप्ति।

चन्द्र संबंधी समस्त विवरण चन्द्रप्रज्ञप्ति में है, उसके ३६०५००० पद हैं। सूर्यप्रज्ञप्ति में सूर्यविमान संबंधी समस्त विवरण है, उसमें ५०३००० पद हैं। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में जम्बूद्वीप संबंधी समस्त वर्णन है, इसमें ३२५००० पद हैं। द्वीपसागर प्रज्ञप्ति में अन्य द्वीपों तथा सागरों का विवेचन है, इसमें ५२३६००० पद हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति में भव्य-अभव्य, अनन्तर सिद्ध, परम्परा सिद्ध आदि का कथन है, इसमें ८४३६००० पद हैं।

दृष्टिवाद के दूसरे भेद 'सूत्र' में ३६३ मिथ्यामतों का पक्ष-प्रतिपक्ष रूप से वर्णन है। इसमें ८८००००० पद हैं। प्रथमानुयोग में ६३ शलाका पुरुषों का वर्णन है। इसमें ५००० पद हैं। पूर्व के १४ भेद हैं, उसमें समस्त ९५५०००००५ पद हैं, जिनका विवरण नीचे लिखे अनुसार है। चौदह पूर्वों के नाम—

१. उत्पाद पूर्व में एक करोड़ पद हैं, इसमें प्रत्येक द्रव्य के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य का वर्णन है।

२. अग्रायणीय पूर्व में ७०० नय तथा दुर्नय, पंचास्तिकाय आदि का वर्णन है, इसमें ९६ लाख पद हैं।

३. वीर्यप्रवाद में ७० लाख पद हैं, इसमें आत्मवीर्य, परवीर्य, गुणवीर्य आदि का विवेचन है।

४. अस्तिनास्ति प्रवाद में सप्तभंगी का कथन है, इसमें ६० लाख पद हैं।

५. ज्ञानप्रवाद में एक कम एक करोड़ पद हैं, इसमें समस्त ज्ञानों का समस्त विवरण है।

६. सत्यप्रवाद पूर्व में शब्द उच्चारण, दस प्रकार का सत्यवचन, असत्यवचन भाषा आदि का वर्णन है, इसमें एक करोड़ छह पद हैं।

७. आत्मप्रवाद में २६ करोड़ पद हैं, इसमें आत्मा का समस्त विवरण है।

८. कर्मप्रवाद में एक करोड़ अस्सी लाख पद हैं, इसमें कर्मों से संबंधित समस्त कथन हैं।

९. प्रत्याख्यान पूर्व में द्रव्य, क्षेत्र, काल, संहनन आदि की अपेक्षा त्याग, समिति, गुप्ति आदि का विवेचन है, इसमें चौरासी लाख पद हैं।

१०. विद्यानुवाद पूर्व में एक करोड़ दस लाख पद हैं, इसमें अंगुष्ठसेना आदि ७०० अल्प विद्याओं तथा रोहिणी आदि ५०० महाविद्याओं, मंत्र-तंत्र आदि का विवरण है।

११. कल्याणवाद पूर्व में तीर्थंकरों के पांच कल्याणकों, षोडशभावना आदि का वर्णन है, इसमें छब्बीस करोड़ पद हैं।

१२. प्राणावाय पूर्व में तेरह करोड़ पद हैं, इसमें आठ प्रकार के आयुर्वेद आदि का वर्णन है।

१३. क्रियाविशाल पूर्व में संगीत छन्द आदि पुरुषों की ७२ कला, स्त्रियों के ६४ गुण आदि का वर्णन है, इसमें नव करोड़ पद हैं।

१४. त्रिलोकबिन्दुसार में बारह करोड़ सत्तावन लाख पद हैं, इसमें लोक का, मोक्ष के स्वरूप का, छत्तीस परिकर्म आदि का वर्णन है।

चौदह पूर्वों की क्रमशः १०, १४, ८, १८, १२, १६, २०, ३०, १५, १०, १०, १०, १०, १२ वस्तु अधिकार अर्थात् समस्त १९५ वस्तु होती हैं। एक-एक वस्तु के २०-२० प्राभृत होते हैं अतः चौदह पूर्वों के समस्त प्राभृत ३९०० होते हैं।

दृष्टिवाद का पाँचवां भेद 'चूलिका' है, उसके ५ भेद हैं — जलगता, स्थलगता, मायागता, आकाशगता और रूपगता।

जलगता में जल में गमन, जल स्तम्भन के मंत्र-तंत्र आदि का वर्णन है।

स्थलगता में मेरु, कुलाचल आदि में प्रवेश करने, शीघ्र गमन आदिक संबंधी मंत्रतंत्र आदि का वर्णन है। मायागता में इन्द्रजाल संबंधी मंत्र-तंत्र आदि का कथन है। आकाशगता में आकाश गमन आदि के मंत्र-तंत्र आदि का कथन है। रूपगता में सिंह आदि के अनेक प्रकार के रूप बनाने का वर्णन है। इन पाँचों चूलिकाओं के १०४९४६००० पद हैं।

इस प्रकार अंग के बारह भेदों का वर्णन करके अंगबाह्य के १४ भेदों का वर्णन करते हैं।

अंगबाह्य के १४ भेद — सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका।

१. साधुओं के समताभाव रूप सामायिक का कथन करने वाला 'सामायिक' प्रकीर्णक है।

२. चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन की विधि विधान बतलाने वाला प्रकीर्णक 'चतुर्विंशतिस्तव' है।

३. पंच परमेष्ठी की वंदना करने वाला शास्त्र 'वंदना' प्रकीर्णक है।

४. दैवसिक, पाक्षिक, मासिक आदि प्रतिक्रमण का विधान करने वाला 'प्रतिक्रमण' प्रकीर्णक है।

५. दर्शन, ज्ञान, चारित्र और उपचारविनय का विस्तार से विवेचन करने वाला 'वैनयिक' प्रकीर्णक है।

६. जिनदेव, सिद्ध, आचार्य और उपाध्याय की वंदना करते समय जो क्रिया की जाती है उसे 'कृतिकर्म' कहते हैं।

७. द्रव, पुष्पित आदि दस अधिकारों द्वारा मुनि के भोज्य पदार्थों का विवरण जिसमें पाया जाता है वह 'दशवैकालिक' है।

८. उपसर्ग तथा परीषह सहन करने आदि का विधान 'उत्तराध्ययन' में है।

९. जिसमें दोषों के प्रायश्चित्त आदि का समस्त विवरण है वह 'कल्पव्यवहार' है।

१०. जिसमें सागार-अनगार के योग्य-अयोग्य आचार का विवेचन है वह 'कल्पाकल्प' प्रकीर्णक है।

११. जिसमें दीक्षा, शिक्षा, गणपोषण, संलेखना आदि कालों का कथन है वह 'महाकल्प्य' है।

१२. जिसमें भवनवासी आदि देवों में उत्पन्न होने योग्य तपश्चरण आदि का विवरण है वह 'पुण्डरीक' है।

१३. जिसमें भवनवासी आदि देवों में देवियों की उत्पत्ति के योग्य तपश्चरण आदि का कथन है वह 'महापुण्डरीक' है।

१४. जिसमें स्थूल-सूक्ष्म दोषों के प्रायश्चित्त आदि का विधान, संहनन, शरीर बल आदि के अनुसार है वह 'निषिद्धिका' प्रकीर्णक है।

इस प्रकार से अंग और अंगबाह्य का संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

प्रत्यक्ष प्रमाण

विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। उसके दो भेद हैं—देशप्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष। देश प्रत्यक्ष के अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान ऐसे दो भेद हैं और सकल प्रत्यक्ष में एक केवलज्ञान ही है।

अवधिज्ञान— द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा से रूपी पदार्थों को स्पष्ट जानना अवधिज्ञान है। इसके तीन भेद हैं-देशावधि, परमावधि और सर्वावधि।

देशावधिज्ञान देवों के और नारकियों के होता है वह भवप्रत्यय है तथा क्षयोपशम के निमित्त से होने वाला अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यञ्चों में पाया जाता है वह गुण प्रत्यय कहलाता है। यह ज्ञान असंयत सम्यग्दृष्टि और देशविरत मनुष्यों में भी हो सकता है।

परमावधि और सर्वावधिज्ञान तद्भव मोक्षगामी चरम शरीरी मुनियों को ही होते हैं।

मन:पर्यय ज्ञान— मन:पर्यय ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला ज्ञान मन:पर्यय ज्ञान है। यह ज्ञान मानुषोत्तर पर्वत के अन्तर्गत पर के मन में स्थित पदार्थों को स्पष्ट जान लेता है। इसके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति।

ऋजु अर्थात् सरल मन, वचन, काय के अर्थ को जानने वाला ऋजुमति है और कुटिल मन, वचन, कायगत अर्थ को जानने वाला विपुलमति है।

ऋजुमति ज्ञान होकर छूट भी सकता है किन्तु विपुलमति ज्ञान छूटता नहीं है। यह चरम शरीरी को ही होता है।

वैसे तो मन:पर्यय ज्ञान वृद्धिंगत चारित्रधारी, किसी-एक ऋद्धि वाले, संयमी मुनि को ही होता है। सभी को नहीं हो सकता है।

केवलज्ञान— जगत्त्रय, कालत्रयवर्ती, समस्त पदार्थों को युगपत् जानने वाला केवलज्ञान है। इस केवलज्ञान रूपी दर्पण में सम्पूर्ण लोकाकाश और अलोकाकाश एक साथ झलकता है।

प्रकारान्तर से प्रमाण के भेद-प्रभेद

न्यायशास्त्र में प्रमाण के भेदों में कुछ अन्तर है — सो दिखाते हैं।

प्रमाण के दो भेद हैं — प्रत्यक्ष और परोक्ष।

प्रत्यक्ष के दो भेद हैं — सांव्यावहारिक और पारमार्थिक।

इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होने वाला मतिज्ञान सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष है क्योंकि लोक में देखा जाता है कि 'मैंने चक्षु से स्पष्ट देखा, कर्ण से स्पष्ट सुना' इत्यादि में प्रत्यक्षता का व्यवहार पाया जाता है अत: इस इन्द्रिय प्रत्यक्ष को सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कह देते हैं। वास्तव में सैद्धान्तिक भाषा में यह ज्ञान परोक्ष ही है। क्योंकि इन्द्रिय व मन की अपेक्षा रखता है अत: पराधीन होने से परोक्ष है।

इस मतिज्ञान के पूर्वोक्त प्रकार से ३३६ भेद हो जाते हैं।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष के विकल-सकल की अपेक्षा दो भेद हैं। अवधि, मन:पर्यय विकल प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

परोक्ष प्रमाण के पांच भेद हैं — स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

स्मृति — तत्-'वह' इस आकार वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं। जैसे वह देवदत्त।

प्रत्यभिज्ञान — वर्तमान का प्रत्यक्ष और पूर्व का स्मरण इन दोनों के जोड़ रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे — 'यह वही है' इत्यादि ज्ञान। इसके एकत्व, सदृश, विलक्षण और प्रतियोगी ऐसे चार भेद हैं।

तर्क — व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। यह साधन इस साध्य के होने पर ही होता है और साध्य के नहीं होने पर नहीं होता है, यही व्याप्ति है। जैसे — अग्नि के होने पर ही धूम होता है और अग्नि के नहीं होने पर नहीं होता है।

अनुमान — साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं और जिसका साध्य के साथ अविनाभाव निश्चित है उसे साधन कहते हैं तथा इष्ट, अबाधित और असिद्ध इन तीन विशेषणों से सहित वस्तु को साध्य कहते हैं।

धर्म और धर्मी के समुदाय का कथन करना 'पक्ष' कहलाता है।

जैनाचार्यों ने अनुमान[१] के मुख्य रूप से दो ही अवयव माने हैं — पक्ष और हेतु। कदाचित् बाल शिष्यों को समझाने के लिए पांच अवयव भी माने हैं — प्रतिज्ञा (पक्ष), हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन।

आगम — आप्त वचन से होने वाले अर्थ ज्ञान को आगम कहते हैं। जैसे — मेरु पर्वत आदि हैं।

सिद्धान्त ग्रंथ में श्रुतज्ञान को परोक्ष प्रमाण माना है सो न्याय ग्रंथ में भी उसी को आगम प्रमाण नाम से परोक्ष में लिया है।

इस प्रकार से सिद्धान्त और न्याय के अनुसार प्रमाण का दिङ्मात्र वर्णन किया है।

---

१. इनका विशेष वर्णन देखिये 'परीक्षामुख' से।

नयों का वर्णन

प्रमाण से जाने हुए पदार्थ के एक देश को ग्रहण करने वाले ज्ञाता के अभिप्राय विशेष को नय[1] कहते हैं।

नय के नव[2] भेद हैं— द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत।

१. द्रव्य को विषय करने वाला द्रव्यार्थिक नय है। इसके १० भेद हैं— कर्मों की उपाधि से निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। जैसे— संसारी जीव सिद्ध के समान शुद्ध हैं।

सत्ता ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय, जैसे जीव नित्य है। भेद कल्पना निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय, जैसे द्रव्य अपने गुण-पर्याय स्वरूप होने से अभिन्न है।

कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय, जैसे आत्मा कर्मोदय से क्रोधादि भावरूप है।

उत्पाद, व्यय सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय, जैसे एक ही समय में द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप हैं।

भेद कल्पना सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय, जैसे आत्मा के ज्ञान दर्शन आदि गुण हैं।

अन्वय द्रव्यार्थिक नय से गुण-पर्याय स्वभाव वाला द्रव्य होता है।

स्वचतुष्टय ग्राहक द्रव्यार्थिक— जैसे स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा द्रव्य अस्तिरूप है।

परचतुष्टय ग्राहक द्रव्यार्थिक— जैसे पर द्रव्य, क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा द्रव्य नास्तिरूप है।

परभाव ग्राहक द्रव्यार्थिक— जैसे आत्मा ज्ञान स्वरूप है।

२. पर्याय को ग्रहण करने वाला पर्यायार्थिक नय है। उसके ६ भेद हैं—

अनादि नित्य पर्यायार्थिक— जैसे सुमेरु पर्वत आदि पुद्गल पर्याय नित्य हैं।

सादि नित्य पर्यायार्थिक नय— जैसे सिद्ध पर्याय नित्य है।

उत्पाद व्यय ग्राहक पर्यायार्थिक नय— जैसे पर्याय क्षण-क्षण में नष्ट होती है।

सत्ता सापेक्ष पर्यायार्थिक नय— जैसे पर्याय एक ही समय में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप है।

पर उपाधि निरपेक्ष शुद्ध पर्यायार्थिक नय— जैसे संसारी जीवों की पर्याय सिद्ध भगवान के समान शुद्ध है।

कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध पर्यायार्थिक नय— जैसे संसारी जीवों का जन्म और मरण होता है।

३. संकल्प मात्र से पदार्थ को जानने वाला नैगम नय है। उसके तीन भेद हैं— भूत, भावी और वर्तमान।

जहाँ पर भूतकाल में वर्तमान का आरोपण किया जाता है। उसे भूत नैगम नय कहते हैं। जैसे आज दीपमालिका के दिन वर्धमान स्वामी मोक्ष गये हैं।

भविष्य का वर्तमान में आरोपण करना— जैसे अर्हन्त भगवान को सिद्ध कहना।

प्रारंभ हुए कार्य को सम्पन्न हुआ कहना— जैसे रसोई में अग्नि जलाते समय कहना मैं भात पका रहा हूँ।

१. न्यायदीपिका। २. आलाप पद्धति।

४. पदार्थों को संगृहीत रूप से जानने वाला संग्रहनय है। उसके दो भेद हैं—

सामान्य संग्रह— जैसे समस्त पदार्थ द्रव्यत्व की अपेक्षा समान हैं, परस्पर अविरोधी हैं।

विशेष संग्रह— जैसे सभी जीव जीवत्व की अपेक्षा समान हैं परस्पर में अविरोधी हैं।

५. संग्रह नय के द्वारा जाने गये पदार्थ को विधिपूर्वक भेद करके जानना व्यवहार नय है। इसके भी दो भेद हैं।

सामान्य व्यवहार— सामान्य संग्रह के द्वारा गृहीत वस्तु में भेद करना— जैसे द्रव्य के दो भेद हैं— जीव और अजीव।

विशेष व्यवहार— विशेष संग्रह से गृहीत वस्तु में भेद करना— जैसे जीव के दो भेद हैं— संसारी और मुक्त।

६. वर्तमान काल को ग्रहण करने वाला ऋजुसूत्र नय है। इसके भी दो भेद हैं।

सूक्ष्म ऋजुसूत्र— एक समयवर्ती पर्याय को ग्रहण करने वाला सूक्ष्म ऋजुसूत्र है।

स्थूल ऋजुसूत्र— मनुष्य आदि पर्यायों को आयु पर्यन्त काल प्रमाण कहना स्थूल ऋजुसूत्र है।

७. संख्या, लिंग आदि का व्यभिचार दूर करके शब्द के द्वारा पदार्थ को ग्रहण करना शब्दनय है। जैसे— विभिन्न लिङ्गवाची दारा (पु.), भार्या (स्त्रीलिंङ्ग), कलत्र (न.) शब्दों द्वारा स्त्री का ग्रहण होना।

८. एक शब्द के अनेक अर्थ होने पर किसी प्रसिद्ध एक रूढ़ अर्थ को शब्द द्वारा कहना समभिरूढ़ नय है। जैसे— गो शब्द के (संस्कृत भाषा में) पृथ्वी, वाणी, किरण आदि अनेक अर्थ हैं फिर भी गो शब्द से गाय को ही जानना।

९. शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार उसी क्रिया में परिणत पदार्थ को उस शब्द द्वारा ग्रहण करना एवंभूतनय है। जैसे— 'गच्छति इति गौः' व्युत्पत्ति के अनुसार चलते समय ही गाय को 'गो' शब्द द्वारा जानना।

इस प्रकार से नयों में द्रव्यार्थिक के १०+पर्यायार्थिक के ६+नैगम के ३+संग्रह के २+ व्यवहार के २+ऋजुसूत्र के २+ शब्द का १+ समभिरूढ़ का १+ और एवंभूत का १ मिलकर २८ भेद होते हैं।

इस प्रकार संक्षेप से नयों का स्वरूप कहा है।

नय की शाखा को **उपनय** कहते हैं। अथवा जो नयों के समीप हों-नय सदृश मालूम पड़ें वे उपनय हैं। इसके तीन भेद हैं— सद्भूत व्यवहार नय, असद्भूत व्यवहार नय और उपचरित असद्भूत व्यवहारनय।

(१) सद्भूत व्यवहारनय के दो भेद हैं—

शुद्ध सद्भूत व्यवहार— जो शुद्ध गुण-गुणी और शुद्ध पर्याय-पर्यायी में भेद का कथन करे जैसे— सिद्धों के केवलज्ञान, दर्शन आदि गुण हैं और सिद्धत्व आदि पर्यायें हैं।

अशुद्धसद्भूतव्यवहार— जो अशुद्ध गुण-गुणी और अशुद्ध पर्याय-पर्यायी में भेद कथन करे जैसे— संसारी जीव के मतिज्ञानादि गुण और मनुष्य आदि पर्यायें हैं।

(२) असद्भूत व्यवहार नय के तीन भेद हैं—

स्वजाति असद्भूत व्यवहार— जैसे परमाणु बहुप्रदेशी हैं।

विजाति असद्भूत व्यवहार — जैसे मतिज्ञान मूर्तिक है। क्योंकि मूर्तिक मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ है।

स्वजाति विजाति असद्भूत व्यवहार — जैसे ज्ञेयस्वरूप जीव तथा ज्ञेयस्वरूप अजीव दोनों में ज्ञान है क्योंकि सभी ज्ञेय ज्ञान के विषय हैं।

(३) उपचरित असद्भूत व्यवहार नय के भी तीन भेद हैं।

स्वजाति उपचरित असद्भूत व्यवहार — जैसे पुत्र, स्त्री आदि मेरे हैं।

विजातीय उपचरित असद्भूत व्यवहार — जैसे मकान, वस्त्र आदि पदार्थ मेरे हैं।

स्वजाति विजाति असद्भूत व्यवहार — जैसे देश, राज्य, दुर्ग आदि मेरे हैं।

इस प्रकार से सद्भूत के २, असद्भूत के ३ और उपचरित असद्भूत के ३, ऐसे ८ उपनय माने गये हैं।

अध्यात्म की अपेक्षा नयों का वर्णन

अध्यात्म भाषा में नयों के मूल दो भेद हैं — निश्चय और व्यवहार।

निश्चयनय अभेदोपचार से पदार्थ को जानता है अर्थात् अभेद को विषय करता है।

व्यवहारनय भेदोपचार से पदार्थ को जानता है अर्थात् भेद को विषय करता है।

(१) निश्चयनय के दो भेद हैं — शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय।

कर्मों की उपाधि से रहित गुण और गुणी में अभेद को विषय करने वाला शुद्ध निश्चयनय है जैसे केवलज्ञानादि गुण ही जीव है।

कर्मों की उपाधि को विषय करने वाला अशुद्ध निश्चयनय है जैसे मतिज्ञानादि रूप जीव है।

व्यवहार के दो भेद हैं — सद्भूत व्यवहारनय और असद्भूत व्यवहारनय।

(क) एक ही वस्तु को भेद रूप ग्रहण करे वह सद्भूत व्यवहार है। इसके दो भेद हैं — उपचरित सद्भूत व्यवहार और अनुपचरित सद्भूत व्यवहार।

उपचरित सद्भूत — जो उपाधि सहित गुण-गुणी को भेदरूप ग्रहण करे। जैसे — मतिज्ञानादि गुण जीव के हैं।

अनुपचरित सद्भूत व्यवहार — जो उपाधि रहित गुण-गुणी में भेद करे। जैसे — केवलज्ञानादि गुण जीव के हैं।

(ख) जो भिन्न वस्तुओं को संबंध रूप से ग्रहण करे वह असद्भूत व्यवहार है। इसके भी दो भेद हैं — उपचरित असद्भूत और अनुपचरित असद्भूत।

उपचरित असद्भूत व्यवहार — संबंधरहित वस्तु को संबंध रूप ग्रहण करना। जैसे — देवदत्त का धन।

अनुपचरित असद्भूत व्यवहार — संबंध सहित वस्तु को संबंधरूप ग्रहण करना। जैसे — जीव का शरीर इत्यादि।

प्रकारान्तर[1] से निश्चय-व्यवहार नयों का वर्णन देखा जाता है।

(१) जो पदार्थ के शुद्ध अंश का प्रतिपादन करता है वह निश्चयनय है। जैसे— जीव अपने चेतना प्राण से त्रिकाल में जीवित रहता है।

(२) जो पदार्थ के मिश्रित रूप का प्रतिपादन करता है वह व्यवहारनय है। जैसे— जीव इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास रूप दश प्राणों से जीता है।

ये सभी नय आंशिक ज्ञानरूप हैं। ये तभी सत्य हैं जब कि अन्य नयों की अपेक्षा रखते हैं। यदि वे अन्य नयों की अपेक्षा न रखें तो मिथ्या हो जावे। कहा भी है—

"जो[2] नय परस्पर निरपेक्ष हैं वे मिथ्या हैं। यदि वे ही नय परस्पर की अपेक्षा करते हैं तो सम्यक्-सुनय कहे जाते हैं और उन्हीं से पदार्थों का वास्तविक बोध हो सकता है।" जैसे द्रव्यार्थिक नय जीव को नित्य कहता है और पर्यायार्थिक नय अनित्य कहता है। यदि ये दोनों नय एक दूसरे की अपेक्षा न रखें तो बात गलत हो जावे। वास्तव में द्रव्यदृष्टि से जीव नित्य ही है क्योंकि द्रव्य का त्रिकाल में नाश नहीं होता है। पर्याय दृष्टि से वही जीव अनित्य है क्योंकि मनुष्य आदि पर्यायों का विनाश होकर देवादि पर्यायों का उत्पाद देखा जाता है अत: जीव कथंचित् नित्य है कथंचित् अनित्य है। यह बात सिद्ध हो गई।

स्याद्वादसिद्धि

सप्तभंगी

"स्यात्[3]" यह शब्द निपात है और यह सर्वथा एकान्त का त्यागी होने से 'कथंचित्', 'कथंचन' आदि शब्दों के अर्थ का वाची है। जैसे— जीव कथंचित् नित्य है, कथंचित् अनित्य है इत्यादि। इसमें बताया गया है कि स्याद्वाद सप्तभंग और नयों की अपेक्षा रखता है एवं हेय और उपादेय को बतलाने वाला है।

सप्तभंगी का स्पष्टीकरण— "प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधविकल्पना सप्तभंगी।" "प्रश्न के निमित्त से एक ही वस्तु में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अविरुद्ध विधि और प्रतिषेध की कल्पना सप्तभंगी है। यथा— स्यादस्ति जीव:। स्यान्नास्ति जीव:। स्यादस्ति नास्ति जीव:। स्यादवक्तव्यो जीव:। स्यादस्ति अवक्तव्यो जीव:। स्यान्नास्ति अवक्तव्यो जीव:। स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यो जीव:।"

स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से जीव 'अस्तिरूप' ही है। परद्रव्यादि 'चतुष्टय' की अपेक्षा से जीव 'नास्तिरूप' ही है। क्रम से स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा से जीव अस्तिनास्तिरूप है। युगपत् स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से जीव अवक्तव्य रूप है। स्वचतुष्टय की विवक्षा करने से एवं युगपत् दोनों धर्मों को न कह सकने से जीव अस्ति अवक्तव्य है। परचतुष्टय की विवक्षा करने एवं युगपत् दोनों धर्मों को न कह सकने से

१. शास्त्रसार समुच्चय, पृ. ३५१।
पूर्वोक्त सभी नय आलापपद्धति के आधार से है।
२. निरपेक्षा नया मिथ्या: सापेक्षा वस्तु तेर्थकृत्-श्रीसमन्तभद्र स्वामी।-आप्तमीमांसा।
३. स्याद्वाद सर्वथैकांतत्यागात् किंवृत्तचिद्विधि:।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषक:।।१०४।।-आप्तमीमांसा।

जीव नास्ति अवक्तव्य है। स्वपरचतुष्टय की विवक्षा से एवं युगपत् दोनों धर्मों को न कह सकने से जीव अस्ति नास्ति अवक्तव्य है।

यहाँ पर प्रथम भंग में अस्तित्व की प्रधानता होने से शेष छह भंग गौण हैं। द्वितीय भंग में नास्तित्व की प्रधानता होने से बाकी छह भंग गौण हैं ऐसे ही सर्वत्र समझना।

प्रश्न— वस्तु में सात ही भंग क्यों होते हैं?

उत्तर— शिष्यों द्वारा सात ही प्रश्न किये जाते हैं।

प्रश्न— शिष्यों द्वारा सात ही प्रश्न क्यों किये जाते हैं?

उत्तर— क्योंकि सूत्र में 'प्रश्नवशादेव' ऐसा पद है।

प्रश्न— सात ही प्रश्न क्यों होते हैं?

उत्तर— सात प्रकार की ही जिज्ञासा होती हैं।

प्रश्न— सात प्रकार की ही जिज्ञासा क्यों है?

उत्तर— उस संशय के विषयभूत वस्तु धर्म सात प्रकार के ही हैं।

यह सात प्रकार का व्यवहार निर्विषयक नहीं है। क्योंकि इन सात प्रकारों से ही वस्तु का यथार्थ ज्ञान, उसमें प्रवृत्ति और उनकी प्राप्ति का निश्चय देखा जाता है। अतएव श्री भट्टाकलंक देव ने सप्तभंगी को 'स्याद्वादामृतगर्भिणी' कहा है।

शंका— एक ही वस्तु में विरुद्ध दो धर्म शीतउष्ण स्पर्शवत् संभव नहीं है। जो वस्तु नित्य है वही अनित्य नहीं है, अन्यथा अनर्थ हो जायेगा।

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि जिस समय जीव द्रव्यदृष्टि से नित्य है उसी समय वही जीव पर्याय की दृष्टि से अनित्य है। देखो! जीव नित्य न होवे तो पुनर्जन्म में वही जीव नहीं जावे और यदि अनित्य नहीं होवे तो मनुष्य पर्याय का नाश और देव पर्याय का उत्पाद नहीं हो सकता है, किन्तु सभी आस्तिकवादी जीव का पुनर्जन्म एवं उत्पाद-विनाश मानते हैं, ऐसे अनेकों विरोधी धर्म अपेक्षा की शैली से एक ही वस्तु में रह जाते हैं, बाधा नहीं आती है अथवा जैसे— किसी एक मनुष्य में शत्रु और मित्र रूप दो विरोधी धर्म एक साथ हैं वह किसी का शत्रु है तो वह अन्य किसी का मित्र भी उसी समय है।

प्रश्न— यदि अनेकांत में अनेकांत लगेगा तो द्वितीय भंग एकान्त बन जायेगा और यदि अनेकान्त में अनेकान्त लगाओगे तो अनवस्था आ जावेगी?

उत्तर— अनेकांत में भी प्रमाण और नय की दृष्टि से अनेकान्त और एकान्तरूप से अनेकमुखी कल्पनाएं होती हैं।

एकान्त[1] और अनेकान्त दोनों ही सम्यक् और मिथ्या के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं— सम्यक् एकान्त, मिथ्या एकान्त। सम्यक् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त।

१. राजवार्तिक।

सम्यक् एकान्त— प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु के एक अंश को युक्ति सहित नय की विवक्षा से ग्रहण करने वाला सम्यक् एकान्त है। जैसे— जीव निश्चयनय से शुद्ध है। अथवा व्यवहारनय से अशुद्ध है। इसे ही सम्यक्नय कहते हैं।

मिथ्या एकान्त— वस्तु के एक धर्म को सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या एकान्त है। जैसे— वस्तु सर्वथा क्षणिक ही है या सर्वथा नित्य ही है, यह दुर्नय है।

सम्यक् अनेकांत— एक वस्तु में युक्ति और आगम से अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मों का ग्रहण करने वाला सम्यक् अनेकांत है। जैसे— जीव अनन्तधर्मात्मक हैं।

मिथ्या अनेकान्त— वस्तु को अस्ति-नास्ति आदि स्वभाव से शून्य कहकर उसमें अनेक धर्मों की मिथ्या कल्पना करना-अर्थशून्य वचन विलास मिथ्या अनेकान्त है।

इन चारों में सम्यक् एकान्त 'नय' और सम्यक् अनेकान्त 'प्रमाण' कहलाता है।

यदि अनेकान्त को अनेकान्त ही माना जावे और एकान्त का लोप किया जावे तो सम्यक् एकान्त के अभाव में, शाखादि के अभाव में वृक्ष के अभाव के समान तत्समुदाय रूप अनेकांत का भी अभाव हो जायेगा और यदि एकान्त ही माना जावे तो अविनाभावी इतर धर्मों का लोप होने से प्रकृत शेष का भी लोप हो जावेगा।

[1]अनेकांतोप्यनेकांतः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकांतः प्रमाणात्ते तदेकांतोर्पितान्नयात्।।

अतः अनेकांत भी अनेकांत रूप है क्योंकि प्रमाण और नय से सिद्ध है। प्रमाण की अपेक्षा से अनेकान्त, अनेकान्त रूप है एवं अर्पित-विवक्षित नय की अपेक्षा से एकान्त रूप है। इस प्रकार से अनेकांत में भी सप्तभंगी घटित हो जाती है।

अर्हन्त भगवान के शासन में तीन चीजें परस्पर में अविरोधी हैं—

नयसत्त्वर्तवः[2] सर्वे गव्यन्ये चाप्यसङ्गताः।
श्रियस्ते त्वयुवन् सर्वे दिव्यर्द्ध्या चावसंभृताः।।

अर्थ— हे भगवन्! आपके शासन में नय, प्राणी और ऋतुएं परस्पर में विरोधी होकर भी अविरोधी हैं। ये सब आपके प्रभाव से एक साथ संगत हो गये थे तथा कितने ही अन्य कार्य देवों की ऋद्धि से निष्पन्न किये गये थे।

अर्थात् निश्चय-व्यवहार, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक आदि नय परस्पर में विरुद्ध हैं फिर भी कथंचित् इस नीति से एक-दूसरे की अपेक्षा रखने से अविरोधी हो जाते हैं। ये आपके शासन का ही महत्व है अन्यत्र नहीं है। परस्पर विरोधी नकुल-सर्प, सिंह-हरिण आदि प्राणीगण भी आपके आश्रय में (समवसरण में) परस्पर का जन्म-जात वैर छोड़कर अविरोधी होकर प्रेमभाव धारण कर लेते हैं। वैसे ही षट् ऋतुएँ परस्पर में विरोधी हैं-एक साथ नहीं फलती हैं फिर भी जहाँ भगवान ध्यान करते हैं अथवा समवसरण होता है वहाँ पर एक साथ ही षट्ऋतुओं के फल-फूल फलित हो जाते हैं। ऐसा जैन शासन सदा काल जयवन्त रहे।

---

१. स्वयंभूस्तोत्र। २. स्वामी श्रीसमन्तभद्र कृत स्तुति विद्या।

निक्षेप

जीवादि पदार्थों को सम्यक् प्रकार से जानने के लिए निक्षेप माना गया है। उनके चार भेद हैं— नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

जात्यादि निमित्तों से निरपेक्ष किसी वस्तु की संज्ञा करना नाम निक्षेप है। जैसे— किसी का नाम महावीर रख देना।

काष्ठ, पाषाण आदि में यह अमुक है, इस प्रकार स्थापित करना स्थापना है। इसके पूज्य-अपूज्य की अपेक्षा से भी भेद हो जाते हैं, जैसे— पाषाण की प्रतिमा में चन्द्रप्रभ की स्थापना करना पूज्य तदाकार स्थापना है इत्यादि।

जो गुणों को प्राप्त हुआ था या गुणों को प्राप्त होगा, वह द्रव्यनिक्षेप है। वर्तमान पर्याय से युक्त को ग्रहण करने वाला भावनिक्षेप है।

जीव के स्वतत्त्व

जीव के असाधारण (जीव के सिवाय अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाये जाने वाले) भाव पाँच हैं, वे जीव के स्वतत्त्व कहलाते हैं। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक।

१. औपशमिक— कर्मों के उपशम से होने वाले भाव को औपशमिक कहते हैं। इनके दो भेद हैं— औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र।

उपशमसम्यक्त्व— अनादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ इन पाँच प्रकृतियों का उपशम होने से तथा सादिमिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और चार अनन्तानुबंधी इन सात कर्मों के उपशम होने से उपशम सम्यक्त्व होता है।

उपशमचारित्र— अनन्तानुबंधी के सिवाय चारित्रमोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों के उपशम होने से उपशम चारित्र (ग्यारहवें गुणस्थान में) होता है।

२. क्षायिकभाव— कर्मों के सर्वथा क्षय हो जाने से जो आत्मा के पूर्ण शुद्धभाव होते हैं, वे क्षायिकभाव हैं। उनके ९ भेद हैं— क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन, क्षायिकदान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिकचारित्र। ज्ञानावरण-दर्शनावरण के क्षय से ज्ञान-दर्शन होते हैं। अन्तराय के पाँचों भेदों के क्षय से क्रम से पाँच भाव होते हैं तथा दर्शनमोहनीय के क्षय से सम्यक्त्व और चारित्र मोहनीय के क्षय से चारित्र होता है।

३. क्षायोपशमिक— कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभावरूप क्षय, अन्य सर्वघाती स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाती स्पर्धकों का उदय होने पर जो भाव होते हैं, वे क्षायोपशमिक भाव हैं। उनके १८ भेद हैं— मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, क्षायोपशमिक, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम।

इनमें से पहले के सात भेद ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से, उसके बाद के तीन भेद दर्शनावरण के

क्षयोपशम से, फिर आगे के पाँच भाव अन्तराय के क्षयोपशम से और अंत के तीन भेद क्रमशः दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय (प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्याख्यानावरण) के क्षयोपशम से होते हैं।

औदयिक— जो भावकर्मों के उदय से होते हैं, वे औदयिक हैं। उनके २१ भेद हैं।

मनुष्यगति, देवगति, तिर्यञ्चगति, नरकगति, क्रोध, मान, माया, लोभ, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम, असिद्ध, कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। इन सभी भावों में से कुछ भाव नामकर्म के उदय से, कुछ मोहनीय कर्म के उदय से, कोई ज्ञानावरण कर्म के उदय से तथा कोई सर्वसामान्य कर्मों के उदय से होते हैं।

पारिणामिक— आत्मा के जो भाव स्वाधीन, स्वाभाविक (कर्मनिरपेक्ष) होते हैं, वे पारिणामिक हैं। उनके तीन भेद हैं— जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व।

जीवत्व— जीव का चेतनामयभाव जीवत्व है।

भव्यत्व— मुक्त हो सकने की योग्यता भव्यत्व है।

अभव्यत्व— मुक्त न हो सकने की योग्यता अभव्यत्व है।

जीव का लक्षण— जीव का लक्षण उपयोग है अर्थात् उपर्युक्त भाव जिसमें पाये जाते हैं, उस जीव का लक्षण उपयोग है। इसके १२ भेद हैं— पाँच ज्ञान, तीन कुज्ञान और चार दर्शन, ऐसे १२ भेद हैं।

दर्शन समीक्षा

जिसके द्वारा वस्तुतत्त्व का निर्णय किया जाता है, वह दर्शनशास्त्र है। कहा भी है— '**दृश्यते निर्णीयते वस्तुतत्त्वमनेनेति दर्शनम्**'। इस लक्षण से दर्शनशास्त्र तर्क-वितर्क मन्थन ये परीक्षास्वरूप हैं, जो कि तत्त्वों के निर्णय में प्रयोजक हैं, जैसे— यह संसार नित्य है या अनित्य? इसकी सृष्टि करने वाला कोई है या नहीं? आत्मा का स्वरूप क्या है? इसका पुनर्जन्म होता है या नहीं? ईश्वर की सत्ता है या नहीं? इत्यादि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना दर्शनशास्त्र का काम है।

दर्शन को दो भागों में विभक्त किया है— भारतीय दर्शन और पाश्चात्यदर्शन। भारतीय दर्शन में भी वैदिक दर्शन और अवैदिक दर्शन ये दो भेद होते हैं।

वैदिक दर्शन में मुख्यतः सांख्य, वेदान्त, मीमांसा, योग, न्याय तथा वैशेषिक दर्शन लिये जाते हैं अर्थात् ये सभी दर्शन वेद को मानने वाले हैं।

अवैदिक दर्शन में जैन, बौद्ध और चार्वाक माने गये हैं क्योंकि ये वेद परम्परा के पोषक नहीं हैं।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त ये दर्शन आस्तिक एवं जैन, बौद्ध और चार्वाक नास्तिक दर्शन हैं, ऐसा भी लोग कहते हैं किन्तु यह बात ठीक नहीं है। वास्तव में आत्मा, ईश्वर और परलोक के अस्तित्व को मानने वाले जैन नास्तिक नहीं हैं, आस्तिक ही हैं। यदि कोई कहे कि ये जैन ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं मानते हैं अतः नास्तिक हैं, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि जैन ईश्वर को सृष्टि का कर्ता न मानकर

भी अनन्त ईश्वरों की सत्ता स्वीकार करते हैं अत: जैन आस्तिकवादी ही हैं।

यहाँ भारतीय दर्शनों की संक्षिप्त मान्यता दिखाकर उस पर विचार करना है।

चार्वाक दर्शन— चार्वाक पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चारों तत्त्वों को भूतचतुष्टय कहते हैं। उनका कहना है कि इन चार तत्त्वों के मिलने से चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है, जैसे— कि गोबर आदि से बिच्छू उत्पन्न हुए देखे जाते हैं। यह शरीर को ही आत्मा मानता है। जन्म के पहले और मरण के अनन्तर आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है। परलोक, ईश्वर, स्वर्ग, नरक आदि कुछ भी नहीं है, जो प्रत्यक्ष में दिखता है उसके सिवाय कुछ भी नहीं है अत: प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है। यह सर्वज्ञ आदि के अस्तित्व को भी नहीं मानता है अत: नास्तिकवादी कहलाता है।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये सर्वथा अचेतन हैं। गोबर आदि में तिर्यंचगति, त्रीन्द्रिय जाति आदि नामकर्म के उदय से अनादि चैतन्य सत्ता वाला जीव आकर जन्म लेता है। जाति स्मरण आदि निमित्तों से जीव के परलोक का अस्तित्व और जीव का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। इसी तरह आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाने से सर्वज्ञ आदि की भी सिद्धि हो जाती है।

बौद्ध दर्शन— बौद्ध दर्शन का मौलिक सिद्धान्त है 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' सभी पदार्थ क्षणिक हैं क्योंकि सत्‌रूप हैं।

बौद्ध के भगवान बुद्ध हैं। इनके यहाँ आत्मा का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है किन्तु रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धों के समुदाय को ही आत्मा माना है।

बौद्धों के चार भेद हैं— माध्यमिक— बाह्य आभ्यन्तर समस्त वस्तु को शून्य रूप मानने वाले, **योगाचार**— बाह्य वस्तु का अभाव मानने वाले, **सौत्रांतिक**— बाह्य वस्तु को अनुमान ज्ञान का विषय मानने वाले, **वैभाषिक**— बाह्य वस्तु को प्रत्यक्ष मानने वाले।

ये चारों ही बौद्ध वस्तु को सर्वथा क्षणिक मानते हैं। एक समय मात्र अवस्थित मानते हैं।

जैनाचार्यों ने सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय से वस्तु की अर्थपर्याय को एक क्षण अवस्थित माना है। उसी का एकान्त लेकर के बौद्धों ने द्रव्य को ही क्षणिक मान लिया है, जो कि गलत है।

सांख्य दर्शन— कुछ सांख्य ईश्वर को नहीं मानकर केवल अध्यात्मवादी हैं। कुछ सांख्य ईश्वर को ही देवता मानते हैं। ये दोनों ही सांख्य साधारणतया पच्चीस तत्त्वों को स्वीकार करते हैं।

सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है। इनके यहाँ आत्मा अमूर्त, चेतन, भोक्ता, नित्य, सर्वगत, निष्क्रिय, अकर्ता, निर्गुण और सूक्ष्म है।

प्रकृति और आत्मा के संयोग से ही ये सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं। कुछ ईश्वर को भी सृष्टि का कर्ता मान लेते हैं।

पच्चीस तत्त्व— प्रकृति से महान् (बुद्धि), बुद्धि से अहंकार, अहंकार से सोलह गुण (स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियाँ, पायु, उपस्थ, वाणी, हस्त, पाद तथा मन और रूप, रस, गंध, स्पर्श तथा शब्द) उत्पन्न होते हैं।

इनमें से पाँच तन्मात्राओं से पाँच भूतों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सांख्य मत में प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वरूप परिणत हुआ प्रधान तत्त्व एक है।

इनके यहाँ प्रकृति के वियोग का नाम मोक्ष है। वह प्रकृति तथा पुरुष के विज्ञानरूप तत्त्व ज्ञान से होता है।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि यदि पुरुष सर्वथा अकर्ता, निर्गुण, निष्क्रिय है, तो उसका प्रकृति के साथ संयोग भी नहीं हो सकता है क्योंकि कूटस्थ नित्य सिद्धान्त में परिणमन का अभाव होने से पुरुष को संसार और मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन सकती है, इत्यादि अनेकों दोष आते हैं। ये सांख्य प्रत्येक वस्तु को सर्वथा नित्य ही मानते हैं, जो कि द्रव्यार्थिकनय का विषय है। एकान्त, दुराग्रही होने से इनका सिद्धान्त भी दूषित ही है।

नैयायिक दर्शन— इनके मत में सोलह तत्त्व हैं। प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान।

नैयायिक लोग कहते हैं कि जगत् की सृष्टि तथा संहार करने वाला, व्यापक, नित्य, एक, सर्वज्ञ, ज्ञानशाली, महेश्वर सदाशिव है अर्थात् ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते हैं।

जैनाचार्यों का कहना है कि यदि कोई ईश्वर सृष्टि का कर्ता है, तो उसने दु:खी जीव क्यों बनाये? यदि कहो कि उन्होंने पाप किया था, तो ईश्वर ने पाप की सृष्टि भी क्यों की थी क्योंकि ईश्वर परम कारुणिक होता है। उसे पाप और पापियों की सृष्टि भी नहीं बनाना चाहिए था अत: सभी जीव अनादिकाल से कर्मों से बंधे हुए हैं, वे ही पुरुषार्थ द्वारा कर्मों का नाश कर ईश्वर या मुक्त होते हैं पुन: कृतकृत्य होने के बाद वे सृष्टि निर्माण आदि झंझटों में नहीं पड़ते हैं।

वैशेषिक दर्शन— ये लोग द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सात पदार्थ मानते हैं।

जिस द्रव्य में समवाय से ज्ञान रहता है, वही आत्मा है क्योंकि आत्मा में ज्ञान समवाय से रहता है।

आत्मा के दो भेद हैं— जीवात्मा और परमात्मा। परमात्मा ईश्वर एक है। जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है, व्यापक है, नित्य है।

वैशेषिक के यहाँ द्रव्य, गुण आदि परस्पर में भिन्न-भिन्न हैं। समवाय संबंध से रहते हैं।

नैयायिक के सदृश ये भी ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते हैं। कुछ ही विषयों में नैयायिक वैशेषिकों में भेद हैं, प्राय: सभी सिद्धान्त सदृश ही हैं। नैयायिक और वैशेषिक इन दोनों दर्शनों का नाम 'योग' है।

इस वैशेषिक ने बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नव गुणों के अत्यन्त विनाश को मोक्ष माना है।

जैनाचार्यों ने इनकी सभी मान्यताओं का निराकरण किया है। वास्तव में ज्ञान और सुख का भी मोक्ष में विनाश मान लेना, तो सर्वथा मूर्खता का ही द्योतक है। ज्ञान और सुख के लिए ही तो लोग मुक्ति हेतुक अनुष्ठान करते हैं अत: इनका भी मत दूषित है।

मीमांसा दर्शन— मीमांसा—यथार्थ विवेचन।

इसके दो भेद हैं— कर्ममीमांसा और ज्ञानमीमांसा। यज्ञ विधि, कर्मकाण्ड, अनुष्ठान आदि कर्म-मीमांसा का विषय है एवं जीव, जगत्, ईश्वर का स्वरूप आदि का निरूपण ज्ञानमीमांसा का विषय है।

आजकल ज्ञानमीमांसा को 'वेदान्त' शब्द से कहा जाता है। मीमांसा दर्शन के सूत्रकार जैमिनी हैं। इनमें भी कुमारिल भट्ट के शिष्य भाट्ट और प्रभाकर के शिष्य प्राभाकर कहलाते हैं।

मीमांसक कहते हैं कि—कोई भी सर्वज्ञ, सर्वदर्शी नहीं है। अतीन्द्रिय पदार्थों का दर्शन वेद वाक्यों से ही होता है। ये लोग वेद को अपौरुषेय मानकर प्रमाण मानते हैं किन्तु जैनाचार्यों ने सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करके इनके अपौरुषेय वेद का निराकरण कर दिया है क्योंकि पुरुषकृत न होने से वेद प्रमाण हो जावें, तब तो चोरी, व्यभिचार आदि का उपदेश किसी भी पुरुष के द्वारा वर्णित नहीं है, वो भी प्रमाण हो जायेगा। दूसरी बात यह है कि वेद में हिंसादि के पोषक वाक्य होने से वेद अप्रमाण ही हैं।

वेदान्त दर्शन—

''सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।
आरामं तस्य पश्यंति न तं पश्यति कश्चन।।''

यह सारा जगत् एक ब्रह्म स्वरूप ही है, यहाँ अन्य कुछ भी नहीं है, सब उसी के प्रभाव को देखते हैं और उसको कोई नहीं देख सकता है। ये ग्राम, नगर आदि चेतन, अचेतन पदार्थ सब उसी ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं, उसी की ही पर्यायें हैं। इनके यहाँ कहा है कि 'अरे भक्त! तुम आत्मा को देखो, सुनो, मानो और ध्यान करो। एक ही ब्रह्म सभी प्राणियों में भासमान होता है, वह एक रूप है फिर भी अभी में अवस्थित है। ये ब्रह्माद्वैतवादी लोग एक ब्रह्म के अतिरिक्त सारे जगत् को अविद्या-माया का विलास बतलाते हैं।

किन्तु वास्तव में उनका यह सिद्धान्त स्वयं ही अविद्या का विलास है। देखो! चेतन स्वरूप ब्रह्म से समस्त चेतन, अचेतन रूप जगत् की उत्पत्ति मानना तो नितान्त गलत है। फिर एक का सुख-दुख दूसरे को नहीं होता है। यह स्पष्ट है पुन: सभी में एक आत्मा का अस्तित्व मानना ठीक नहीं है। हाँ! प्रत्येक आत्मा में ब्रह्म स्वरूप परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान होने से प्रत्येक आत्मा को कथंचित् शुद्धनय से शुद्ध ब्रह्मस्वरूप कह देना ठीक है। कहा भी है[१] 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' सभी जीव शुद्धनय से शुद्ध ही हैं। यदि इसी का एकान्त लिया जाता है, तो महा मिथ्यात्व आ जाता है।

जैनदर्शन— यह जैनधर्म अनादि निधन है। इसकी स्थापना किसी ने भी नहीं की है। इस सिद्धान्त में सात तत्त्व, नव पदार्थ, छह द्रव्य और पाँच अस्तिकाय माने गये हैं। स्याद्वाद, अहिंसा, अपरिग्रह आदि इसके मौलिक सिद्धान्त हैं। [२]"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:" इस सूत्र से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकता ही मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है। सम्पूर्ण कर्मों से आत्मा का छूट जाना ही मोक्ष है। प्रत्येक आत्मा अनादिकाल से कर्मों से बंधी हुई है। पुरुषार्थ के बल से वही आत्मा, परमात्मा बन जाती है, ऐसे अनन्तों परमात्मा हैं और संसारी जीवराशि भी अनन्तानन्त है।

---

१. द्रव्यसंग्रह। २. तत्त्वार्थसूत्र।

जैनाचार्यों ने अन्य मत-मतान्तरों का निराकरण करके सर्वज्ञ की सिद्धि की है।

सर्वज्ञसिद्धि— जो सर्वज्ञ हैं, कर्म पर्वतों के भेत्ता हैं, मोक्षमार्ग के प्रणेता हैं, वे ही अर्हन्त हैं और इसीलिए वे मुनीश्वरों के वंदनीय प्रसिद्ध हैं क्योंकि सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए अबाधित और सुनिश्चित प्रमाण पाये जाते हैं। ईश्वर आदि सर्वज्ञ नहीं हैं इसलिए "सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ अर्हन्त के ही परमार्थत: प्रत्यक्ष हैं क्योंकि वे प्रमेय हैं, जैसे— हम लोगों के द्वारा जाने गये प्रत्यक्ष पदार्थ।"

प्रश्न— अर्हन्त भगवान सूक्ष्मादि पदार्थों को इन्द्रिय ज्ञान से जानते हैं या अतीन्द्रिय ज्ञान से?

उत्तर— इन्द्रिय ज्ञान से भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों कालवर्ती सम्पूर्ण लोकालोक का जानना असंभव है अत: सर्वज्ञ भगवान अतीन्द्रिय ज्ञान से ही सम्पूर्ण चराचर जगत् को एक साथ एक समय में जान लेते हैं।

प्रश्न— ऐसा ज्ञान कैसे प्रगट होता है?

उत्तर— आत्मा ज्ञान स्वभाव है, उसके ऊपर ज्ञानावरण कर्म का आवरण है, उसका नाश हो जाने पर पूर्ण ज्ञान प्रकट हो जाता है।

प्रश्न— ज्ञानावरण आदि कर्मों का नाश कैसे होता है?

उत्तर— मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन कर्मों के प्रतिपक्षी कारणों के मिल जाने से इनका नाश हो जाता है।

प्रश्न— इन कर्मों के बंध के कारण और इनके प्रतिपक्षी कारण क्या-क्या हैं?

उत्तर— मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीनों मोहादि चार कर्मों के बंध के कारण हैं तथा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये इनके प्रतिपक्षी कारण हैं। ये कारण मिथ्यात्व, अविरति आदि बंध कारणों का विनाश कर देते हैं, तब आत्मा का पूर्ण स्वभाव प्रगट हो जाता है अर्थात् आगामी कर्मों का विपक्ष संवर है और संचित कर्मों का विपक्ष तप से होने वाली निर्जरा है।

आस्रव के निरोध को संवर कहते हैं। यह गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय आदि से होता है और तपश्चरण आदि से निर्जरा होती है। जब घातिया कर्मों का आत्मा से पृथक्करण हो जाता है, तभी वह आत्मा सर्वज्ञ, हितोपदेशी और वीतरागी हो जाती है। जब संपूर्ण कर्मों का पृथक्करण हो जाता है तब वह आत्मा पूर्ण शुद्ध-सिद्ध हो जाती है।

आत्मा के तीन भेद

[१]"पंचपरमेष्ठियों को भावपूर्वक नमस्कार करके प्रभाकर भट्ट अपने परिणामों को निर्मल करके ही योगीन्द्रदेव से शुद्धात्मतत्त्व के जानने के लिए विनती करते हैं।"

हे स्वामिन्! इस संसार में रहते हुए मेरा अनन्तकाल व्यतीत हो गया किन्तु मैंने कुछ भी सुख नहीं

१. भावि पणविवि पंचगुरु सिरि जो इंदु जिणाउ।
भट्ट पहायरि विण्णविउं विमलु करेविणु भाउ।। — परमात्मप्रकाश

पाया, प्रत्युत् महान दु:ख ही पाया है। चतुर्गति दु:खों से संतप्त प्राणियों को दु:खों से छूटने के लिए परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करो।

इस प्रकार प्रभाकर भट्ट के द्वारा प्रार्थना करने पर श्री योगीन्द्रदेव कहते हैं कि—

हे प्रभाकर भट्ट! आत्मा के तीन भेद हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।

बहिरात्मा— शरीर आदि पर्याय में लीन हुआ अज्ञानी जीव मिथ्यात्वपरिणाम से सहित हुआ अनेक प्रकार के कर्मों को बांधता है, जिससे संसार में परिभ्रमण करता है अर्थात् शरीर को ही आत्मा मान लेता है। परमात्मा की श्रद्धा से विमुख हुआ आठ मल, आठ मद, छह अनायतन, तीन मूढ़ता इन पच्चीस दोषों से सहित रहता है। नरनारकादि विभाव पर्यायों में लीन, शुद्धात्मा के अनुभव से पराङ्मुख, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पंच प्रकार के संसार में भटकता है।

अन्तरात्मा— पच्चीस मल दोषों से रहित सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा हैं। यह अन्तरात्मा समझता है कि जिस प्रकार का निर्मल ज्ञानमय परमात्मा सिद्धालय में रहता है, उसी प्रकार की आत्मा देह में निवास करती है। आत्मा के वर्ण, रस, गंध, स्पर्श आदि नहीं है क्योंकि वे पुद्गल के गुण हैं। आत्मा में राग, द्वेष, अज्ञान आदि विभाव परिणति नहीं है क्योंकि वे कर्मोदय जनित हैं। वास्तव में आत्मा शुद्ध नय की अपेक्षा से शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निर्विकार है।

परमात्मा— जो निर्मल, केवल, शुद्ध और अव्यय है, वह परमात्मा हैं अथवा जिनके अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण प्रकट हो गये हैं, वे परमात्मा कहलाते हैं।

गुणस्थानों की अपेक्षा इन आत्माओं का वर्णन— [१]प्रथम तीन गुणस्थान वाले जीव बहिरात्मा, चतुर्थ गुणस्थान वाले जघन्य अन्तरात्मा, पाँचवें गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक तरतम भाव से मध्यम अन्तरात्मा, बारहवें गुणस्थान में उत्तम अन्तरात्मा तथा तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव परमात्मा कहलाते हैं।

[२]सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण— जो सम्यग्दृष्टि जीव पच्चीस मलदोष रहित सम्यक्त्व का पालन करते हैं, उनका वह आचरण सम्यक्त्वाचरण अथवा दर्शनाचार चारित्र कहलाता है, जो निर्दोष चारित्र के धारक हैं, उनका चारित्र संयमाचरण कहलाता है।

जघन्य अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि अपनी शक्ति के अनुरूप व्रतादि ग्रहण करके मध्यम अन्तरात्मा होता है और वह देश चारित्र को ग्रहण कर लेता है पुन: मोक्ष की सिद्धि के लिए वह श्रावक मुनिव्रत को धारण करके भेद रत्नत्रय का धारी सराग चारित्र वाला मध्यम अन्तरात्मा कहलाता है। आगे वही धीरे-धीरे अभेद रत्नत्रय को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता है क्योंकि भेद रत्नत्रय ही अभेद रत्नत्रय के लिए साधन है भेद रत्नत्रयरूप छठे-सातवें गुणस्थान के बिना अभेदरत्नत्रयरूप आगे के गुणस्थान हो नहीं सकते हैं।

---

१. मिस्सोत्ति बाहिरप्पा तरतमया तुरिय अन्तरप्पजहण्णा।
सत्तोति मज्झिमंतर खीणुत्तर परमजिणसिद्धा।।१२९।।-रयणसार।

२. षट्प्राभृत पृ. ४५।

मोक्षमार्ग

व्यवहार-निश्चय मोक्षमार्ग— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता व्यवहारनय से मोक्ष का कारण है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी निज आत्मा निश्चयनय से मोक्ष का कारण है क्योंकि आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता है, इस कारण रत्नत्रयमयी आत्मा ही निश्चयनय से मोक्ष का कारण[1] है।

व्यवहार रत्नत्रय— जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। यह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है। इसके होने पर संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित सम्यग्ज्ञान होता है। अनन्तर स्वशुद्धात्मानुभूतिरूप शुद्धोपयोग लक्षण जो वीतराग चारित्र है, उसका परम्परा से साधक सराग चारित्र होता है। तथाहि—

"जो[2] अशुभ कार्य से निवृत्तिरूप और शुभ कार्य में प्रवृत्तिरूप है, वह व्यवहारचारित्र है।" श्री जिनेन्द्रदेव ने व्यवहारनय से उस चारित्र को ५ व्रत, ५ समिति और तीन गुप्ति रूप कहा है। इसी चारित्र को अपहृत संयम और सराग चारित्र भी कहते हैं।

इसके अनन्तर निश्चय रत्नत्रय प्रगट होता है, उसी को कहते हैं— 'राग आदि विकल्प रहित, चिच्चमत्कार भावना से उत्पन्न परमशान्त रस के आस्वादरूप सुख का धारक मैं हूँ', इस प्रकार से निश्चय रुचि सम्यग्दर्शन है और स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा उसी सुख का राग आदि समस्त विभावों से भिन्न जानना सम्यग्ज्ञान है। इसी प्रकार देखे, सुने तथा अनुभव किये हुए भोग आकांक्षा आदि समस्त दुर्ध्यान रूप संकल्प-विकल्प के त्याग द्वारा उसी सुख में रत, तृप्त तथा एकाकाररूप परम समता भाव से चित्त का पुनः-पुनः स्थिर होना निश्चय चारित्र है। यह निश्चय रत्नत्रय ही अभेद रत्नत्रय या वीतराग चारित्र कहलाता है क्योंकि इस समय तीनों की एकाग्र परिणति हो जाती है।

संसार[3] के कारणों को नष्ट करने के लिए ज्ञानी जीव के जो बाह्य और अन्तरंग क्रियाओं का निरोध है, श्री जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ वह उत्कृष्ट सम्यक् चारित्र है। यही चारित्र वीतराग और निश्चय संज्ञा को प्राप्त होता है।

ध्यान[4] के बल से, मुनि नियम से व्यवहार-निश्चयरूप मोक्षमार्ग को प्राप्त कर लेते हैं इसलिए तुम उस ध्यान का अभ्यास करो। यदि तुम विचित्र ध्यान की सिद्धि के लिए मन स्थिर करना चाहते हो, तो इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में मोह मत करो, राग मत करो और द्वेष मत करो।

सहज, शुद्ध, परम चैतन्यशाली तथा परिपूर्ण आनन्द का धारी भगवान निज आत्मा में उपादेय बुद्धि

---

१. द्रव्यसंग्रह गाथा ३९, ४०।
२. असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं।।४५।।— द्रव्यसंग्रह।
३. बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणपणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं।।४६।।— द्रव्यसंग्रह।
४. द्रव्यसंग्रह गाथा ४७।

करके 'मैं अनन्त ज्ञानमयी हूँ, मैं अनन्त सुखरूप हूँ' इत्यादि रूप से ध्यान करो और बहिरंग में पंचपरमेष्ठी के अवलम्बनरूप, पिण्डस्थ, पदस्थ आदि ध्यान का अभ्यास करो।

सम्यग्दृष्टि जीव निश्चय और व्यवहार दोनों नयों का अवलम्बन लेकर आत्मतत्त्व को ठीक से समझता है।

"जो शुद्ध[1] नय तक पहुँचकर श्रद्धावान् हुए तथा पूर्णज्ञान और चारित्रवान् हो गये, उनको तो शुद्धनय का उपदेशक शुद्धनय जानने योग्य है। यहाँ शुद्ध आत्मा का प्रकरण है इसलिए शुद्ध, नित्य, एक, ज्ञायक मात्र आत्मा है, ऐसा जानना और जो जीव अपर भाव अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र के पूर्णभाव को नहीं पहुँच सके तथा साधक अवस्था में ही ठहरे हुए हैं, वे व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।"

अपने-अपने समय में दोनों ही नय कार्यकारी हैं क्योंकि तीर्थ[2] और तीर्थ के फल की ऐसी ही व्यवस्था है। जिससे तिरा जाये वह तीर्थ है, वह व्यवहार धर्म है और 'जो पार होना' वह तीर्थ का फल है अथवा अपने स्वरूप का पाना वह तीर्थ का फल है। कहा भी है—

"यदि[3] तुम जैनधर्म का प्रवर्तन चाहते हो, तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों को मत छोड़ो क्योंकि एक-व्यवहारनय के बिना तो तीर्थ (व्यवहार मार्ग) का नाश हो जायेगा और दूसरे-निश्चय के बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा।

आचार्य[4] कहते हैं कि भूतार्थ—निश्चयनय, निर्विकल्प समाधि में रत मुनियों को प्रयोजनभूत है किन्तु निर्विकल्प समाधि रहित जीवों को सोलह ताव के सुवर्ण के अभाव में कुछ-कुछ ताव के सुवर्ण लाभ के समान किन्हीं प्राथमिक शिष्यों को सविकल्प अवस्था में मिथ्यात्व, विषय, कषाय, दुर्ध्यान की वंचना के लिए व्यवहारनय भी प्रयोजनीभूत है। सोलह ताव के सुवर्ण लाभ के समान अभेद रत्नत्रय स्वरूप समाधि-ध्यान के समय निश्चयनय ही प्रयोजनवान् है अर्थात् जो 'अपरम' भाव-अशुद्ध भाव में स्थित हैं—असंयत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से अथवा देशव्रती श्रावक की अपेक्षा से सराग सम्यग्दृष्टि हैं, शुभोपयोगी हैं और जो छठे गुणस्थानवर्ती तथा सप्तम गुणस्थानवर्ती हैं, भेद रत्नत्रय में स्थित हैं, उनके लिए व्यवहारनय प्रयोजनवान् है। यहाँ कहना यह है कि सातवें गुणस्थान तक अपरमभाव है और वहाँ तक व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है। इसके आगे ध्यानावस्था विशेष में व्यवहारनय स्वयं छूट जाता है। नयों का अवलम्बन नहीं रहता है।

भेद विज्ञान से बंध का अभाव होता है—

जब[5] यह जीव जान लेता है कि आत्मा और शरीर आदि परद्रव्य भिन्न-भिन्न हैं, तब यह ज्ञानी कहलाता

---

१. सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ठिदा भावे।।१२।।-समयसार।

२. तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात्।

३. जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।।

४. जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति टीका।

५. समयसार गाथा ७२ टीका।

है। आस्रव अशुचि हैं, जड़ हैं, दु:ख के कारण हैं और आत्मा पवित्र है, ज्ञाता है, सुख स्वरूप है, ऐसे दोनों को लक्षण भेद से भिन्न-भिन्न जानकर आत्मा आस्रवों से निवृत्त होती है, उसके कर्म का बंध नहीं होता है।

प्रश्न— यदि ज्ञान मात्र से बंध का निरोध होता है, तब तो सांख्य मत आ जावेगा?

उत्तर— जो आत्मा और आस्रव संबंधी भेदज्ञान है, वह रागादि आस्रवों से निवृत्त है या नहीं? यदि रागादि आस्रवों से रहित है, तब तो उस भेदविज्ञान में ठंढई के समान अभेदनय से वीतराग चारित्र और वीतराग सम्यक्त्व हैं ही हैं इस दृष्टि से सम्यग्ज्ञान से ही बंध का अभाव कह देना ठीक है। यदि भेदविज्ञान रागादि से निवृत्त नहीं है, तब तो वह सम्यक् भेदविज्ञान ही नहीं है, यह अभिप्राय होता है अर्थात् क्रोधादि कषाय भावों से रहित जीव के ही बंध का अभाव होता है। असंयत सम्यग्दृष्टि के ४१ प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति हो गई है, उतने मात्र में बंध का अभाव हो गया है, वैसे ही आगे गुणस्थानों में जितनी-जितनी प्रकृतियों का बंध नहीं होता उतनी-उतनी प्रकृतियों की अपेक्षा ही बंध का निरोध सिद्ध है।

सम्यग्दृष्टि जीव कर्ता है या नहीं— यद्यपि जीव शुद्ध निश्चयनय से स्वरूप को भी नहीं छोड़ता है, पररूप परिणत नहीं होता है, फिर भी व्यवहारनय से कर्म के उदय से रागादिरूप उपाधि परिणाम को ग्रहण करता है, इसलिये यह जीव कथंचित् परिणामी है।"[1]

जब यह जीव बहिरात्मा, अज्ञानी होता है, तब विषयकषाय रूप अशुभोपयोग को कर्ता है। कदाचित् पुन: भोगाकांक्षा निदानरूप शुभोपयोग परिणाम को भी कर्ता है, तब यह द्रव्यभावरूप पुण्य, पाप, आस्रव, बंध पदार्थों का कर्ता बन जाता है।

जब यह सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा होता है, तब मुख्यरूप से निश्चयरत्नत्रयलक्षण शुद्धोपयोग के बल से निश्चयचारित्र का अविनाभावी, वीतराग सम्यग्दृष्टि होता हुआ निर्विकल्प समाधिरूप परिणामों को कर्ता है तब उस परिणाम से द्रव्यभावरूप संवर, निर्जरा और मोक्ष पदार्थों का कर्ता हो जाता है।

कदाचित् पुन: निर्विकल्प समाधिरूप परिणाम के अभाव में विषय कषायों को दूर करने के लिए अथवा शुद्धात्मभावना को सिद्ध करने के लिए बाहर में ख्याति पूजा, लाभ, भोगाकांक्षा रूप निदान बंध से रहित हुआ शुद्धात्मस्वरूप अर्हंत, सिद्ध, शुद्धात्मा के आराधक-आचार्य, उपाध्याय, शुद्धात्मा के साधक-साधु इन पाँचों परमेष्ठियों के गुणस्मरण आदि रूप शुभोपयोग परिणाम को कर्ता है। इस प्रकार से सम्यग्दृष्टि जीव व्यवहार नय की अपेक्षा से संवर, निर्जरा आदि पदार्थों का कर्ता भी माना गया है, यदि सर्वथा अकर्ता ही माना जायेगा, तो मोक्ष व्यवस्था नहीं बनेगी।

रागद्वेषादि विभाव परिणाम जीव के हैं या पुद्गल के हैं?— ये रागादि विकार भाव जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुए हैं। ये अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अशुद्ध उपादान रूप से चेतन हैं क्योंकि जीव से संबंधित हैं। शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा शुद्धोपादान रूप से अचेतन हैं क्योंकि पौद्गलिक हैं। वास्तव में देखा जाये तो एकांत से न ये जीवरूप हैं न पुद्गलरूप हैं। ये व्यवहारनय से दोनों के ही हैं, जैसे कि स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ पुत्र माता और पिता दोनों का ही है और वस्तुभूत सूक्ष्म शुद्धनय से ये

१. समयसार टीका जयसेनाचार्यकृत-पृ. १२२।

मिथ्यात्व रागादि भाव हैं ही नहीं क्योंकि ये तो अज्ञान के संयोग से उत्पन्न हुए हैं।

प्रश्न— सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय से यह किसके हैं?

उत्तर— सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय से इनका अस्तित्व ही नहीं है।

सम्यग्दृष्टि के आस्रव नहीं होता— "रागं द्वेष और मोह ये आस्रव सम्यग्दृष्टि के नहीं हैं इसलिए आस्रव भाव के बिना द्रव्यप्रत्यय कर्मबंध का कारण नहीं है। मिथ्यात्व आदि चार प्रकार का हेतु आठ प्रकार के कर्म बंधने का कारण कहा गया है और उन चार प्रकार के हेतुओं को भी जीव के रागादि भाव का कारण कहा है, सो सम्यग्दृष्टि के उन रागादि भावों का अभाव होने से कर्मबंध नहीं है।

टीका[2] का भावार्थ— सम्यग्दृष्टि जीव के राग, द्वेष और मोह भाव नहीं होते हैं क्योंकि इन भावों के होने पर सम्यग्दृष्टिपन बन नहीं सकता। इसे स्पष्ट कर बतला रहे हैं। "सम्यग्दृष्टि जीव के अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व के उदय से होने वाले रागद्वेष मोह भाव नहीं होते, क्योंकि अन्यथा उसके केवलज्ञानादि अनन्त गुणों वाले परमात्मा में उपादेयता स्वीकार होकर वीतराग और सर्वज्ञ के द्वारा कहे हुए छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्ततत्त्व और नव पदार्थों में रुचि होने रूप तीन मूढ़ता आदि पच्चीस दोष रहित तथा संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा इन आठ गुणों वाला चतुर्थ गुणस्थान संबंधी सम्यक्त्व हो नहीं सकता।" अथवा 'अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण संबंधी रागद्वेष मोह नहीं है, अन्यथा पंचमगुणस्थान के योग्य देशचारित्र के साथ में होने वाला सराग सम्यक्त्व हो नहीं सकता' अथवा 'अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषाय संबंधी रागद्वेष मोह सम्यग्दृष्टि के नहीं होते' अन्यथा छट्ठे गुणस्थान के योग्य सरागचारित्र के साथ में होने वाला सराग सम्यक्त्व नहीं हो सकता।

अथवा "अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और तीव्र संज्वलनरूप क्रोधादि के उदय से होने वाले प्रमाद के कारण राग, द्वेष, मोह, भाव सम्यग्दृष्टि जीव के नहीं होते क्योंकि फिर तो शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव वाले परमात्मा में उपादेय बुद्धि होकर उसके ही योग्य शुद्धात्मा की समाधि से अनुभूत जो सहजानन्द स्वलक्षण वाले सुख की अनुभूति होना ही है स्वरूप जिसका ऐसे अप्रमत्तादि गुणस्थानवर्ती वीतराग चारित्र के साथ अविनाभाव रखने वाले अर्थात् वीतराग चारित्र के बिना न होने वाले वीतराग सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।"

इस क्रम से सम्यग्दृष्टि के राग, द्वेष, मोह रूप, भाव नहीं होते हैं एवं उनके न होने से सत्ता में होने वाले या उदय में होने वाले मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय कर्मबंध के कारण नहीं होते हैं क्योंकि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार कारण ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के नवीन बंध के कारण हैं अर्थात् निष्कर्ष यह निकलता है कि वीतरागरूप परम सामायिक भावना में परिणत रहने वाले अभेद रत्नत्रय लक्षणरूप, भेदज्ञान

---

१. रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
तम्हा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति।।१७७।।
हेदू चदुवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं।
तेसिं पि य रागादि तेसिमभावे ण बज्झंति।।१७८।।-समयसार।

२. श्रीजयसेनाचार्यकृत।

के होने पर यह जीव नवीन कर्मों से नहीं बंधता है।

अन्यत्र[1] इसी भाव को और भी स्पष्ट किया है।

सराग और वीतराग के भेद से सम्यग्दृष्टि के दो भेद होते हैं— उसमें से वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव तो नवीन कर्मबंध को सर्वथा नहीं करता, जिसको कि लक्ष्य में लेकर यहाँ कथन किया गया है— सम्यग्दृष्टि को अबंध कहा गया है किन्तु सराग सम्यग्दृष्टि जीव अपने-अपने गुणस्थान के क्रम से बंधव्युच्छित्ति करने वाला होता है। इसको बंध[2] त्रिभंगी में बताये हुए बंध-विच्छेद के क्रम से देखें तो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्वादि गुणस्थानों में व्युच्छिन्न हुई ४३ प्रकृतियों का बंध करने वाला नहीं होता किन्तु ७७ प्रकृतियों का अल्प स्थिति अनुभाग के रूप में बंधक भी होता है। फिर भी वह संसार की स्थिति का छेदक होता है इसलिए वह अबंधक (ईषत् बंधक) होता है। इस प्रकार अविरत नामक चतुर्थ गुणस्थान के ऊपर के गुणस्थानों में जहाँ तक सराग सम्यग्दर्शन रहता है, वहाँ तक जैसा संभव है, वहाँ तारतम्य से निचले गुणस्थानों की अपेक्षा से अबंधक होता है किन्तु उपरिम गुणस्थानों की अपेक्षा में देखने पर वह बंधक भी है। हाँ! जहाँ सराग सम्यक्त्व के आगे वीतराग सम्यक्त्व होता है, वह साक्षात् स्पष्टरूप से अबंधक होता है "वयं सम्यग्दृष्टय: सर्वथा बंधो नास्तीति न वक्तव्यं" हम सम्यग्दृष्टि हैं और सम्यग्दृष्टि के बंध नहीं होता है इसलिए हमें भी बंध नहीं होता, ऐसा नहीं समझना चाहिए।

समयसार में यत्र-तत्र श्री जयसेनाचार्य ने छठे गुणस्थान तक सराग सम्यक्त्व माना है और आगे के गुणस्थानों में वीतराग सम्यक्त्व माना है। बारहवें गुणस्थान में पूर्णतया वीतराग सम्यक्त्व होता है, उसी गुणस्थान में पूर्णतया बंध का अभाव होता है। उसके पूर्व जितनी-जितनी प्रकृतियों की बंध-व्युच्छित्ति होती है, उतनी-उतनी प्रकृतियों का संवर होने से वह अबंधक कहलाता है।

संसार विच्छित्ति के चार कारण माने हैं—

"द्वादशांगावगमस्तत्तीव्रभक्तिरनिवृत्तिपरिणाम:।
केवलिसमुद्घातश्चेति संसारस्थितिघातकारणानि भवन्ति।।"

सिद्धान्त ग्रंथ में कहा है कि— परिपूर्ण द्वादशांग का ज्ञान प्राप्त होना, अरिहन्त आदि की तीव्र भक्ति, अनिवृत्ति परिणाम और केवलिसमुद्घात ये चार संसार स्थिति के घात के कारण माने हैं।

द्वादशांग ज्ञान— व्यवहार से द्वादशांग विषयक सम्पूर्ण बाह्यविषयक ज्ञान होना और निश्चय से वीतराग स्वसंवेदन लक्षण ज्ञान का होना।

तत्तीव्र भक्ति— भक्ति से यहाँ सम्यक्त्व कहा गया है। वह भक्ति व्यवहार से यहाँ सराग सम्यग्दृष्टि के पंचपरमेष्ठी की आराधना रूप है और निश्चय से वीतराग सम्यग्दृष्टियों के शुद्धात्मतत्त्व की भावना रूप है।

अनिवृत्तिपरिणाम— न निवृत्ति को अनिवृत्ति कहते हैं— शुद्धात्मस्वरूप से चलित न होना, एकाग्रपरिणतिरूप अवस्था का होना।

---

१. गाथा १६६ आस्रवाधिकार टीका जयसेनाचार्यकृत।

२. सोलसपणवीसणभं दसचउ छक्केक्कबंधवोछिण्णा।
दुगतीसचतुरपुव्वे पण सोलसजोगिणो एक्को।।-गोम्मटसार कर्मकाण्ड।

इस [1]प्रकार से 'द्वादशांगावगम' से निश्चय-व्यवहार ज्ञान हो गया। 'भक्ति' से निश्चय-व्यवहार सम्यक्त्व हो गया और 'अनिवृत्ति परिणाम' से सराग चारित्र के अनन्तर वीतराग चारित्र हो गया। इस तरह सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों भेद-अभेद रत्नत्रयरूप से संसार की विच्छित्ति-विनाश के कारण होते हैं। किनके होते हैं? छद्मस्थजीवों के होते हैं और केवली भगवान के तो दण्ड, कवाट, प्रतर, लोकपूरणरूप केवलि समुद्घात संसार की विच्छित्ति का कारण होता है, यह भावार्थ हुआ।

व्यवहारनय की उपयोगिता— '[2]ये सब अध्यवसानादि भाव हैं, ऐसा जिनवरदेव ने उपदेश दिया है, वह व्यवहार नय का मत है।'

टीका[3] भाव— यह सब अध्यवसानादि भाव 'जीव हैं', ऐसा जो भगवान सर्वज्ञदेव ने कहा है, वह अभूतार्थ-असत्यार्थरूप व्यवहारनय का मत है क्योंकि वह व्यवहारी जीवों के लिए परमार्थ का कहने वाला है। जैसे— म्लेच्छभाषा से म्लेच्छों को समझाया जाता है, उसी प्रकार से अपरमार्थ होने पर भी धर्म-तीर्थ की प्रवृत्ति के लिए व्यवहारनय का वर्णन होना ठीक ही है। यदि उस व्यवहार को न कहें और परमार्थनय जीव को शरीर से भिन्न कहता है उसका ही एकांत कथन करें, तो 'त्रसस्थावर जीवों का घात नि:शंकरूप से करना ठहरेगा', जैसे— भस्म के मर्दन करने में हिंसा का अभाव है, उसी प्रकार उनके मारने में भी हिंसा नहीं सिद्ध होगी पुन: हिंसा का अभाव ठहरेगा, तब उनके घात होने से बंध का भी अभाव ठहरेगा। उसी प्रकार "रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्म से बंधता है, वह छुड़ाने योग्य हैं" ऐसा कहा गया है। परमार्थ से राग, द्वेष, मोह से जीव को भिन्न दिखलाने पर मोक्ष के उपाय का उपदेश व्यर्थ हो जायेगा, तब मोक्ष का भी अभाव ठहरेगा, इसलिए व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है।

"यदि[4] पुन: व्यवहार नय नहीं होगा, तब शुद्ध निश्चयनय से त्रसस्थावर जीव नहीं होते हैं, ऐसा मानकर लोग उनका नि:शंक होकर घात करेंगे। उससे पुण्यरूप धर्म का अभाव होना यह एक दूषण आयेगा। उसी प्रकार शुद्ध निश्चयनय से राग, द्वेष, मोह रहित जीव पूर्व में ही मुक्त हैं, ऐसा मानकर मोक्ष के लिए अनुष्ठान कोई भी नहीं करेगा और तब तो मोक्ष का ही अभाव हो जायेगा यह दूसरा दूषण आ जायेगा, इसलिए व्यवहारनय का व्याख्यान उचित ही है।"

शंका— पर का छेदन-भेदन करने से व्यवहार नय से ही हिंसा होती है न कि निश्चयनय से?

समाधान— "आपने[5] ठीक ही कहा है व्यवहार नय से ही हिंसा होती है और पाप बंध भी व्यवहारनय से ही होता है तथा नारकादि दुख भी व्यवहार से ही होता है। यह बात हमें इष्ट ही है।"

यदि वे नारकादि दु:ख आपको इष्ट हैं, तब तो हिंसा करो। यदि उन दु:खों से डरते हो तो छोड़ दो

---

१. जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति समयसार गाथा १७३ से १७६ तक आस्रवाधिकार।
२. ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादयो भावा।।४६।।-समयसार।
३. अमृतचन्द्रसूरिकृत, पृ. ८४।
४. जयसेनाचार्यकृत टीका, पृ. ८४।
५. जयसेनाचार्यकृत टीका. पृ. ४२५।

इसलिए यह बात निश्चित हो गई कि यह जीव एकान्त से कर्मों का अकर्ता नहीं है।

व्यवहारनय से जीव[1] में कर्म बंधे हैं निश्चयनय से नहीं बंधे हैं। ये दोनों ही विकल्पनय पक्ष हैं, जो इन नय पक्ष के विकल्पों से आगे बढ़ जाता है, वही आप निर्विकल्प एक विज्ञान घन स्वभाव होकर साक्षात् समयसार हो जाता है।

"जो[2] महामुनि नय के पक्षपात को छोड़कर अपने स्वरूप में गुप्त होकर निरन्तर स्थिर होते हैं, वे ही पुरुष विकल्पजाल से रहित शान्तचित्त हुए साक्षात् अमृत को पीते हैं।

वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान के द्वारा एक अन्तर्मुहूर्त में ही कर्मजाल नष्ट हो जाते हैं।

यदि[3] अर्धनिमिष मात्र काल भी कोई महामुनि परमात्मा में प्रीति को करता है, तो जैसे अग्नि की एक कणिका काष्ठ के पर्वत को भस्मसात् कर देती है, उसी प्रकार से अशेष भी पाप-समूह को समाप्त कर देता है' अर्थात् जो समस्त विकल्पजालों से — राग-द्वेषादि विभाव भावों से रहित होकर निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर परमात्मा का ध्यान करता है, वह शीघ्र ही कर्म समूह को समाप्त कर देता है।

निर्जरा के स्थान[4]

काललब्धि आदि की सहायता से परिणामों की विशुद्धि से वृद्धि को प्राप्त हुआ कोई भव्य, पंचेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्तक जीव क्रम से अधःकरण[5] आदि सोपान पंक्ति पर चढ़ता हुआ बहुतर कर्मों की निर्जरा करने वाला होता है।

१. सर्वप्रथम वही जीव प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति के निमित्त मिलने पर सम्यग्दृष्टि होता हुआ असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा करता है।

यह निर्जरा पूर्वोक्त सम्यक्त्व को प्राप्त करने के सन्मुख हुए और करणलब्धि को प्राप्त जीवों की अपेक्षा से असंख्यात गुणी मानी गई है।

२. पुनः वही जीव चारित्रमोहनीय के अप्रत्याख्यानावरण के क्षयोपशम से एकदेशव्रती श्रावक होता हुआ असंख्येयगुणी निर्जरा वाला होता है।

३. पुनः वही जीव प्रत्याख्यानावरण के क्षयोपशम से सकलचारित्र को प्राप्त हुआ विरत कहलाता हुआ असंख्यातगुणी अधिक निर्जरा करता है।

---

१. कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो।।-समयसार।

२. य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं, स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यं।
विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति।।-समयकलश।

३. जइ णि वसद्ध वि कु वि करइ परमप्पइ अणुराउ।
अग्गि कणी गिम कट्ठगिरी डहइ असेसु वि पाउ।।-परमात्मप्रकाश।

४. ये दश स्थान सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा हैं। अन्यत्र गोम्मटसार आदि में ११ स्थान भी माने हैं।

५. सम्यक्त्व के लिए जो करण होते हैं, वे यहाँ पर विवक्षित हैं।

४. पुनः वह जब अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ की विसंयोजना करता है तब श्रावक से असंख्यातगुणी अधिक निर्जरा करता है।

५. पुनः वही दर्शनमोहनीय त्रिकरूपी तृणसमूह को भस्मसात् करता हुआ दर्शन, मोह, क्षपक संज्ञा को प्राप्त होता हुआ असंख्यात गुण श्रेणी निर्जरा वाला होता है।

६. पुनः वही क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर श्रेणी पर चढ़ने के सन्मुख हुआ उपशम श्रेणी चढ़ता है, तब उससे असंख्यातगुणी अधिक निर्जरा करता है।

७. पुनः वही उपशांतकषायी होता हुआ असंख्यातगुणी निर्जरा करता है।

८. पुनः वही चारित्रमोहनीय की क्षपणा में उद्युक्त हुआ क्षपक कहलाता हुआ असंख्यातगुणी अधिक निर्जरा करता है।

९. पुनः क्षीणकषाय गुणस्थान में पहुँचकर असंख्यातगुणी निर्जरा करता है।

१०. पुनः वह ही घातिकर्म का नाश कर 'जिन' संज्ञा को प्राप्त होता हुआ पहले कही गई निर्जरा से असंख्येयगुणी निर्जरा वाला होता है।

अर्थात् सम्यक्त्व को प्राप्त करने के लिए सन्मुख हुए सातिशय मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि जीव की निर्जरा असंख्यात गुण श्रेणी अधिक कहलाती है। आगे-आगे असंख्यात गुण श्रेणी निर्जरा अधिक-अधिक होती जाती है।

केवलज्ञान[1] की उत्पत्ति— असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन चार गुणस्थानों में से किसी एक गुणस्थान में मोहनीय की सात प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने के सन्मुख होता हुआ अप्रमत्तसंयत (सप्तम) गुणस्थान में अधःप्रवृत्तकरण को प्राप्त होकर अपूर्वकरण गुणस्थान में नूतन परिणामों की विशुद्धि से पाप प्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग को कृश करके तथा शुभकर्मों के अनुभाग की वृद्धि करके अनिवृत्तिकरण की प्राप्ति द्वारा वहाँ पर आठ कषायों का नाश करके तथा नपुंसकवेद और स्त्रीवेद का क्रम से नाश करके, छह नोकषाय का पुरुषवेद में संक्रमण द्वारा नाश करके तथा पुरुषवेद का संज्वलन क्रोध में, क्रोध का संज्वलन मान में, मान का संज्वलन माया में और माया का संज्वलन लोभ में क्रम से बादर कृष्टि विभाग के द्वारा संक्रमण करके तथा लोभ संज्वलन को कृश करके 'सूक्ष्म सांपराय' गुणस्थान में पहुँचकर समस्त मोहनीय का निर्मूल नाश करके, क्षीण कषाय गुणस्थान में पहुँचकर उसके उपान्त्य समय में निद्रा और प्रचला का नाश करके तथा अन्तिम समय में पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय कर्मों का अन्त करके अपने आत्मस्वभावरूप केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

अर्थात् वीतराग निर्विकल्प त्रिगुप्ति समाधिरूप ध्यान के द्वारा मोहनीय कर्म का नाश हो जाता है। पहले दशवें गुणस्थान के अंत समय में मोहनीय का नाश होने के बाद यह जीव ग्यारहवें में न जाकर बारहवें

---

१. सर्वार्थसिद्धि पृ. ३५७।

गुणस्थान में पहुँच जाता है, वहाँ सम्पूर्ण मोहरहित, पूर्ण वीतरागी होता हुआ अन्त समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन घातिया कर्मों का नाश कर देता है, तब केवली बन जाता है।

नवकेवललब्धि— ज्ञानावरण के अभाव से क्षायिकज्ञान-अनन्तज्ञान प्रगट होता है, जिससे एक समय में सम्पूर्ण लोकालोक, त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों सहित ज्ञान में प्रतिबिम्बित होने लगता है।

दर्शनावरण के नाश से क्षायिक-अनन्त दर्शन प्रगट हो जाता है, जिससे वे सर्वदर्शी कहलाते हैं।

दानान्तराय के सर्वथा अभाव से अनन्त प्राणियों का उपकार करने वाला क्षायिक अभयदान होता है।

समस्त लाभान्तराय के क्षय से कवलाहार क्रिया से रहित केवलियों के क्षायिक लाभ होता है, जिससे उनके शरीर में बल प्रदान करने में कारणभूत, दूसरे मनुष्यों को असाधारण-कभी प्राप्त न होने वाले परम शुद्ध और सूक्ष्म, ऐसे अनन्त परमाणु प्रति समय संबंध को प्राप्त होते हैं।

समस्त भोगान्तराय के नाश से अतिशय वाले ऐसे क्षायिक अनन्त भोग का प्रादुर्भाव होता है, जिससे कुसुमवृष्टि आदि आश्चर्य विशेष होते हैं।

समस्त उपभोगान्तराय के क्षय हो जाने से अनन्त क्षायिक उपभोग होता है, जिससे सिंहासन, चामर और तीन छत्र आदि विभूतियाँ होती हैं।

वीर्यान्तराय के क्षय से क्षायिक अनन्तवीर्य प्रगट होता है।

अनन्तानुबंधी आदि सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व प्रगट होता है।

चारित्र मोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों के अत्यन्त विनाश से क्षायिक चारित्र प्रगट होता है।

ये अभयदानादि कार्य शरीर नामकर्म और तीर्थंकर नामकर्म की अपेक्षा रखते हैं अत: "सिद्धों[1] में ये कार्यरूप न होकर केवलज्ञानरूप से अनन्तवीर्य के सदृश परमानन्द के अव्याबाधरूप में ही इनका सद्भाव रहता है।

केवली भगवान इन नवकेवललब्धियों के स्वामी होते हैं। इन्द्रों द्वारा समवसरण की रचना हो जाती है और अधिक से अधिक कुछ कम कोटि पूर्व वर्ष तक इस पृथ्वी तल पर विहार करते हैं। केवलज्ञान होते ही भगवान इस पृथ्वीतल से ५००० हजार धनुष ऊपर चले जाते हैं, वहीं सिंहासन पर चार अंगुल अधर विराजमान रहते हैं। विहार के समय देवगण भगवान के चरण कमलों के नीचे स्वर्णमय कमलों की रचना करते जाते हैं और भी महान् अचिन्त्य वैभव होते हैं।

अनन्तर भगवान योग निरोध करके ध्यान में लीन हो जाते हैं। उस समय समवसरण विघटित हो जाता है।

मोक्ष की प्राप्ति— "बंध[2] के हेतुओं का अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।" मिथ्यादर्शनादि बंध हेतुओं का अभाव होने से नूतन कर्मों का अभाव होता है और निर्जरारूप हेतु के मिलने पर अर्जित कर्मों का नाश हो जाता है। समस्त कर्मों का आत्यन्तिक वियोग हो जाना मोक्ष है।

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक पृ. १०६।

२. बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः। (तत्त्वार्थ सूत्र)

अयोगकेवली गुणस्थान के उपान्त्य समय में यह जीव ७२ प्रकृतियों का विनाश करके शेष १३ प्रकृतियों[१] का अन्त समय में नाश कर देता है।

मोक्ष में जीवत्व, सम्यक्त्व, केवलज्ञान और केवलदर्शन तथा सिद्धत्व, ये पाँच भाव पाये जाते हैं। शेष भावों का अभाव हो जाता है।

कर्म सिद्धान्त

जिनके द्वारा आत्मा को परतंत्र किया जाये, उसे कर्म कहते हैं। जीव और कर्म का अनादिकाल से संबंध है और इन दोनों का अस्तित्व स्वत: सिद्ध है।

जीव कर्म का कैसे ग्रहण करता है?— यह जीव शरीर नामकर्म से सहित होकर कर्म और नोकर्म वर्गणाओं को प्रति समय सम्पूर्ण तथा चारों तरफ से ग्रहण करता है जैसे कि अग्नि से तपा हुआ लोहे का गोला पानी को सब ओर से अपनी तरफ खींचता है।

एक समय में कितने पुद्गल परमाणु कर्मरूप होते हैं?— यह जीव एक समय में सिद्ध राशि के अनन्तवें भाग और अभव्य राशि के अनन्तगुणे, ऐसे अनंत पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करता है। एक समय में ग्रहण करने से 'समयप्रबद्ध' कहते हैं। यह सामान्य कथन है। योगों से कुछ विसदृशता भी हो जाती है।

एक समय में कितने कर्म खिरते हैं— एक-एक समय में कर्म परमाणु एक-एक समयप्रबद्ध फल देकर खिर जाया करते हैं। कदाचित् कुछ तपश्चरण आदि के निमित्त से अनेक समयप्रबद्ध भी एक समय में झड़ जाया करते हैं। फिर भी कुछ कम डेढ़ गुणहानि प्रमाण समयप्रबद्ध कर्म सत्ता में अवस्थित रहा ही करते हैं।

कर्म कितने हैं?— सामान्यपने से कर्म एक है, उसमें भेद नहीं है। द्रव्य-भाव के भेद से दो भेद हैं। उसमें ज्ञानावरणादि रूप पुद्गल द्रव्य का पिण्ड 'द्रव्यकर्म' है और द्रव्यपिण्ड में फल देने की जो शक्ति है वह 'भावकर्म' है अथवा कार्य में कारण का व्यवहार होने से उस शक्ति से उत्पन्न हुए जो अज्ञानादि व क्रोधादिरूप परिणाम हैं, वे भी भावकर्म हैं।

कर्म के सामान्य से आठ भेद हैं अथवा एक सौ अड़तालीस या असंख्यात लोकप्रमाण भी उसके भेद होते हैं।

उन आठ कर्मों के घातिया और अघातिया से दो भेद हैं।

आठ कर्म के नाम— ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। घातिकर्म— ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय। अघातिकर्म— वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र।

घातिया कर्म का लक्षण— जो जीव के केवलज्ञान आदि क्षायिकभाव और क्षायोपशमिक भावों का घात करे।

अघाति कर्म का लक्षण— जो जीव के गुणों का पूर्णतया घात न करे।

---

१. जिनके तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं है, उनके १२ प्रकृति ही यहाँ पर नष्ट होती हैं।

आठ कर्मों का स्वभाव

ज्ञानावरण— जो आत्मा के ज्ञान गुण को ढके-प्रकट न होने दे, जैसे— देवता के मुख पर पड़ा हुआ वस्त्र।

दर्शनावरण— जो आत्मा का दर्शन न होने दे, जैसे— राजा का पहरेदार।

वेदनीय— जो जीव को सुख-दु:ख का वेदन-अनुभव करावे, जैसे— शहद लपेटी तलवार की धार।

मोहनीय— जो आत्मा को मोहित— अचेतन करे, जैसे— मदिरापान।

आयु— जो जीव को उस-उस स्थान में— पर्याय में रोक रखे, जैसे— सांकल अथवा काठ का यंत्र।

नामकर्म— जो अनेक तरह के शरीर की रचना करे, जैसे— चित्रकार।

गोत्रकर्म— जो ऊँच-नीचपने को प्राप्त करावे, जैसे— कुम्भकार।

अन्तराय— जो दाता और पात्र में अन्तर— व्यवधान करे, जैसे— भंडारी दूसरे के लिए दान देते समय राजा को रोक देता है।

आठ कर्मों के उत्तर भेद— ज्ञानावरण के ५, दर्शनावरण के ९, वेदनीय के २, मोहनीय के २८, आयु के ४, नाम के ९३, गोत्र के २ और अन्तराय के ५, ऐसे कुल ५+९+२+२८+४+९३+२+५=१४८ भेद होते हैं।

ज्ञानावरण के पाँच भेद

मतिज्ञानावरण— जो जीव के मतिज्ञान को आवृत करे-ढके।

श्रुतज्ञानावरण— जो श्रुतज्ञान का आवरण करे।

अवधिज्ञानावरण— जो अवधिज्ञान का आवरण करे।

मन:पर्ययज्ञानावरण— जो मन:पर्याय ज्ञान का आवरण करे।

केवलज्ञानावरण— जो जीव के पूर्णज्ञान को प्रकट न होने दे।

दर्शनावरण के नौ भेद

१. **चक्षुदर्शनावरण—** जो चक्षु से दर्शन नहीं होने देवे।

२. **अचक्षुदर्शनावरण—** जो नेत्र के सिवाय दूसरी चारों इन्द्रियों से सामान्यावलोकन नहीं होने देवे।

३. **अवधिदर्शनावरण—** जो अवधि द्वारा दर्शन न होने देवे।

४. **केवलदर्शनावरण—** जो त्रिकाल में रहने वाले सब पदार्थों के दर्शन का आवरण करे।

५. **निद्रादर्शनावरण—** जिसके उदय से मद, खेद आदि दूर करने के लिए केवल सोना हो।

६. **निद्रानिद्रा—** जिसके उदय से, गहरी निद्रा से आँख की पलक नहीं उघाड़ सके।

७. **प्रचलादर्शनावरण—** जिसके उदय से शरीर की क्रिया आत्मा को चलावे, निद्रा में कुछ काम करे,

उसकी याद भी रहे।

८. प्रचलाप्रचला— जिसके उदय से मुख से लार बहती रहे, हाथ वगैरह अंग चलते रहें।

९. स्त्यानगृद्धि— जिसका उदय होने पर यह जीव नींद में ही उठकर बहुत पराक्रम का तो काम करे, परन्तु जाग्रत होने पर उसे भान नहीं रहे कि क्या किया था, उसे स्त्यानगृद्धि निद्रा कहते हैं।

वेदनीय के दो भेद

सातावेदनीय— जिसके उदय से देवादि गति में जीव को शारीरिक तथा मानसिक सुखों की प्राप्तिरूप साता का वेदन— अनुभव होवे।

असातावेदनीय— जिसके उदय से अनेक प्रकार के नरकादि गति के दु:खों का अनुभव होवे।

मोहनीय कर्म के अट्ठाईस भेद

मोहनीय के मूल में दो भेद हैं— दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय।

दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं— मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति।

मिथ्यात्वकर्म— जिसके उदय से मिथ्या श्रद्धान हो, सर्वज्ञकथित वस्तु के यथार्थ स्वरूप में रुचि न हो।

सम्यक्मिथ्यात्व— जिसके उदय से परिणामों में वस्तु का यथार्थ श्रद्धान और अयथार्थ श्रद्धान दोनों ही मिले हुए हों।

सम्यक्प्रकृति— जिसके उदय से जीव के सम्यक्त्व गुण का घात तो न हो परन्तु परिणामों में चल, मलिन दोष आ जावें, उसे सम्यक्प्रकृति कहते हैं। यह प्रकृति मिथ्यात्व प्रकृति का कुछ धुला हुआ अंश है।

चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं— कषाय वेदनीय, नोकषाय वेदनीय।

कषाय के सोलह भेद हैं— अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन इनके क्रोध, मान, माया और लोभ, ऐसे चार-चार भेद कर देने से सोलह भेद हो जाते हैं।

अनन्तानुबंधी क्रोध— अनन्त नाम संसार का है और उसका जो कारण है, वह अनन्तानुबंधी है, जिसके उदय से अनन्त संसार के लिए कारणभूत क्रोध उत्पन्न होवे, वह अनन्तानुबंधी क्रोध है।

अनन्तानुबंधी मान— जिसके उदय से अनन्त संसार के लिए कारणभूत मान कषाय उत्पन्न होवे।

अनन्तानुबंधी माया— जिसके उदय से विशेष मायाचार प्रवृत्ति हो।

अनन्तानुबंधी लोभ— जिसके उदय से तीव्र लोभ बना रहे। यह अनन्तानुबंधी कषाय सम्यक्त्वगुण का घात करती है।

अप्रत्याख्यानावरण— जो 'अ' अर्थात् 'ईषत्' — थोड़े से भी प्रत्याख्यान— त्याग को न होने देवे- एकदेशव्रत को भी न होने देवे, उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं। यह कषाय जीव के अणुव्रतों को नहीं होने देती। इसके भी क्रोध, मान आदि चारों भेद घटित कर लेना चाहिए।

प्रत्याख्यानावरण— जिसके उदय से प्रत्याख्यान-पूर्ण त्याग का आवरण हो, महाव्रत नहीं हो सकें। इसके भी क्रोध आदि चारों भेद होते हैं।

संज्वलन— जिसके उदय से 'सं' एकरूप होकर 'ज्वलति' — प्रकाश करे, जिसके उदय से कषाय अंश से मिला हुआ संयम रहे। कषाय रहित निर्मल यथाख्यात संयम न हो सके। इसमें भी क्रोध आदि चारों भेद होते हैं, इस प्रकार से कषाय वेदनीय के १६ भेद कहे।

नव नोकषाय— जो 'नो' ईषत्— थोड़ा हो-प्रबल न हो, उसे नोकषाय कहते हैं।

हास्य— जिसके उदय से हास्य प्रकट हो।

रति— जिसके उदय से देश, धन, पुत्रादि में विशेष प्रीति हो।

अरति— जिसके उदय से देश आदि में अप्रीति हो।

शोक— जिसके उदय से इष्ट के वियोग होने पर क्लेश हो।

भय— जिसके उदय से उद्वेग हो।

जुगुप्सा— जिसके उदय से ग्लानि या अपने दोष को ढंकना और दूसरे के दोष को प्रकट करना हो।

स्त्रीवेद— जिसके उदय से स्त्री संबंधी भाव, मायाचार की अधिकता, नेत्र विभ्रम आदि द्वारा पुरुष के साथ रमने की इच्छा हो।

पुरुषवेद— जिसके उदय से स्त्री में रमण की इच्छा आदि परिणाम हों।

नपुंसकवेद— जिसके उदय से स्त्री-पुरुष दोनों में रमण करने की इच्छा आदि मिश्रित भाव हों।

इस तरह से नव नोकषाय और सोलह कषाय मिलकर पच्चीस भेद चारित्र मोहनीय के और तीन दर्शन मोहनीय के सब मिलकर मोहनीय के अट्ठाइस भेद हो जाते हैं।

आयु के चार भेद

नरकायु— जो आत्मा को नरक शरीर में रोक रखे।

तिर्यञ्चायु— जो आत्मा को तिर्यञ्च पर्याय में रोक रखे।

मनुष्यायु— जो आत्मा को मनुष्य शरीर में रोक रखे।

देवायु— जो आत्मा को देव शरीर में रोक रखे।

नामकर्म के तिरानवे भेद

गतिनामकर्म— जिसके उदय से यह जीव एक पर्याय से दूसरी पर्याय को 'गच्छति' प्राप्त हो, वह गति नामकर्म है। उसके चार भेद हैं— जिसके उदय से जीव नारकी के आकार, तिर्यंच शरीराकार, मनुष्य शरीराकार हो, उसे क्रम से नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति तथा देवगति कहते हैं।

जाति नामकर्म— जो उन गतियों में अव्यभिचारी-सदृश धर्म से जीवों को इकट्ठा करे। एकेन्द्री,

दोइन्द्री आदि जीव समान स्वरूप होकर आपस में एक-दूसरे से मिलते नहीं, यह तो अव्यभिचारीपना और एकेन्द्रियपना सब एकेन्द्रियों में सदृश है यह हुआ सदृशपना, यह अव्यभिचारी धर्म एकेन्द्रियादि जीवों में रहता है अत: एकेन्द्रियादि जाति शब्द से कहे जाते हैं।

जातिकर्म के पाँच भेद हैं— जिसके उदय से यह आत्मा एकेन्द्री, दोइन्द्री, तेइन्द्री, चौइन्द्री अथवा पंचेन्द्री कही जाये, उसे क्रम से एकेन्द्रीजाति, दो इन्द्रीजाति, तीन इन्द्रीजाति, चार इन्द्रीजाति तथा पंचेन्द्रीजाति नामकर्म कहते हैं।

शरीर नामकर्म— जिसके उदय से शरीर बने। शरीर के पाँच भेद हैं— जिसके उदय से औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर उत्पन्न हो, उसे क्रम से औदारिक शरीर, वैक्रियिक, शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर तथा कार्मण शरीर कहते हैं।

बंधन नामकर्म— शरीर नामकर्म के उदय से जो आहार वर्गणारूप पुद्गल स्कंध इस जीव ने ग्रहण किये थे, उन पुद्गल स्कंध के प्रदेशों का जिस कर्म के उदय से आपस में संबंध हो, उसे बंधन कहते हैं। उसके औदारिक बंधन, वैक्रियिक बंधन, आहारक बंधन, तैजस बंधन, कार्मण बंधन, ऐसे पाँच भेद हैं।

संघात नामकर्म— जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों के परमाणु आपस में मिलकर छिद्र रहित बंधन को प्राप्त होकर एक रूप हो जावें, उसे संघात नामकर्म कहते हैं। इसके भी औदारिक संघात, वैक्रियिक संघात, आहारक संघात, तैजस संघात, कार्मण संघात, इस तरह पाँच भेद हैं।

संस्थान नामकर्म— जिस कर्म के उदय से शरीर का आकार बने। उसके छह भेद हैं—

समचतुरस्र संस्थान— जिसके उदय से अंगोपांगों की लम्बाई, चौड़ाई सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार ठीक-ठीक बनी हों।

न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान— जिसके उदय से शरीर का आकार न्यग्रोध के (वट वृक्ष के) सरीखा नाभि के ऊपर मोटा और नाभि से नीचे पतला हो।

स्वाति संस्थान— जिसके उदय से स्वाति नक्षत्र के अथवा सर्प की वामी के समान ऊपर से पतला और नाभि के नीचे मोटा हो।

कुब्जक संस्थान— जिसके उदय से कुबड़ा शरीर हो।

वामन संस्थान— जिसके उदय से बौना शरीर हो।

हुंडक संस्थान— जिस कर्म के उदय से शरीर के अंगोपांग किसी खास शक्ल के न हो।

अंगोपांग— जिसके उदय से अंग-उपांगों का भेद हो, उसके तीन भेद हैं— औदारिक अंगोपांग, वैक्रियिक अंगोपांग, आहारक अंगोपांग।

संहनन नामकर्म— जिसके उदय से हाड़ों के बंधन में विशेषता हो। संहनन के छह भेद हैं—

वज्रर्षभनाराच संहनन— जिस कर्म के उदय से ऋषभ (बेठन), नाराच (कीला), संहनन (हाड़ों

का समूह) वज्र के समान हो अर्थात् इन तीनों का किसी से छेदन-भेदन न हो सके।

वज्रनाराच संहनन— जिसके उदय से शरीर में वज्र के हाड़ और वज्र की कीली हों परन्तु बेठन वज्र के न हों।

नाराच संहनन— जिसके उदय से शरीर में वज्र रहित बेठन और कीली सहित हाड़ हों।

अर्धनाराच संहनन— जिसके उदय से हाड़ों की सन्धियाँ आधी कीलित हों।

कीलित संहनन— जिसके उदय से हाड़ परस्पर कीलित हों।

असंप्राप्त सृपाटिका संहनन— जिसके उदय से जुदे-जुदे हाड़ नसों से बंधे हों-परस्पर में कीले हुए न हों।

वर्ण नामकर्म— जिसके उदय से शरीर में वर्ण हो, उसके पाँच भेद हैं— कृष्ण, नील, रक्त, पीत, श्वेत।

गंध नामकर्म— जिसके उदय से शरीर में गंध हो। गंध के दो भेद हैं— सुरभिगंध, असुरभिगंध।

रस नामकर्म— जिसके उदय से शरीर में रस हो, उसके पाँच भेद हैं— तिक्तरस, कटुरस, कषायरस, आम्लरस, मधुरस।

स्पर्श नामकर्म— जिसके उदय से शरीर में स्पर्श हो, उसके आठ भेद हैं— कर्कशस्पर्श, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष।

आनुपूर्व्य नामकर्म— जिसके उदय से विग्रह गति में मरण से पहले के शरीर के आकार से आत्मा के प्रदेश बने रहे अर्थात् पहले शरीर के आकार का नाश न हो। उसके चार भेद हैं—

नरकगति प्रायोग्यानुपूर्व्य— जिसके उदय से नरकगति को प्राप्त होने के सन्मुख जीव के शरीर का आकार विग्रह गति में पूर्व शरीराकार का रहे। इसी प्रकार तिर्यञ्चगति प्रायोग्यानुपूर्व्य, मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्व्य, देवगति प्रायोग्यानुपूर्व्य में भी समझना।

अगुरुलघुनामकर्म— जिस कर्म के उदय से, ऐसा शरीर मिले जो लोहे के गोले की तरह भारी न हो, आक की रुई की तरह हल्का न हो।

उपघात— जिसके उदय से बड़े सींग अथवा मोटा पेट इत्यादि अपने ही घातक अंग हों।

परघात— जिसके उदय से तीक्ष्ण सींग, नख, सर्प आदि की दाढ़ इत्यादि पर के घात करने वाले शरीर के अवयव हों।

उच्छ्वास— जिस कर्म के उदय से श्वासोच्छ्वास हो।

आतप— जिसके उदय से पर को आताप करने वाला शरीर हो।

यह आतप नामकर्म का उदय सूर्यबिंब के विमान के पृथ्वीकायिक बादर जीव के रहता है, उसके मात्र किरणों में ही उष्णता रहती है, मूल में नहीं।

उद्योत— जिस कर्म के उदय से प्रकाशरूप शरीर हो। यह उद्योत कर्म चन्द्रबिंब के विमान में स्थित

एकेन्द्रिय बादर पृथ्वीकायिक जीव के होता है जुगनू आदि के भी इस कर्म का उदय रहता है।

विहायोगति— जिसके उदय से आकाश में गमन हो, उसके दो भेद हैं— प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्तविहायोगति।

त्रसनामकर्म— जिसके उदय से दो इन्द्रियादि जीवों की जाति में जन्म हो।

बादर— जिसके उदय से ऐसा शरीर हो, जो कि दूसरे को रोके और दूसरे से आप रुके।

पर्याप्ति— जिसके उदय से जीव अपने-अपने योग्य आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इन पर्याप्तियों को पूर्ण करे।

प्रत्येक— जिसके उदय से एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो।

स्थिर— जिसके उदय से शरीर के रसादि धातु और वात, पित्त आदि धातु, उपधातु अपने-अपने ठिकाने पर स्थिर रहें। इससे शरीर में रोग शांत रहता है।

शुभ नामकर्म— जिसके उदय से मस्तक वगैरह शरीर के अवयव और शरीर सुन्दर हो।

सुभग— जिस कर्म के उदय से दूसरे जीवों को अच्छा लगने वाला शरीर हो।

सुस्वर— जिसके उदय से अच्छा स्वर हो।

आदेय— जिसके उदय से कांति सहित शरीर हो।

यशस्कीर्ति— जिसके उदय से अपना पुण्य गुण जगत् में प्रगट हो।

निर्माण— जिसके उदय से शरीर के अंगोपांगों की रचना ठीक-ठीक हो।

तीर्थंकर— जो श्रीमत् अर्हंत पद का कारण हो। इस प्रकृति के बंध हो जाने से जीव तीनों लोकों में आश्चर्य और क्षोभ उत्पन्न करने वाला महान् भगवान कहलाता है।

स्थावर— जिसके उदय से एकेन्द्रिय (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति) में जन्म हो।

सूक्ष्म— जिसके उदय से ऐसा सूक्ष्म शरीर हो, जो कि न तो किसी को रोके और न किसी से रुके।

अपर्याप्त— जिसके उदय से कोई भी पर्याप्ति पूर्ण न हो अर्थात् लब्ध्यपर्याप्त अवस्था हो।

साधारण— जिस कर्म के उदय से एक शरीर के अनेक जीव स्वामी हों।

अस्थिर— जिसके उदय से धातु और उपधातु अपने-अपने ठिकाने न रहें। इससे शरीर रुग्ण रहता है।

अशुभ— जिससे शरीर के मस्तक आदि अवयव सुन्दर न हों।

दुर्भग— जिसके उदय से रूपादिगुण सहित होने पर भी दूसरे को अच्छा न लगे।

दुःस्वर— जिसके उदय से स्वर अच्छा न हो।

अनादेय— जिसके उदय से प्रभा रहित शरीर हो।

अयशःकीर्ति— जिसके उदय से संसार में जीव की प्रशंसा न हो।

इस प्रकार से नामकर्म के ९३ भेद हुए।

गोत्र के दो भेद—

उच्चगोत्र— जिसके उदय से लोक पूजित कुल में जन्म हो।

नीचगोत्र— जिसके उदय से लोक निंदित कुल में जन्म हो।

अन्तराय के पाँच भेद—

दानांतराय— जिसके उदय से दान देना चाहे परन्तु न दे सके।

लाभान्तराय— जिसके उदय से लाभ की इच्छा होते हुए भी लाभ न हो सके।

भोगांतराय— जिसके उदय से पुष्पादि और अन्नादि वस्तुओं को भोगना चाहे परन्तु भोग न सके।

उपभोगान्तराय— जिसके उदय से स्त्री आदि उपभोग वस्तु का उपभोग न कर सके।

वीर्यान्तराय— जिसके उदय से अपनी शक्ति प्रगट करना चाहे परन्तु प्रगट न कर सके।

इस प्रकार आठ कर्मों के १४८ भेद होते हैं।

पुण्य पाप प्रकृतियाँ— इन कर्मों में प्रशस्त अप्रशस्त, ऐसे दो भेद भी होते हैं—जो प्रकृतियाँ सांसारिक सुख देवे, वे पुण्य प्रकृतियाँ हैं एवं अशुभ फल देने वाली पाप प्रकृतियाँ हैं।

पुण्य प्रकृतियाँ— १ साता वेदनीय, ३ तिर्यंच, मनुष्य, देवायु, १ उच्चगोत्र, २ मनुष्यजाति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, २ देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, १ पंचेन्द्रिजाति, ५ शरीर, ५ बंधन, ५ संघात, ३ अंगोपांग, २० शुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, १ समचतुरस्रसंस्थान, १ वज्रर्षभनाराच संहनन, उपघात के बिना अगुरुलघु आदि ६, १ प्रशस्तविहायोगति और त्रस आदि १२, इस प्रकार से ६८ प्रकृतियाँ पुण्यरूप हैं।

पाप प्रकृतियाँ— चारों घातिया कर्मों की प्रकृतियाँ ४७, १ नीचगोत्र, १ असातावेदनीय, १ नरकायु, २ नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, २ तिर्यंचगति, तिर्यंचायु, ४ एकेन्द्रियादि जाति, समचतुरस्र को छोड़कर ५ संस्थान, पहले संहनन के सिवाय ५ संहनन, अशुभ वर्ण, रस, गंध, स्पर्श ये २०, १ उपघात, १ अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर आदि १०, ये १०० पाप प्रकृतियाँ हैं। इस प्रकार ६८+१००=१६८ भेद हो गये। पहले १४८ प्रकृतियाँ ही गिनाई हैं। मतलब यह है कि स्पर्श, रस, गंध और वर्ण की जो बीस प्रकृतियाँ हैं, वे पुण्य और पाप दोनों में सम्मिलित हो जाती हैं।

कषायों का वासनाकाल— संज्वलन कषायों की वासना का काल, अन्तर्मुहूर्त, प्रत्याख्यान का पन्द्रह दिन, अप्रत्याख्यान का छह महीना तथा अनन्तानुबंधी का संख्यात, असंख्यात और अनन्तभव समझना।

वासना का लक्षण— किसी ने क्रोध किया, पीछे वह दूसरे काम में लग गया, वहाँ पर क्रोध का उदय नहीं है, परन्तु जिस पुरुष पर क्रोध किया था उस पर क्षमा भी नहीं है, इस प्रकार जो क्रोध का संस्कार चित्त में बैठा हुआ है, उसी की वासना का काल यहाँ पर कहा गया है।

कर्म के करण

करण— हर एक प्रकृति के दश करण (अवस्थाएं) होते हैं, उन्हीं का नाम करण हैं। उनके नाम— बंध, उत्कर्षण, संक्रमण, अपकर्षण, उदीरणा, सत्त्व, उदय, उपशम, निधत्ति और निकाचना।

बंध— कर्मों का आत्मा से संबंध होना अर्थात् मिथ्यात्वादि परिणामों से जो पुद्गल द्रव्य का ज्ञानावरणादिरूप होकर परिणमन करना, जो कि ज्ञानादि का आवरण करता है, वह बंध है।

उत्कर्षण— जो कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग का बढ़ना है, वह उत्कर्षण है।

संक्रमण— बंधरूप प्रकृति का दूसरी प्रकृतिरूप परिणमन कर जाना।

अपकर्षण— स्थिति तथा अनुभाग का कम हो जाना।

उदीरणा— उदयकाल के बाहर स्थित अर्थात् जिसके उदय का अभी समय नहीं आया है, ऐसा जो कर्म द्रव्य उसको अपकर्षण के बल से उदयावली काल में प्राप्त करना उदीरणा है।

सत्त्व— पुद्गल का कर्मरूप रहना सत्त्व है।

उदय— कर्म का अपनी स्थिति को प्राप्त होना अर्थात् फल देने का समय प्राप्त हो जाना उदय है।

उपशान्त— जो कर्म उदयावली से प्राप्त न किया जाये अर्थात् उदीरणा अवस्था को प्राप्त न हो सके, वह उपशान्तकरण है।

निधत्ति— जो कर्म उदयावलि में भी प्राप्त न हो सके और संक्रमण अवस्था को भी प्राप्त न हो सके, उसे निधत्तिकरण कहते हैं।

निकाचना— जिस कर्म की उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण, ये चारों ही अवस्थाएं न हो सकें, उसे निकाचितकरण कहते हैं।

यह निकाचित कर्म प्रायः फल देकर ही छूटता है, इसके बंध में कारण बतलाये गये हैं कि देव, शास्त्र गुरु की आसादना आदि करने से ऐसी जाति का कर्म बंध जाता है।

इन कर्मों की बंध, उदय और सत्त्व अवस्थाएं अधिक प्रसिद्ध हैं।

बंधयोग्य प्रकृतियाँ—५ बंधन, ५ संघात ये ५ शरीर के साथ अविनाभावी हैं अतः इन्हें शरीर में सम्मिलित कर दीजिए, तब १५-१०=५ ही रह गई, दस घट गई। ५ वर्ण, ५ रस, २ गंध और ८ स्पर्श इन २० को ८ में ही शामिल कर दीजिए तथा दर्शन मोहनीय के ३ भेद में मिथ्यात्व का ही बंध होता है। सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति का बंध नहीं होता है अतः ये दो घट गईं, मतलब १०+१६+२=२८, १४८-२८ घटने से १२० प्रकृतियाँ ही बंध योग्य हैं।

उदय योग्य प्रकृतियाँ— बंध योग्य १२० में सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति मिला देने से १२२ प्रकृतियाँ उदय योग्य होती हैं।

सत्त्व प्रकृतियाँ— ऊपर से कही हुई १४८ प्रकृतियाँ सभी सत्ता में रहने योग्य हैं।

गुणस्थान, मार्गणाओं की अपेक्षा इन प्रकृतियों का बंध, उदय, सत्त्व विशेष रूप से गोम्मटसार कर्मकाण्ड और पंचसंग्रह आदि ग्रंथों से समझना चाहिए।

आठों कर्मों के आस्रव

ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म के आस्रव— ज्ञान और दर्शन में किये गये प्रदोष, निन्हव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात, ये ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्म के आस्रव हैं।

प्रदोष— किसी धर्मात्मा के द्वारा की गई तत्त्वज्ञान की प्रशंसा का नहीं सुहाना प्रदोष है।

निन्हव— किसी कारण से ज्ञान को छुपाना निन्हव है।

मात्सर्य— वस्तु स्वरूप को जानकर यह भी पण्डित हो जावेगा, ऐसा विचार कर किसी को न पढ़ाना मात्सर्य है।

अन्तराय— किसी के ज्ञानाभ्यास में विघ्न डालना अन्तराय है।

आसादन— दूसरे के द्वारा प्रकाशित होने योग्य ज्ञान को रोक देना आसादन है।

उपघात— सच्चे ज्ञान में दोष लगाना उपघात है।

वेदनीय के आस्रव— निज पर तथा दोनों के विषय में स्थित दु:ख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिवेदन, ये असाता वेदनीय के आस्रव हैं।

दु:ख— पीड़ारूप परिणाम विशेष को दु:ख कहते हैं।

शोक— अपना उपकार करने वाले पदार्थ का वियोग होने पर विकलता होना शोक है।

ताप— संसार में अपनी निन्दा आदि के हो जाने से पश्चात्ताप करना ताप है।

आक्रन्दन— पश्चात्ताप से अश्रुपात करते हुए रोना आक्रन्दन है।

वध— आयु आदि प्राणों का वियोग करना वध है।

परिदेवन— संक्लेश परिणामों का अवलम्बन कर इस तरह रोना कि सुनने वाले के हृदय में दया उत्पन्न हो जावे, सो परिदेवन है।

यद्यपि शोक आदि दु:ख के ही भेद हैं तथापि दु:ख की जातियाँ बतलाने के लिए सबका ग्रहण किया है।

साता वेदनीय के आस्रव— भूतव्रात्यनुकम्पा, दान, सराग संयमादि, योग, क्षान्ति, शौच तथा अर्हद्भक्ति आदि ये साता वेदनीय के आस्रव हैं।

भूतव्रात्यनुकम्पा— भूत-संसार के समस्त प्राणी पर दया करना भूतानुकम्पा और व्रती, अणुव्रती या महाव्रती जीवों पर दया करना, सो व्रात्यनुकम्पा है।

दान— निज और पर के उपकार योग्य वस्तु के देने को दान कहते हैं।

सराग संयमादि— पाँच इन्द्रिय और मन के विषयों से विरक्त होने तथा छह काय के जीवों की हिंसा

न करने को संयम कहते हैं और राग सहित संयम को सराग संयम कहते हैं।

यहाँ आदि शब्द से संयमासंयम (श्रावक के व्रत), अकाम निर्जरा (बन्दीखाने आदि में संक्लेश रहित भोगोपभोग का त्याग करना) और बालतप-(मिथ्यादर्शन सहित तपस्या करना) का भी ग्रहण होता है।

योग— इन सबको अच्छी तरह धारण करना योग कहलाता है।

क्षान्ति— क्रोधादि कषाय के अभाव को क्षान्ति कहते हैं।

शौच— लोभ का त्याग करना शौच है।

इति शब्द से अर्हद्भक्ति, मुनियों की वैयावृत्ति आदि का ग्रहण करना चाहिए।

दर्शन मोहनीय का आस्रव— केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव इनका अवर्णवाद करना दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव है।

अवर्णवाद— गुणवानों को झूठे दोष लगाना, सो अवर्णवाद है।

केवली का अवर्णवाद— केवली ग्रासाहार करके जीवित रहते हैं इत्यादि कहना, सो केवली का अवर्णवाद है।

श्रुत का अवर्णवाद— शास्त्र में मांस भक्षण करना आदि लिखा है, ऐसा कहना श्रुत का अवर्णवाद है।

संघ का अवर्णवाद— ये साधु शूद्र हैं, मलिन हैं, निन्द्य हैं, नग्न हैं इत्यादि कहना संघ का अवर्णवाद है।

धर्म का अवर्णवाद— जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए धर्म में कुछ भी गुण नहीं है, उसके सेवन करने वाले असुर होवेंगे, इत्यादि कहना धर्म का अवर्णवाद है।

देव का अवर्णवाद— देव मदिरा पीते हैं, मांस खाते हैं, जीवों की बलि से प्रसन्न होते हैं आदि कहना देव का अवर्णवाद है।

चारित्र मोहनीय के आस्रव— कषाय के उदय से होने वाले तीव्र परिणाम चारित्र मोहनीय के आस्रव हैं।

नरक आयु के आस्रव— बहुत आरंभ और परिग्रह का होना नरक आयु का आस्रव है।

तिर्यंच आयु के आस्रव— माया, छल-कपट करना तिर्यंच आयु का आस्रव है।

मनुष्य आयु का आस्रव— थोड़ा आरंभ और थोड़ा परिग्रह का होना मनुष्य आयु का आस्रव है। स्वभाव से ही सरल परिणामी होना भी मनुष्य आयु का आस्रव है।

सब आयुओं का आस्रव— दिग्व्रतादि ७ शील और अहिंसा आदि पाँच व्रतों का अभाव भी समस्त आयुओं का आस्रव है।

शील और व्रत का अभाव रहते हुए जब कषायों में अत्यन्त तीव्रता, तीव्रता, मन्दता और अत्यन्त मन्दता होती है, तभी वे क्रम से चारों आयुओं के आस्रव के कारण होते हैं।

देव आयु का आस्रव— सरागसंयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा और बाल तप, ये देव आयु के आस्रव हैं।

सम्यग्दर्शन से भी देवायु का आस्रव होता है।

सम्यग्दर्शन से वैमानिक देवों का आस्रव ही होता है अन्य देवों का नहीं। यद्यपि सम्यग्दर्शन किसी आस्रवरूप नहीं है, तो भी उसके साथ जो रागांश है, उससे बंध होता है।

अशुभ नामकर्म का आस्रव— योगवक्रता और विसंवाद से अशुभकर्म का आस्रव होता है।

शुभ नामकर्म का आस्रव— योगवक्रता और विसंवाद के विपरीत अर्थात् योगों की सरलता और अन्यथा प्रवृत्ति का अभाव ये शुभ नामकर्म के आस्रव हैं।

तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव

१. **दर्शनविशुद्धि**— पच्चीस दोष रहित निर्मल सम्यग्दर्शन।

२. **विनय सम्पन्नता**— रत्नत्रय तथा उनके धारकों की विनय।

३. **शीलव्रतेष्वनतिचार**— अहिंसादि व्रत और उनके रक्षक क्रोधत्याग आदि शीलों में विशेष प्रवृत्ति।

४. **अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग**— निरन्तर ज्ञानमय उपयोग रखना।

५. **संवेग**— संसार से भयभीत रहना।

६. **शक्तितस्त्याग**— यथा शक्ति दान देना।

७. **शक्तितस्तप**— उपवासादि तप करना।

८. **साधु समाधि**— साधुओं का उपसर्ग दूर करना या समाधि सहित वीर मरण करना।

९. **वैयावृत्यकरण**— रोगी तथा बाल-वृद्ध मुनियों की सेवा करना।

१०. **अर्हद्भक्ति**— अर्हंत भगवान की भक्ति करना।

११. **आचार्यभक्ति**— आचार्य की भक्ति करना।

१२. **बहुश्रुतभक्ति**— उपाध्याय की भक्ति करना।

१३. **प्रवचनभक्ति**— शास्त्र की भक्ति करना।

१४. **आवश्यकापरिहाणि**— सामायिक आदि छह आवश्यक क्रियाओं में हानि नहीं करना।

१५. **मार्ग प्रभावना**— जैनधर्म की प्रभावना करना।

१६. **प्रवचन वात्सल्य**— धर्मी में गोवत्स के समान प्रेम-स्नेह रखना। ये सोलह भावनाएं तीर्थंकर प्रकृति नामक नामकर्म के आस्रव हैं। इन १६ भावनाओं में दर्शनविशुद्धि नामक प्रथम भावना मुख्य है। इस भावना के साथ अन्य १५ भावनाएं हों, चाहे कम हों तो भी तीर्थंकर नामकर्म का आस्रव हो सकता है।

नीच गोत्र कर्म का आस्रव— दूसरे की निन्दा और अपनी प्रशंसा करना तथा दूसरे के मौजूद गुणों को ढांकना और अपने झूठे गुणों को प्रकट करना, ये नीच गोत्र के आस्रव हैं।

उच्च गोत्र का आस्रव— नीच गोत्र के आस्रवों से विपरीत अर्थात् पर प्रशंसा तथा आत्म-निन्दा और

नम्र वृत्ति तथा मद का अभाव ये उच्च गोत्र कर्म के आस्रव हैं।

अन्तरायकर्म का आस्रव— पर के दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य में विघ्न करना अन्तराय कर्म का आस्रव है।

कर्मबंध के कारण

कर्मबंध के पाँच कारण माने गये हैं— '**मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा**[१] **बन्धहेतवः**'।।१।।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

१. मिथ्यात्व के गृहीत और अगृहीत, ऐसे दो भेद होते हैं।

गृहीत— पर के उपदेश आदि निमित्त से विपरीत बुद्धि का होना। कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु आदि का श्रद्धान करना।

अगृहीत— बिना उपदेश, अनादिकालीन संस्कारवश परवस्तु को अपनी समझना, किसी भी प्रकार की एकान्त बुद्धि रखना आदि। मिथ्यात्व के गृहीत, अगृहीत और सांशयिक, ऐसे तीन भेद भी होते हैं तथा एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान, ऐसे पाँच भेद भी होते हैं।

एकांत— अनेक धर्मात्मक पदार्थ को किसी एक धर्मात्मक मानना, इसको एकान्त मिथ्यात्व कहते हैं, जैसे— वस्तु सर्वथा क्षणिक ही है अथवा नित्य ही है, वक्तव्य है अथवा अवक्तव्य ही है इत्यादि।

विपरीत— धर्मादिक के स्वरूप को विपर्ययरूप मानना, जैसे कि हिंसा से स्वर्ग मिलता है।

विनय— सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि देव गुरु शास्त्रों में समान बुद्धि रखना, उन सबका समान विनय नमस्कार आदि करना।

संशय— सच्चे तथा झूठे दोनों प्रकार के पदार्थों में किसी एक पक्ष का निश्चय न होना, जैसे— सग्रन्थ लिंग मोक्ष का साधन है या निर्ग्रन्थ लिंग।

अज्ञान— जीवादि पदार्थों को 'यही है, इसी प्रकार से है' इस तरह से विशेषरूप न समझने को अज्ञान मिथ्यात्व कहते हैं।

विस्तार से मिथ्यात्व के ३६३ भेद भी माने गये हैं तथा जीव के परिणामों की अपेक्षा और अधिक विस्तार करने से असंख्यात लोक प्रमाण तक भेद हो सकते हैं।

तीन सौ त्रेसठ पाखण्डमत— जिसमें सर्वथा एक नय का ही ग्रहण पाया जाता है, ऐसे जो एकान्त मत हैं उनके ३६३ भेदों को बताते हैं—

क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानवादियों के ६७ और वैनयिकवादियों के ३२ भेद हैं।

क्रियावादियों के १८० भेद— पहले 'अस्ति' ऐसा पद लिखना, उसके ऊपर 'आप से' 'पर से'

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ।

'नित्यपने से' 'अनित्यपने से', ऐसे ४ पद लिखना, उनके ऊपर जीवादि ९ पदार्थ लिखना, उनके ऊपर 'काल' 'ईश्वर' 'आत्मा' 'नियति' और 'स्वभाव' इस तरह ५ पद लिखना, इस प्रकार १×४×९×५=१८० भेद हो जाते हैं।

अस्ति, अपने से, पर से, नित्यपनेकर, अनित्यपनेकर, इन पाँचों का अर्थ सुगम है तथा जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप पदार्थ कहलाते हैं। अब काल आदि पाँच का अर्थ स्पष्ट करते हैं।

कालवाद— काल ही सबको उत्पन्न करता है और काल ही सबका नाश करता है, सोते हुए प्राणियों में काल ही जागता है, ऐसे काल के ठगने को कौन समर्थ हो सकता है, इस प्रकार काल से ही सब कुछ मानना कालवाद का अर्थ है।

ईश्वरवाद— आत्मा ज्ञानरहित है, अनाथ है— कुछ भी नहीं कर सकता, उस आत्मा का सुख-दुःख, स्वर्ग तथा नरक में गमन आदि सब ईश्वर का किया हुआ होता है, ऐसे ईश्वर का किया हुआ सब मानना ईश्वरवाद है।

आत्मवाद— संसार में एक ही महान् आत्मा है, वही पुरुष है, वही देव है और वह सबमें व्यापक है, सर्वाङ्गपने से अगम्य है, चेतनासहित है, निर्गुण है और उत्कृष्ट है। इस तरह आत्मस्वरूप ही सबको मानना आत्मवाद है।

नियतिवाद— जो जिस समय जिससे जैसे जिसके नियम से होता है, वह उस समय उससे वैसे उसके ही होता है, ऐसा नियम से ही सब वस्तु को मानना उसे नियतिवाद कहते हैं।

स्वभाववाद— कांटे आदि को लेकर जो तीक्ष्ण (चुभने वाली) वस्तु है, उनके तीक्ष्णपना कौन करता है? और मृग तथा पक्षी आदिकों में अनेक रूपता पाई जाती है उसे कौन करता है? ऐसा प्रश्न होने पर यही उत्तर मिलता है कि सबमें स्वभाव ही है, ऐसे सबको कारण के बिना स्वभाव से ही मानना स्वभाववाद है।

इस प्रकार से कालादि की अपेक्षा एकान्त पक्ष के ग्रहण कर लेने से क्रियावाद के १८० भेद हो जाते हैं।

अक्रियावादियों के चौरासी भेद— पहले 'नास्ति' पद लिखना, उसके ऊपर 'आप से' 'पर से', ये दो पद लिखना, उनके ऊपर पुण्य-पाप के बिना सात पद लिखना, उनके ऊपर काल आदि को लेकर ५ पद लिखना, इस प्रकार इनका गुणा करने से १×२×७×५=७० भेद हुए पुनः आगे 'नास्ति' पद लिखना, उसके ऊपर सात पदार्थ लिखना, उनके ऊपर 'नियति' 'काल', ऐसे दो पद लिखना। इस प्रकार इनका गुणा करने से १×७×२=१४ भेद होते हैं। पूर्वोक्त ७०+१४=८४ हो जाते हैं।

अज्ञानवादियों के सड़सठ भेद— जीवादि नव पदार्थों में से एक-एक का सप्त भंग से न जानना, जैसे कि 'जीव' अस्ति स्वरूप है, ऐसा कौन जानता है तथा नास्ति, अथवा दोनों, वा अवक्तव्य वा बाकी तीन भंग मिले हुए, इस तरह सात भंगों से जीव को कौन जानता है, इस प्रकार ९ पदार्थों को ७ नयों से गुणा करने से ९×७=६३ भेद होते हैं। आगे-पहले 'शुद्ध पदार्थ' ऐसा लिखना उसके ऊपर अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति और अवक्तव्य ये चार लिखना, इन दोनों पंक्तियों से चार भंग उत्पन्न होते हैं, जैसे— शुद्ध पदार्थ अस्ति आदि

रूप है, ऐसा कौन जानता है इत्यादि। इस तरह ४ तो ये और पूर्वोक्त ६३ सब मिलकर अज्ञानवाद के ६७ भेद होते हैं।

वैनयिकवाद के बत्तीस भेद— देव, राजा, ज्ञानी, यति, बुड्ढा, बालक, माता, पिता इन आठों का मन, वचन, काय और दान इन चारों से विनय करना। इस प्रकार वैनयिकवाद के भेद ८ गुणित ४ अर्थात् ८×४=३२ भेद होते हैं। ये विनयवादी गुण, अवगुण की परीक्षा किये बिना विनय से ही सिद्धि मानते हैं।

इस प्रकार स्वच्छन्द — अपना मनमाना श्रद्धान करने वाले पुरुषों ने ये ३६३ भेदरूप कल्पना की है, जो कि अज्ञानी जीवों को अच्छी लगती है।

आगे अन्य भी एकातवादों का वर्णन करते हैं—

पौरुषवाद— जो आलस्य कर सहित हो तथा उद्दाम करने में उत्साह रहित हो, वह कुछ भी फल भोग नहीं सकता, जैसे— स्तनों का दूध पीना बिना पुरुषार्थ के कभी नहीं बन सकता। इसी प्रकार पुरुषार्थ से सब कार्यों की सिद्धि होती है, ऐसा मानना एकान्त पुरुषार्थवाद है।

दैववाद— मैं केवल दैव (भाग्य) को ही उत्तम मानता हूँ निरर्थक पुरुषार्थ को धिक्कार हो। देखो! किला के समान ऊँचा जो 'कर्ण' नामा राजा सो युद्ध में मारा गया, ऐसा दैववाद है इसी से सर्वसिद्धि होती है।

संयोगवाद— यथार्थ ज्ञानी संयोग से ही कार्य सिद्धि मानते हैं क्योंकि जैसे एक पहिये से रथ नहीं चल सकता तथा जैसे एक अंधा दूसरा पंगु ये दोनों वन में प्रविष्ट हुए थे, सो किसी समय आग लग जाने से ये दोनों मिलकर अंधे के ऊपर पंगु चढ़कर अपने नगर में पहुँच गये, इस प्रकार एकान्त मान्यता संयोगवाद है।

लोकवाद— एक बार उठी हुई लोक प्रसिद्धि देवों से भी मिलकर दूर नहीं हो सकती, अन्य की तो बात ही क्या है? जैसे कि द्रौपदी के द्वारा केवल अर्जुन के ही गले में डाली गई माला पाँचों पाण्डवों को पहनाई है, ऐसी प्रसिद्धि हो गई, इस प्रकार से लोकवादी लोक प्रवृत्ति को ही सर्वस्व मानते हैं।

आचार्य कहते हैं कि बहुत कहने से क्या? सारांश इतना ही है कि जितने वचन बोलने के मार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही पर समय हैं अर्थात् जो कुछ भी वचन बोला जाता है वह किसी अपेक्षा को लिए हुए ही होता है, उस जगह जो अपेक्षा है, वही नय है और बिना अपेक्षा के बोलना अथवा एक ही अपेक्षा से अनन्त धर्म वाली वस्तु को सिद्ध करना यही परमतों में मिथ्यापना है। परमतों के वचन 'सर्वथा' कहने से नियम से असत्य होते हैं और जैनमत के वचन 'कथंचित्' (किसी एक प्रकार से) बोलने से सत्य हैं।

२ अविरति के बारह भेद हैं— षट्काय के जीवों की दया न करना तथा पंच इन्द्रिय और मन इन छह को वश में न करना।

३ प्रमाद— कुशल कार्य में अनादर करना। प्रमाद के १५ भेद हैं—४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रियविषय, १ निद्रा और १ स्नेह।

४ विकथा— स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा, अवनिपाल कथा।

४ कषाय— क्रोध, मान, माया, लोभ।

५ इन्द्रिय— स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र।

४ कषाय पच्चीस हैं— अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ। अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि ४, प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि ४, संज्वलन क्रोधादि ४ और हास्यादि नौ नोकषाय।

५ योग १५ हैं— ४ मनोयोग, ४ वचनयोग और ७ काययोग।

इस प्रकार से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये कर्मबंध के कारण कहे गये हैं।

मुक्ति के कारण

''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।[१]''

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है अर्थात् उपर्युक्त मिथ्यात्व आदि के प्रतिपक्षी, ये सम्यक्त्व आदि कारण कर्मबंध से छुटाकर जीव को मोक्ष प्राप्त कराने वाले हैं।

सम्यक्त्व लब्धि— लब्धिसार ग्रंथ में सम्यक्त्व लब्धि और चारित्र लब्धि का बहुत ही विस्तृत विवेचन है, उसी के आधार से यहाँ नाम मात्र कहा जाता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव सबसे प्रथम उपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करता है अतः प्रथमोपशम सम्यक्त्व की विधि बतलाते हैं—

चारों गति वाला अनादि या सादि मिथ्यादृष्टि, संज्ञी, पर्याप्त, गर्भज, मंदकषायी होने से विशुद्ध परिणाम वाला, गुण दोष के विचार वाला, साकार ज्ञानोपयोग वाला जो जीव है, वही पाँचवीं लब्धि के अन्त समय में सम्यक्त्व को ग्रहण करता है। सम्यक्त्व होने से पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में पाँच लब्धियाँ होती हैं। उनके नाम हैं—

पाँच लब्धि— क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण। इनमें से पहली चार तो साधारण हैं— भव्य-अभव्य दोनों जीवों के हो सकती हैं किन्तु पाँचवीं करणलब्धि सम्यक्त्व और चारित्र की तरफ झुके हुए भव्यजीव के ही होती है।

क्षयोपशम लब्धि— अशुभ ज्ञानावरण आदि कर्मों का अनुभाग जिस काल में समय-समय अनन्तगुणा घटता हुआ उदय को प्राप्त होवे, उस काल में क्षयोपशम लब्धि होती है।

विशुद्धि लब्धि— क्षयोपशम लब्धि के जीव के साता आदि प्रकृति के लिए बंधन के कारणभूत जो शुद्ध परिणाम होता है, वह विशुद्धि लब्धि है।

देशना लब्धि— सच्चे तत्त्वों का उपदेश देने वाले आचार्य का लाभ या उपदेश का लाभ होना देशना लब्धि है। नरकादि गति में जहाँ उपदेश देने वाला कोई नहीं है, वहाँ पूर्वभव में श्रवण किये गये उपदेश के संस्कार के बल से देशना लब्धि होकर सम्यक्त्व हो सकता है ।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र।

प्रायोग्य लब्धि— पूर्वोक्त तीन लब्धि वाला जीव हर समय विशुद्धि की बढ़वारी होने से आयु के बिना सात कर्मों की स्थिति घटाता हुआ अन्त:कोड़ा-कोड़ी मात्र रखे और कर्मों की फल देने की शक्ति को कमजोर कर दे, ऐसे कार्य करने की योग्यता की प्राप्ति को 'प्रायोग्य लब्धि' कहते हैं। यह सामान्य रीति से भव्य-अभव्य दोनों के हो सकती हैं। इसमें क्रम-क्रम से प्रकृति बंधापसरण के चौंतीस स्थान होते हैं, जैसे— पहला नरकायु का व्युच्छित्ति स्थान है अर्थात् वहाँ से लेकर उपशम सम्यक्त्व तक नरकायु का बंध नहीं होता है। दूसरा तिर्यंच आयु का स्थान है, इस प्रकार चौंतीस स्थानों में छयालीस[1] प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है।

करण लब्धि— उसके बाद अभव्य के भी योग्य, ऐसे चार लब्धिरूप परिणामों को समाप्त कर भव्य जीव ही अध:प्रवृत्त, अपूर्व और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणों (परिणामों) को करता है, ये तीनों करण अन्तर्मुहूर्त में हो जाते हैं और तीनों का काल भी पृथक्-पृथक् अन्तर्मुहूर्त है।

तीनों करणों का स्वरूप

अध:प्रवृत्तकरण— जहाँ नीचे के समयवर्ती किसी जीव के परिणाम ऊपर के समयवर्ती किसी जीव के परिणामों के समान होते हैं, वहाँ के परिणाम का नाम अध:प्रवृत्तकरण है।

अपूर्वकरण— समय-समय में जीवों के भाव जुदे-जुदे ही होते हैं, इसलिए ऐसे परिणाम का नाम अपूर्वकरण है।

अनिवृत्तिकरण— जहाँ हर समय में एक ही परिणाम होता है, वह अनिवृत्तिकरण है।

उपशम सम्यक्त्व— अनन्तानुबंधी और दर्शन मोहनीय का उपशम करके यह जीव अनिवृत्तिकरण के अन्त समय में उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है, तब प्रथमोपशम सम्यक्त्वरूपी यंत्र से मिथ्यात्व के तीन खण्ड कर देता है, उनके नाम— मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति।

क्षयोपशम सम्यक्त्व— उपशम सम्यक्त्व का अन्तर्मुहूर्त काल पूर्ण होने के बाद यदि सम्यक्त्व प्रकृति का उदय आ जाता है, तब यह जीव वेदक सम्यग्दृष्टि कहलाता है। इसमें चल, मलिन, अगाढ़ दोष रहते हैं।

पतन के गुणस्थान— यदि मिश्र प्रकृति का उदय आ जाता है, तब सम्यक्मिथ्यात्व नाम का तृतीय गुणस्थान हो जाता है। यदि उपशम सम्यक्त्व के काल में अधिक से अधिक छह आवली काल शेष रहने पर अनन्तानुबंधी में से किसी एक का उदय आ जावे, तो सासादन गुणस्थान हो जाता है। यदि मिथ्यात्व का उदय आ जावे, तो प्रथम गुणस्थान में आ जाता है। यह नियम है कि उपशम सम्यक्त्व से यह जीव गिरता ही है, ऊपर नहीं जाता है।

क्षायिक सम्यक्त्व— जो मनुष्य कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ हो, वह तीर्थंकर या अन्य केवली अथवा श्रुतकेवली के चरण कमलों में सात प्रकृतियों का अभाव करके क्षायिक सम्यक्त्व को ग्रहण करता है। पहले तीन करण विधान से अनन्तानुबंधी क्रोधादि चार कषायों के निषेकों को अनिवृत्तिकरण के अन्त समय में बारह

---

१. लब्धिसार देखिये।

कषाय नव नोकषायरूप परिणमाता है अर्थात् विसंयोजन करता है। पश्चात् अन्तर्मुहूर्त काल तक विश्राम लेकर उसके बाद फिर तीन करणों को करता हुआ अनिवृत्तिकरणकाल में मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय के क्रम से नाश करता है।

क्षायिक सम्यक्त्व हो जाने पर यह जीव उस भव में या तीसरे, चौथे भव में मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। चतुर्थ भव का उल्लंघन नहीं करता है।

चारित्र लब्धि का स्वरूप— चारित्र की लब्धि अर्थात् प्राप्ति, वह चारित्र लब्धि है। वह एकदेश और सकल देश के भेद से दो प्रकार की है। उनमें से मिथ्यादृष्टि या असंयत सम्यग्दृष्टि देशचारित्र को प्राप्त कर सकता है और ये दोनों या देशसंयत मनुष्य सकलचारित्र को प्राप्त करते हैं।

देश चारित्र— अनादि मिथ्यादृष्टि या सादि मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्व सहित देशचारित्र को ग्रहण करता है, वह सम्यक्त्व उत्पत्ति के कथन की तरह तीन करणों के अन्त समय में देशचारित्र को ग्रहण करता है।

यदि सादि मिथ्यादृष्टि जीव वेदक सम्यक्त्व सहित देशचारित्र को ग्रहण करे तो उसके अधःकरण और अपूर्वकरण, ऐसे दो ही करण होते हैं।

सकलचारित्र— चारित्र के तीन भेद हैं— क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक।

क्षायोपशमिकचारित्र— कोई मिथ्यादृष्टि मनुष्य उपशमसम्यक्त्व सहित क्षायोपशमिकचारित्र को ग्रहण करते समय पूर्वोक्त तीनों करणों को करता है, इस चारित्र को ग्रहण करता हुआ जीव पहले अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त होता है। वेदक सम्यक्त्व सहित असंयत या देशसंयत जीव सकलचारित्र के लिए दो करणों को ही करता है।

उपशमचारित्र— उपशम चारित्र को प्राप्त करने के सन्मुख हुआ जीव स्वस्थान अप्रमत्त में अन्तर्मुहूर्त विश्राम करके बाद में तीनों करणों को करते हुए चारित्र मोह का उपशम कर देता है।

क्षायिकचारित्र— चारित्र मोहनीय का क्षय करने के लिए क्षपक श्रेणी के सन्मुख हुआ जीव तीनों करणों के द्वारा चारित्रमोह का निर्मूल नाश करके बारहवें गुणस्थान में यथाख्यात चारित्र को प्राप्त करके क्षीणमोह कहलाता है।

करण नाम परिणामों का है, जैसे— सम्यक्त्व के लिए अधःप्रवृत्त आदि तीन करण होते हैं, वैसे ही देशचारित्र और सकलचारित्र के लिए भी करणों की आवश्यकता है। अनन्तर उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी पर चढ़ने वाले जीवों को भी करण करने पड़ते हैं। ये करण बुद्धिपूर्वक नहीं होते हैं, अबुद्धिपूर्वक होते हैं। परिणामों की निर्मलता विशेष से ही ऐसे कार्य होते हैं, ऐसा समझना।

सम्यक्त्व और चारित्र के लिए योग्यता— चारों ही आयु में से आगे के लिए किसी भी आयु के बंध जाने पर सम्यक्त्व हो सकता है परन्तु देवायु के बंध के सिवाय अन्य तीन आयु का बंध हो जाने पर यह जीव अणुव्रत तथा महाव्रत को ग्रहण नहीं कर सकता है क्योंकि वहाँ व्रत के कारणभूत विशुद्ध परिणाम नहीं है।

कर्मों के नाश का क्रम— कर्मों का नाश करने के लिए महाव्रती मुनि क्षपक श्रेणी में चढ़ता है अत: उसके क्षायिक सम्यक्त्व होने से अनन्तानुबंधी आदि सात प्रकृतियाँ समाप्त हो गई हैं और मनुष्यायु के सिवाय तीन आयु का भी सत्त्व नहीं है, इस तरह १४८-१०=१३८ प्रकृतियाँ बचती हैं। नवमें गुणस्थान में ३६ प्रकृतियाँ क्षय को प्राप्त होती हैं, उनके नाम— नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, द्वीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, उद्योत, आतप, एकेन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म, स्थावर, ४ अप्रत्याख्यानावरण, ४ प्रत्याख्यानावरण, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान और माया, ये ३६ प्रकृतियाँ हैं। अनन्तर दसवें गुणस्थान में संज्वलन लोभ का नाश हो जाता है, तब यह जीव क्षीणमोह हो जाता है पुन: बारहवें गुणस्थान में ५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, ५ अन्तराय, १ निद्रा, १ प्रचला, इन १६ प्रकृतियों का नाश करके तेरहवें गुणस्थान में पहुँचकर केवली बन जाते हैं। पूर्वोक्त ७+३+३६+१+१६=६३ प्रकृतियों का नाश करके महामुनि अर्हंत कहलाते हैं।

चार घातिया कर्मों के नाश होने से अनन्तज्ञानादि अनन्तचतुष्टय प्रगट हो जाते हैं अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण के नाश होने से अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शन प्रगट होते हैं, वीर्यान्तराय के क्षय से अनन्तवीर्य और नव नोकषाय तथा दानादि चार अन्तरायों के क्षय से अनन्तसुख प्रगट हो जाते हैं अथवा केवलियों के नव केवललब्धियाँ प्रगट हो जाती हैं—

ज्ञानावरण के क्षय से अनन्तज्ञान, दर्शनावरण के क्षय से अनन्तदर्शन, दर्शन मोहनीय के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व, चारित्र मोहनीय के क्षय से क्षायिक चारित्र, दानादि पाँच अन्तरायों के क्षय से क्रमश: क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य, ये नव क्षायिक लब्धियाँ हैं।

केवली के कवलाहार का निराकरण

प्रश्न— केवली के असाता वेदनीय के उदय से क्षुधा आदि परीषह संभव है अत: आहार क्रिया होनी चाहिए?

उत्तर— केवली के मोहनीय कर्म का अभाव हो जाने से राग-द्वेष नष्ट हो गये हैं और ज्ञानावरण के अभाव से इन्द्रियजनित ज्ञान भी नष्ट हो गया है अत: साता व असाता के उदय से उत्पन्न हुआ इन्द्रिय जनित सुख-दु:ख नहीं है, इसलिए केवली के क्षुधादि परीषह नहीं है उनका कथन उपचार मात्र है। केवली भगवान के असाता वेदनीय का उदय सातारूप परिणमन कर जाता है, ऐसा आगमवाक्य है अत: क्षुधादि परीषह नहीं है और उनको दूर करने के लिए आहारादि भी संभव नहीं हैं।

प्रश्न— केवली के आहार बिना आहार मार्गणा कैसे है?

उत्तर— केवली के औदारिक शरीर के योग्य उत्तम कर्म परमाणु प्रतिसमय आते रहते हैं तथा नोकर्म वर्गणा को ग्रहण करने का नाम ही आहार मार्गणा है। उसका सद्भाव केवली में है क्योंकि आहार के छह भेद हैं— ओज, लेप्य, मानस, कवल, कर्म और नोकर्म। उनमें से केवली के कर्म-नोकर्म, ये दो आहार होते हैं,

कवलाहार नहीं होता है। सातावेदनीय के समय-प्रबद्ध को ग्रहण करना कर्माहार है और औदारिक शरीरादि के योग्य परमाणु ग्रहण करना नोकर्माहार है।

केवली भगवान ज्यादा से ज्यादा 'कुछ कम एक पूर्व कोटि' तक विहार करके अयोग केवली हो जाते हैं, वहाँ द्विचरम समय में बहत्तर प्रकृतियों का और अन्त समय में तेरह प्रकृतियों का नाश करके कर्म रहित मुक्त हो जाते हैं।

७२ प्रकृतियों के नाम—५ शरीर, ५ बंधन, ५ संघात, ६ संस्थान, ३ अंगोपांग, ६ संहनन, ५ वर्ण, २ गंध, ५ रस, ८ स्पर्श, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, निर्माण, अयशस्कीर्ति, अनादेय, प्रत्येक, अपर्याप्त, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, वेदनीय में से एक वेदनीय, नीचगोत्र, ये ७२ प्रकृतियाँ हैं।

१३ प्रकृतियों के नाम—साता असाता में से कोई एक वेदनीय, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थंकर, मनुष्य आयु और उच्चगोत्र। इन ८५ प्रकृतियों का नाश करके ये मुक्त जीव एक समय में ऊर्ध्वलोक के अग्रभाग में विराजमान हो जाते हैं।

मुक्त जीव लोकाकाश के बाहर क्यों नहीं जाते?

मुक्त जीव ऊर्ध्वगति स्वभाव वाले होने से लोक के अन्त तक ही जाते हैं। अलोकाकाश में नहीं जाते क्योंकि आगे धर्मास्तिकाय द्रव्य का अभाव है, जो कि जीवद्रव्य के गमन में सहकारी होता है।

यथा—"धर्मास्तिकायाभावात्।"[१] लोक के आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने से वे नहीं ठहर जाते हैं। ऊपर ही जाने में हेतु—

घुमाये हुए चक्र के समान पूर्व प्रयोग से, लेप से मुक्त हुई तूमड़ी के समान संग का अभाव होने से, एरण्ड के बीज के समान बंधन टूटने से और अग्नि की शिखा के समान वैसा गमन करना स्वभाव होने से मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है। आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने से अलोकाकाश में नहीं जाता है। वहीं लोक के अग्रभाग में विराजमान हो जाता है।

सिद्धों की अवगाहना—सिद्ध होने वाले मुनि की उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष है। जघन्य अवगाहना साढ़े तीन अरत्नि प्रमाण है। इन दोनों अवगाहनाओं के बीच के बहुत से भेद हैं इस तरह अपने अंतिम शरीर से कुछ कम अवगाहना होती है।

सिद्ध होने की संख्या—यदि निरन्तर सिद्ध होते रहें, तो कम से कम दो समय तक और अधिक से अधिक आठ समय तक निरन्तर सिद्ध होते रहें। यदि अन्तर पड़े तो कम से कम एक समय तक और अधिक से अधिक छह महीने का अन्तर पड़ सकता है।

संख्या—कम से कम एक समय में एक ही जीव सिद्ध होता है, अधिक से अधिक एक समय में १०८ जीव सिद्ध होते हैं। मध्यवर्ती संख्या के अनेक विकल्प हैं।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र।

सिद्ध परमेष्ठी के आठ गुण

सम्मत्तणाणदंसण वीरिय सुहुमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलहुमव्वाबाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं।।

सिद्धों के आठ कर्मों के क्षय हो जाने से आठ गुण प्रगट हो जाते हैं। मोहनीय कर्म के क्षय से सम्यक्त्व, ज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान, दर्शनावरण के क्षय से केवल दर्शन, अन्तरायकर्म के क्षय से अनन्तवीर्य, नामकर्म के अभाव से सूक्ष्मत्व, आयुकर्म के अभाव से अवगाहनत्व, गोत्रकर्म के अभाव से अगुरुलघु तथा वेदनीयकर्म के अभाव से अव्याबाध सुख, सिद्धों में ये आठ गुण होते हैं।

वास्तव में मुख्यरूप से ये आठ गुण माने गये हैं, वैसे तो एक सिद्ध भगवान में अनन्तानन्त गुण विद्यमान हैं। सिद्ध के इन अनन्तगुणों को तराजू के एक पलड़े में रखिये एवं उनमें से एक ज्ञानगुण को निकालकर दूसरे पलड़े में रख दीजिए, तो वह ज्ञान गुण का पलड़ा भारी हो जायेगा क्योंकि ज्ञान गुण के बिना उन गुणों को अनुभव कराने वाला अथवा मूल्यांकन करने वाला कोई भी नहीं है।

इसी प्रकार से हमारी आत्मा भी अनन्त गुणों का पिंड है। उन शक्तिरूप गुणों को व्यक्त करने के लिए परमज्ञान स्वरूप और परमानन्द स्वरूप सिद्ध परमेष्ठी को मेरा मन, वचन, काय से नमस्कार होवे।

इति शं भूयात्।

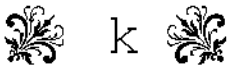

प्रशस्ति

सिद्धार्थनंदनं वंदे, सर्वसिद्धप्रदायिनम् ।
श्री जैनभारतीं भक्त्या, गणेशांश्च मुदा स्तुवे।।१।।

मूलसंघे सुविख्याते, कुन्दकुन्दान्वयो महान्।
सरस्वतीसुगच्छेऽस्मिन्, बलात्कारगणोऽस्ति यः।।२।।

तत्प्रवाहे गणी जातः, श्री शांतिसागरो महान्।
चारित्रचक्रवर्ती यस्तं वंदे शिरसा मुदा।।३।।

शांतिसागरपट्टस्थं सूरिं श्री वीरसागरम्।
आर्यिकाव्रतदातारं गुरुवर्यं स्तुवेऽनिशम् ।।४।।

वीराब्दे शून्ययुग्मांके पंचद्विगणनायुते।
महामहोत्सवे काले सर्वत्र प्रसरे सति।।५।।

माघमासि सिते पक्षे पंचम्यां रविवासरे।
हस्तिनागपुरे तीर्थे श्रीमत्शांतिजिनालये।।६।।

ज्ञानमत्या कृता जीयात्, कृतिः श्री जैनभारती।
आचन्द्रतारकं स्थेयात्, सर्वस्मै ज्ञानदा भवेत् ।।७।।

ॐ ॐ ॐ

वीर महानिर्वाण का, संवत् उत्तम जान।
पच्चीस सौ इक है कहा, महा महोत्सव मान।।१।।

माघु सुदी तिथि पंचमी, रविवासर दिन साधु।
रेवति है नक्षत्र शुभ उत्सव का आह्लाद।।२।।

हस्तिनागपुर क्षेत्र में, शांतिजिनालय मध्य।
शांति, कुंथु, अरनाथ के, जन्म क्षेत्र को वंद्य!।।३।।

'**ज्ञानमती**' मैं आर्यिका, बहुत ग्रंथ अनुसार।
'जैन भारती' यह कृति, पूर्णकरी सुखकार।।४।।

यावत् रवि शशि जगत् में, तावत् लहे प्रकाश।
'जैन भारती' जय लहे, जन मन करे विकास।।५।।

शुभं भूयात्

चार्ट नं. १

चौदह कुलकर

क्र.सं.	नाम	देवी	उत्सेध	आयु (तिलोयपण्णत्ति के आधार से)	आयु (महापुराण के आधार से)
१.	प्रतिश्रुति	स्वयंप्रभा	१८०० ध.	$\frac{१}{१०}$ पल्य	$\frac{१}{१०}$ पल्य
२.	सन्मति	यशस्वती	१३०० ध.	$\frac{१}{१००}$ पल्य	अमम
३.	क्षेमंकर	सुनन्दा	८०० ध.	$\frac{१}{१०००}$ पल्य	अटट
४.	क्षेमंधर	विमला	७७५ ध.	$\frac{१}{१००००}$ पल्य	तुटित
५.	सीमंकर	मनोहरी	७५० ध.	$\frac{१}{१००००००}$ पल्य	कमल
६.	सीमंधर	यशोधरा	७२५ ध.	$\frac{१}{१०००००००}$ पल्य	नलिन
७.	विमलवाहन	सुमती	७०० ध.	$\frac{१}{१००००००००}$ पल्य	पद्म
८.	चक्षुष्मान्	धारिणी	६७५ ध.	$\frac{१}{१०००००००००}$ पल्य	पद्मांग
९.	यशस्वी	कान्तमाला	६५० ध.	$\frac{१}{१००००००००००}$ पल्य	कुमुद
१०.	अभिचन्द्र	श्रीमती	६२५ ध.	$\frac{१}{१०००००००००००}$ पल्य	कुमुदांग
११.	चन्द्राभ	प्रभावती	६०० ध.	$\frac{१}{१००००००००००००}$ पल्य	नयुत
१२.	मरुदेव	सत्या	५७५ ध.	$\frac{१}{१०००००००००००००}$ पल्य	नयुतांग
१३.	प्रसेनजित्	अमितमती	५५० ध.	$\frac{१}{१००००००००००००००}$ पल्य	१ पूर्व
१४.	नाभिराज	मरुदेवी	५२५ ध.	१ पूर्वकोटि	१ कोटिपूर्व

अन्तराल (तिलोयपण्णत्ति से)	अन्तराल महापुराण से	शिक्षा विषय
$\frac{१}{८}$ पल्य	१ पल्य	चन्द्र सूर्योदय से भय मिटाना
$\frac{१}{८०}$ पल्य	असंख्यात करोड़ वर्ष	अंधकार व तारागण से भय हटाना
$\frac{१}{८००}$ पल्य	असंख्यात करोड़ वर्ष	व्याघ्रादि हिंस्र जन्तु की संगति त्याग
$\frac{१}{८०००}$ पल्य	असंख्यात करोड़ वर्ष	सिंहादि से रक्षाण के उपाय
$\frac{१}{८००००}$ पल्य	असंख्यात करोड़ वर्ष	कल्पवृक्ष-सीमा
$\frac{१}{८०००००}$ पल्य	असंख्यात करोड़ वर्ष	तरु गुच्छादि चिन्हित सीमा
$\frac{१}{८०००००००}$ पल्य	असंख्यात करोड़ वर्ष	हाथी आदि की सवारी आदि का उपदेश
$\frac{१}{८००००००००}$ पल्य	असंख्यात करोड़ वर्ष	बालक-मुखदर्शन
$\frac{१}{८०००००००००}$ पल्य	करोड़ों वर्ष	बालक-नामकरण
$\frac{१}{८००००००००००}$ पल्य	करोड़ों वर्ष	शिशुरोदन निवारण चन्द्र आदि दिखाना
$\frac{१}{८०००००००००००}$ पल्य	करोड़ों वर्ष	शैत्यादि रक्षणोपाय
$\frac{१}{८००००००००००००}$ पल्य	अपने योग्य अन्तर	नावादि द्वारा गमन
$\frac{१}{८०००००००००००००}$ पल्य	×	जरायु पटलापहरण
$\frac{१}{८००००००००००००००}$ पल्य	×	नाभिनालकर्तन

चार्ट नं. २

चौबीस[१] तीर्थंकर

	नाम	१ कहाँ से गर्भ में आये	२ गर्भकल्याण तिथि	३ गर्भनक्षत्र	४ जन्मनगरी	५ पिता	६ माता
१.	वृषभ	सर्वार्थसिद्धि	आषाढ़ कृ. २	रोहिणी	अयोध्या	नाभिराय	मरुदेवी
२.	अजित	विजय	ज्येष्ठ कृ. अमा.	रोहिणी	अयोध्या	जितशत्रु	विजया
३.	संभव	अधोग्रैवेयक	फाल्गुन शु. ८	मृगशिरा	श्रावस्ती	जितारि	सुसेना
४.	अभिनन्दन	विजय	वैशाख शु. ६	पुनर्वसु	अयोध्या	संवर	सिद्धार्था
५.	सुमति	जयन्त	श्रावण शु. २	मघा	अयोध्या	मेघप्रभ	मंगला
६.	पद्म	उपरिम ग्रैवेयक	माघ कृ. ६	चित्रा	कौशाम्बी	धरण	सुसीमा
७.	सुपार्श्व	मध्य ग्रैवेयक	भाद्रपद शु. ६	विशाखा	वाराणसी	सुप्रतिष्ठ	पृथिवी
८.	चन्द्रप्रभ	वैजयन्त	चैत्र कृ. ५	?	चन्द्रपुरी	महासेन	लक्ष्मीमती
९.	पुष्पदन्त	आरण	फाल्गुण कृ. ९	मूल	काकंदी	सुग्रीव	रामा
१०.	शीतल	अच्युत	चैत्र कृ. ८	पूर्वाषाढा	भद्रिल	दृढ़रथ	नन्दा
११.	श्रेयान्	पुष्पोत्तर	ज्येष्ठ कृ. ६	श्रवण	सिंहपुर	विष्णु	वेणुदेवी
१२.	वासुपूज्य	महाशुक्र	आषाढ़ कृ. ६	शतभिषा	चंपापुर	वसुपूज्य	विजया
१३.	विमल	शतार	ज्येष्ठ कृ. १०	उ. भाद्रपदा	कंपिलापुरी	कृतवर्मा	जयश्यामा
१४.	अनन्त	पुष्पोत्तर	कार्तिक कृ. १	रेवती	अयोध्या	सिंहसेन	सर्वयशा
१५.	धर्म	सर्वार्थसिद्धि	वैशाख शु. १३	रेवती	रत्नपुरी	भानु	सुव्रता
१६.	शान्ति	सर्वार्थसिद्धि	भाद्रपद कृ. ७	भरणी	हस्तिनापुर	विश्वसेन	ऐरा
१७.	कुंथु	सर्वार्थसिद्धि	श्रावण कृ. १०	कृत्तिका	हस्तिनापुर	शूरसेन	श्रीमती
१८.	अर	अपराजित	फाल्गुन शु. ३	रेवती	हस्तिनापुर	सुदर्शन	मित्रा
१९.	मल्लि	अपराजित	चैत्र शु. १	अश्विनी	मिथिला	कुम्भ	प्रभावती
२०.	मुनिसुव्रत	आनत	श्रावण कृ. २	श्रवण	राजगृह	सुमित्र	पद्मा
२१.	नमि	अपराजित	आश्विन कृ. २	अश्विनी	मिथिलापुरी	विजय	वप्रिला
२२.	नेमि	अपराजित	कार्तिक कृ. ६	उत्तराषाढा	शौरीपुर	समुद्र विजय	शिवादेवी
२३.	पार्श्व	प्राणत	वैशाख कृ. २	विशाखा	वाराणसी	अश्वसेन	वर्मिला
२४.	वर्धमान	पुष्पोत्तर	आषाढ़ शु. ६	उत्तराषाढा	कुण्डलपुर	सिद्धार्थ	प्रियकारिणी

१. इस चार्ट में पंचकल्याणक तिथियां उत्तरपुराण के आधार से हैं, शेष प्रकरण तिलोयपण्णत्ति में दिये गये चार्ट के अनुसार है।

७	८	९	१०	११
तीर्थं. जन्मतिथि	जन्म नक्षत्र	वंश	आयु	कुमार काल
१. चैत्र कृ. ९	उत्तराषाढा	इक्ष्वाकु	८४ लाख पूर्व	२० लाख वर्ष पूर्व
२. माघ शु. १०	रोहिणी	इक्ष्वाकु	७२ लाख पूर्व	१८ लाख वर्ष पूर्व
३. कार्तिक शु. १५	ज्येष्ठा	इक्ष्वाकु	६० लाख पूर्व	१५ लाख वर्ष पूर्व
४. माघ शु. १२	पुनर्वसु	इक्ष्वाकु	५० लाख पूर्व	१२ (१/२) लाख वर्ष पूर्व
५. चैत्र शु. ११	मघा	इक्ष्वाकु	४० लाख पूर्व	१० लाख वर्ष पूर्व
६. कार्तिक कृ. १३	चित्रा	इक्ष्वाकु	३० लाख पूर्व	७(१/२) लाख वर्ष पूर्व
७. ज्येष्ठ शु. १२	विशाखा	इक्ष्वाकु	२० लाख पूर्व	५ लाख वर्ष पूर्व
८. पौष कृ. ११	अनुराधा	इक्ष्वाकु	१० लाख पूर्व	२(१/२) लाख वर्ष पूर्व
९. मगसिर शु. १	मूल	इक्ष्वाकु	२ लाख पूर्व	१/२ लाख वर्ष पूर्व
१०. माघ शु. १२	पूर्वाषाढा	इक्ष्वाकु	१ लाख पूर्व	१/४ लाख वर्ष पूर्व
११. फाल्गुन कृ. ११	श्रवण	इक्ष्वाकु	८४ लाख वर्ष	२१ लाख वर्ष
१२. फाल्गुन कृ० १४	विशाखा	इक्ष्वाकु	७२ लाख वर्ष	१८ लाख वर्ष
१३. माघ शु. ४	पूर्व भाद्रपदा	इक्ष्वाकु	६० लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष
१४. ज्येष्ठ कृ. १२	रेवती	इक्ष्वाकु	३० लाख वर्ष	७५०००० वर्ष
१५. माघ शु. १३	पुष्य	कुरु	१० लाख वर्ष	२५०००० वर्ष
१६. ज्येष्ठ कृ. १४	भरणी	इक्ष्वाकु	१ लाख वर्ष	२५००० वर्ष
१७. वैशाख शु. १	कृत्तिका	कुरु	९५००० वर्ष	२३७५० वर्ष
१८. मगसिर शु. १४	रोहिणी	कुरु	८४००० वर्ष	२१००० वर्ष
१९. मगसिर शु. ११	अश्विनी	इक्ष्वाकु	५५००० वर्ष	१०००० वर्ष
२०. वैशाख कृ. १२	श्रवण	यादव	३०००० वर्ष	७५०० वर्ष
२१. आषाढ़ कृ. १०	अश्विनी	इक्ष्वाकु	१०००० वर्ष	२५०० वर्ष
२२. श्रावण शु. ६	चित्रा	यादव	१००० वर्ष	३०० वर्ष
२३. पौष कृ. ११	विशाखा	उग्र	१०० वर्ष	३० वर्ष
२४. चैत्र शु. १३	उ.फाल्गुनी	नाथ	७२ वर्ष	३० वर्ष

तीर्थं.	१२ उत्सेध	१३ शरीर वर्ण	१४ राज्यकाल	१५ चिन्ह	१६ वैराग्यकारण
१.	५०० धनुष	सुवर्ण	६३ लाख पूर्व	वृषभ	नीलांजना मरण
२.	४५० धनुष	सुवर्ण	५३ लाख १ पूर्वांग	गज	उल्कापात
३.	४०० धनुष	सुवर्ण	४४ लाख ४ पूर्वांग	अश्व	मेघ विनाश
४.	३५० धनुष	सुवर्ण	३६(१/२) लाख ८ पूर्वांग	बन्दर	गन्धर्व नगर नाश
५.	३०० धनुष	सुवर्ण	२९ लाख १२ पूर्वांग	चकवा	जातिस्मरण
६.	२५० धनुष	विद्रुम वर्ण	२१(१/२) लाख १६ पूर्वांग	पद्म	जातिस्मरण
७.	२०० धनुष	हरित	१४ लाख २० पूर्वांग	नंद्यावर्त (स्वास्तिक)	वसन्त-वन-लक्ष्मीनाश
८.	१५० धनुष	शुक्ल	६(१/२) लाख २४ पूर्वांग	अर्धचन्द्र	अध्रुवादि भावना
९.	१०० धनुष	शुक्ल	१/२ लाख २८ पूर्वांग	मगर	उल्कापात
१०.	९० धनुष	सुवर्ण	१/२ लाख	कल्पवृक्ष[1]	हिम नाश
११.	८० धनुष	सुवर्ण	४२ लाख वर्ष	गेंडा	वसन्तवन लक्ष्मीनाश
१२.	७० धनुष	विद्रुम	राज्य नहीं किया	भैंसा	जातिस्मरण
१३.	६० धनुष	सुवर्ण	३००००० वर्ष	शूकर	मेघनाश
१४.	५० धनुष	सुवर्ण	१५००००० वर्ष	सेही	उल्कापात
१५.	४५ धनुष	सुवर्ण	५००००० वर्ष	वज्र	उल्कापात
१६.	४० धनुष	सुवर्ण	५०००० वर्ष	हरिण	जातिस्मरण
१७.	३५ धनुष	सुवर्ण	४७५०० वर्ष	छाग (बकरा)	जातिस्मरण
१८.	३० धनुष	सुवर्ण	४२००० वर्ष	मछली[2]	मेघ-विनाश
१९.	२५ धनुष	सुवर्ण	राज्य नहीं किया	कलश	अध्रुवादि भावना
२०.	२० धनुष	नील	१५००० वर्ष	कछवा	जातिस्मरण
२१.	१५ धनुष	सुवर्ण	५००० वर्ष	नील कमल	जातिस्मरण
२२.	१० धनुष	नील	राज्य नहीं किया	शंख	जातिस्मरण
२३.	९ हाथ	हरित	राज्य नहीं किया	सर्प	जातिस्मरण
२४.	७ हाथ	सुवर्ण	राज्य नहीं किया	सिंह	जातिस्मरण

१-२. वर्तमान प्रचलन में ये ही देखे जाते हैं एवं निर्वाणभक्ति में भी ये चिन्ह ही हैं।

तीर्थं.	१७ दीक्षा तिथि	१८ दीक्षा नक्षत्र	१९ दीक्षावन	२० दीक्षोपवास	२१ दीक्षाकाल
१.	चैत्र कृ. ९	उत्तराषाढा	सिद्धार्थ	षष्ठोपवास	अपरान्ह
२.	माघ शु. ९	रोहिणी	सहेतुक	अष्टम भक्त	अपरान्ह
३.	मगशिर शु. १५	ज्येष्ठा	सहेतुक	तृ. उपवास	अपरान्ह
४.	माघ शु. १२	पुनर्वसु	उग्र	तृ. उपवास	पूर्वान्ह
५.	वैशाख शु. ९	मघा	सहेतुक	तृ. उपवास	पूर्वान्ह
६.	कार्त्तिक कृ. १३	चित्रा	मनोहर	तृ. भक्त	अपरान्ह
७.	ज्येष्ठ शु. १२	विशाखा	सहेतुक	तृ. भक्त	पूर्वान्ह
८.	पौष कृ. ११	अनुराधा	सर्वार्थ	तृ. उपवास	अपरान्ह
९.	मगसिर शु. १	अनुराधा	पुष्प	तृ. भक्त	अपरान्ह
१०.	माघ कृ. १२	मूल	सहेतुक	तृ. उपवास	अपरान्ह
११.	फाल्गुन कृ. ११	श्रवण	मनोहर	तृ. भक्त	पूर्वान्ह
१२.	फाल्गुन कृ० १४	विशाखा	मनोहर	एक उपवास	अपरान्ह
१३.	माघ शु. ४	उ. भाद्रपदा	सहेतुक	तृ. उपवास	अपरान्ह
१४.	ज्येष्ठ कृ. १२	रेवती	सहेतुक	तृ. भक्त	अपरान्ह
१५.	माघ शु. १३	पुष्य	शालि	तृ. भक्त	अपरान्ह
१६.	ज्येष्ठ कृ. १४	भरणी	आम्र	तृ. उपवास	अपरान्ह
१७.	वैशाख शु. १	कृत्तिका	सहेतुक	तृ. भक्त	अपरान्ह
१८.	मगसिर शु. १०	रेवती	सहेतुक	तृ. भक्त	अपरान्ह
१९.	मगसिर शु. ११	अश्विनी	शालि	षष्ठ भक्त	पूर्वान्ह
२०.	वैशाख कृ. १०	श्रवण	नील	तृ. उपवास	अपरान्ह
२१.	आषाढ़ कृ. १०	अश्विनी	चैत्र	तृ. भक्त	अपरान्ह
२२.	श्रावण शु. ६	चित्रा	सहकार	तृ. भक्त	अपरान्ह
२३.	पौष कृ. ११	विशाखा	अश्वत्थ	षष्ठ भक्त	पूर्वान्ह
२४.	मगसिर कृ. १०	उत्तरा	नाथ	तृ. भक्त	अपरान्ह

तीर्थं.	२२ सहदीक्षित	२३ छद्मस्थकाल	२४ केवलतिथि	२५ केवलोत्पत्तिकाल	२६ केवलस्थान	२७ केवल नक्षत्र
१.	४०००	१००० वर्ष	फाल्गुन कृ. ११	पूर्वान्ह	पुरिमताल नगर (प्रयाग)	उत्तराषाढा
२.	१०००	१२ वर्ष	पौष शु. ११	अपरान्ह	सहेतुक वन	रोहिणी
३.	१०००	१४ वर्ष	कार्तिक कृ. ४	अपरान्ह	सहेतुक वन	ज्येष्ठा
४.	१०००	१८ वर्ष	पौष शु. १४	अपरान्ह	उग्रवन	पुनर्वसु
५.	१०००	२० वर्ष	चैत्र शु. ११	अपरान्ह	सहेतुक	हस्त
६.	१०००	६ मास	चैत्र शु. १५	अपरान्ह	मनोहर	चित्रा
७.	१०००	९ वर्ष	फाल्गुन कृ. ६	अपरान्ह	सहेतुक	विशाखा
८.	१०००	३ मास	फाल्गुन कृ. ७	अपरान्ह	सर्वार्थ	अनुराधा
९.	१०००	४ वर्ष	कार्तिक शु. २	अपरान्ह	पुष्पवन	मूल
१०.	१०००	३ वर्ष	पौष कृ. १४	अपरान्ह	सहेतुक	पूर्वाषाढा
११.	१०००	२ वर्ष	माघ कृ. अमावस	अपरान्ह	मनोहर	श्रवण
१२.	६७६	१ वर्ष	माघ शु. २	अपरान्ह	मनोहर	विशाखा
१३.	१०००	३ वर्ष	माघ शु. ६	अपरान्ह	सहेतुक	उत्तराषाढा
१४.	१०००	२ वर्ष	चैत्र कृ. अमावस	अपरान्ह	सहेतुक	रेवती
१५.	१०००	१ वर्ष	पौष शु. पूर्णिमा	अपरान्ह	सहेतुक	पुष्य
१६.	१०००	१६ वर्ष	पौष शु. १०	अपरान्ह	आम्रवन	भरणी
१७.	१०००	१६ वर्ष	चैत्र शु. ३	अपरान्ह	सहेतुक	कृत्तिका
१८.	१०००	१६ वर्ष	कार्तिक शु. १२	अपरान्ह	सहेतुक	रेवती
१९.	३००	६ दिन	पौष शु. २	अपरान्ह	मनोहर	अश्विनी
२०.	१०००	११ मास	वैशाख कृ. ९	पूर्वान्ह	नीलवन	श्रवण
२१.	१०००	९ मास	मगसिर शु. ११	अपरान्ह	चैत्रवन	अश्विनी
२२.	१०००	५६ मास	आश्विन शु. १	पूर्वान्ह	ऊर्जयन्त	चित्रा
२३.	३००	४ मास	चैत्र कृ. १४	पूर्वान्ह	शक्रपुर (अहिच्छत्र)	विशाखा
२४.	एकाकी	१२ वर्ष	वैशाख शु. १०	पूर्वान्ह	ऋजुकूलातीर	मघा

तीर्थं.	२८ समवसरण भूमि	२९ अशोक वृक्ष (केवल वृक्ष)	३० यक्ष	३१ यक्षिणी	३२ केवलीकाल
१.	१२ योजन	न्यग्रोध	गोवदन	चक्रेश्वरी	१ लाख पूर्व-१००० वर्ष
२.	११(१/२) योजन	सप्तपर्ण	महायक्ष	रोहिणी	१ लाख पूर्व- (१ पूर्वांङ्ग १२ वर्ष)
३.	११ योजन	शाल	त्रिमुख	प्रज्ञप्ति	१ लाख पूर्व- (४ पूर्वांङ्ग १४ वर्ष)
४.	१०(१/२) योजन	सरल	यक्षेश्वर	वज्रशृंखला	१ लाख पूर्व- (८ पूर्वांङ्ग १८ वर्ष)
५.	१० योजन	प्रियंगु	तुम्बुरु	वज्रांकुशा	१ लाख पूर्व- (१२ पूर्वांङ्ग २० वर्ष)
६.	९(१/२) योजन	प्रियंगु	मातंग	अप्रति चक्रेश्वरी	१ लाख पूर्व- (१६ पूर्वांङ्ग ६ मास)
७.	९ योजन	शिरीष	विजय	पुरुषदत्ता	१ लाख पूर्व- (२० पूर्वांङ्ग ९ मास)
८.	८(१/२) योजन	नाग	अजित	मनोवेगा	१ लाख पूर्व- (२४ पूर्वांङ्ग ३ मास)
९.	८ योजन	बहेडा	ब्रह्म	काली	१ लाख पूर्व- (२८पूर्वांङ्ग ४ मास)
१०.	७ (१/२) योजन	धूली पलाश	ब्रह्मेश्वर	ज्वालामालिनी	२५००० पूर्व-३ वर्ष
११.	७ योजन	तेंदू	कुमार	महाकाली	२०९९९९८ वर्ष
१२.	६ (१/२) योजन	पाटल	षण्मुख	गौरी	५३९९९९९ वर्ष
१३.	६ योजन	जम्बू	पाताल	गांधारी	१४९९९९७ वर्ष
१४.	५ (१/२) योजन	पीपल	किन्नर	वैरोटी	७४९९९८ वर्ष
१५.	५ योजन	दधिपर्ण	किम्पुरुष	अनन्तमती	२४९९९९ वर्ष
१६.	४(१/२) योजन	नन्दी	गरुड़	मानसी	२४९८४ वर्ष
१७.	४ योजन	तिलक	गंधर्व	महामानसी	२३७३४ वर्ष
१८.	३(१/२) योजन	आम्र	कुबेर	जया	२०९८४ वर्ष
१९.	३ योजन	अशोक	वरुण	विजया	५४८९९ वर्ष११ मास २४ दिन
२०.	२(१/२) योजन	चंपक	भृकुटी	अपराजिता	७४९९ वर्ष १ मास
२१.	२ योजन	बकुल	गोमेध	बहुरूपिणी	२४९१ वर्ष
२२.	१(१/२) योजन	मेघ शृङ्ग	पार्श्व	कुष्मांडी	६९९ वर्ष १० मास ४ दिन
२३.	१(१/४) योजन	धव	मातंग	पद्मावती	६९ वर्ष ८ मास
२४.	१ योजन	शाल	गुह्यक	सिद्धायनी	३० वर्ष

तीर्थ.	३३ गणधर संख्या	३४ मुख्य गणधर	३५ ऋषि संख्या	३६ पूर्वधर	३७ शिक्षक	३८ अवधिज्ञानी
१.	८४	वृषभसेन	८४०००	४७५०	४१५०	९०००
२.	९०	सिंहसेन	१०००००	३७५०	२१६००	९४००
३.	१०५	चारुदत्त	२०००००	२१५०	१२९३००	९६००
४.	१०३	वज्रचामर	३०००००	२५००	२३००५०	९८००
५.	११६	वज्र	३२००००	२४००	२५४३५०	११०००
६.	१११	चामर	३३००००	२३००	२६९०००	१००००
७.	९५	बलदत्त	३०००००	२०३०	२४४९२०	९०००
८.	९३	वैदर्भ	२५००००	४०००	२१०४००	२०००
९.	८८	नाग	२०००००	१५००	१५५५००	८४००
१०.	८७	कुंथु	१०००००	१४००	५९२००	७२००
११.	७७	धर्म	८४०००	१३००	४८२००	६०००
१२.	६६	मंदिर	७२०००	१२००	३९२००	५४००
१३.	५५	जय	६८०००	११००	३८५००	४८००
१४.	५०	अरिष्ट	६६०००	१०००	३९५००	४३००
१५.	४३	सेन	६४०००	९००	४०७००	३६००
१६.	३६	चक्रायुध	६२०००	८००	४१८००	३०००
१७.	३५	स्वयंभु	६००००	७००	४३१५०	२५००
१८.	३०	कुंभ	५००००	६१०	३५८३५	२८००
१९.	२८	विशाख	४००००	५५०	२९०००	२२००
२०.	१८	मल्लि	३००००	५००	२१०००	१८००
२१.	१७	सुप्रभ	२००००	४५०	१२६००	१६००
२२.	११	वरदत्त	१८०००	४००	११८००	१५००
२३.	१०	स्वयंभु	१६०००	३५०	१०९००	१४००
२४.	११	इन्द्रभूति	१४०००	३००	९९००	१३००

तीर्थ.	३९ केवली	४० विक्रियाधारी	४१ विपुलमति	४२ वादी	४३ आर्यिका
१.	२००००	२०६००	१२७५०	१२७५०	३५००००
२.	२००००	२०४००	१२४५०	१२४००	३२००००
३.	१५००००	१९८००	१२१५०	१२०००	३३००००
४.	१६०००	१९०००	२१६५०	१०००	३३०६००
५.	१३०००	१८४००	१०४००	१०४५०	३३००००
६.	१२०००	१६८००	१०३००	९६००	४२००००
७.	११०००	१५३००	९१५०	८६००	३३००००
८.	१८०००	६००	८०००	७०००	३८००००
९.	७५००	१३०००	७५००	६६००	३८००००
१०.	७०००	१२०००	७५००	५७००	३८००००
११.	६५००	११०००	६०००	५०००	१३००००
१२.	६०००	१००००	६०००	४२००	१०६०००
१३.	५५००	९०००	५५००	३६००	१०३०००
१४.	५०००	८०००	५०००	३२००	१०८०००
१५.	४५००	७०००	४५००	२८००	६२४००
१६.	४०००	६०००	४०००	२४००	६०३००
१७.	३२००	५१००	३३५०	२०००	६०३५०
१८.	२८००	४३००	२०५५	१६००	६००००
१९.	२२००	२९००	१७५०	१४००	५५०००
२०.	१८००	२२००	१५००	१२००	५००००
२१.	१६००	१५००	१२५०	१०००	४५०००
२२.	१५००	११००	९००	८००	४००००
२३.	१०००	१०००	७५०	६००	३८०००
२४.	७००	९००	५००	४००	३६०००

तीर्थ.	४४ मुख्य आर्यिका	४५ श्रावक	४६ श्राविका	४७ मोक्षतिथि
१.	ब्राह्मी	३०००००	५०००००	माघ कृ. १४
२.	प्रकुब्जा	३०००००	५०००००	चैत्र शु. ५
३.	धर्मश्री	३०००००	५०००००	चैत्र शु. ६
४.	मेरुषेणा	३०००००	५०००००	वैशाख शु. ६
५.	अनन्ता	३०००००	५०००००	चैत्र शु. ११
६.	रतिषेणा	३०००००	५०००००	फाल्गुन कृ. ४
७.	मीना	३०००००	५०००००	फाल्गुन कृ. ७
८.	वरुणा	३०००००	५०००००	फाल्गुन शु. ७
९.	घोषा	२०००००	४०००००	भाद्रपद शु. ८
१०.	धरणा	२०००००	४०००००	आश्विन शु. ८
११.	चारणा	२०००००	४०००००	श्रावण शु. १५
१२.	वरसेना	२०००००	४०००००	भाद्रपद शु. १४
१३.	पद्मा	२०००००	४०००००	आषाढ़ कृ. ८
१४.	सर्वश्री	२०००००	४०००००	चैत्र कृ. अमावस्या
१५.	सुव्रता	२०००००	४०००००	ज्येष्ठ शु. ४
१६.	हरिषेणा	२०००००	४०००००	ज्येष्ठ कृ. १४
१७.	भाविता	१०००००	३०००००	वैशाख शु. १
१८.	कुंथुसेना	१०००००	३०००००	चैत्र कृ. अमावस्या
१९.	मधुसेना	१०००००	३०००००	फाल्गुन शु. ५
२०.	पूर्वदत्ता	१०००००	३०००००	फाल्गुन कृ. १२
२१.	मार्गिणी	१०००००	३०००००	वैशाख कृ. १४
२२.	यक्षी	१०००००	३०००००	आषाढ़ शु. ७
२३.	सुलोका	१०००००	३०००००	श्रावण शु. ७
२४.	चन्दना	१०००००	३०००००	कार्तिक कृ. अमा.

तीर्थ.	४८ मोक्षकाल	४९ मोक्षनक्षत्र	५० मोक्षस्थान	५१ सहमुक्त	५२ योगनिवृत्ति
१.	पूर्वान्ह	उत्तराषाढ़ा	कैलाश	१००००	१४ दिन पूर्व
२.	पूर्वान्ह	भरणी	सम्मेदशिखर	१०००	१ मास पूर्व
३.	अपरान्ह	ज्येष्ठा	सम्मेदशिखर	१०००	१ मास पूर्व
४.	पूर्वान्ह	पुनर्वसु	सम्मेदशिखर	१०००	१ मास पूर्व
५.	पूर्वान्ह	मघा	सम्मेदशिखर	१०००	१ मास पूर्व
६.	अपरान्ह	चित्रा	सम्मेदशिखर	३२४	१ मास पूर्व
७.	पूर्वान्ह	अनुराधा	सम्मेदशिखर	५००	१ मास पूर्व
८.	पूर्वान्ह	ज्येष्ठा	सम्मेदशिखर	१०००	१ मास पूर्व
९.	अपरान्ह	मूल	सम्मेदशिखर	१०००	१ मास पूर्व
१०.	पूर्वान्ह	पूर्वाषाढ़ा	सम्मेदशिखर	१०००	१ मास पूर्व
११.	पूर्वान्ह	धनिष्ठा	सम्मेदशिखर	१०००	१ मास पूर्व
१२.	अपरान्ह	अश्विनी	चम्पापुर	६०१	१ मास पूर्व
१३.	प्रदोष	पूर्व भाद्रपदा	सम्मेदशिखर	६००	१ मास पूर्व
१४.	प्रदोष	रेवती	सम्मेदशिखर	७०००	१ मास पूर्व
१५.	प्रत्यूष	पुष्य	सम्मेदशिखर	८०१	१ मास पूर्व
१६.	प्रदोष	भरणी	सम्मेदशिखर	९००	१ मास पूर्व
१७.	प्रदोष	कृत्तिका	सम्मेदशिखर	१०००	१ मास पूर्व
१८.	प्रत्यूष	रोहिणी	सम्मेदशिखर	१०००	१ मास पूर्व
१९.	प्रदोष	भरणी	सम्मेदशिखर	५००	१ मास पूर्व
२०.	प्रदोष	श्रवण	सम्मेदशिखर	१०००	१ मास पूर्व
२१.	प्रत्यूष	अश्विनी	सम्मेदशिखर	१०००	१ मास पूर्व
२२.	प्रदोष	चित्रा	ऊर्जयन्त	५३६	१ मास पूर्व
२३.	प्रदोष	विशाखा	सम्मेदशिखर	३६	१ मास पूर्व
२४.	प्रत्यूष	स्वाति	पावापुरी	एकाकी	२ दिन पूर्व

चार्ट नं. ३

द्वादश चक्रवर्ती

	नाम	उत्सेध	आयु	कुमारकाल	मंडलीक काल
१.	भरत	५०० धनुष	८४ लाख पूर्व	७७००००० पूर्व	१००० वर्ष
२.	सगर	४५० धनुष	७२ लाख पूर्व	५०००० पूर्व	५०००० पूर्व
३.	मघवा	४२(१/२) धनुष	५००००० वर्ष	२५००० वर्ष	२५००० वर्ष
४.	सनत्कुमार	४२ धनुष	३००००० वर्ष	५०००० वर्ष	५०००० वर्ष
५.	शान्ति	४० धनुष	१००००० वर्ष	२५००० वर्ष	२५००० वर्ष
६.	कुंथु	३५ धनुष	९५००० वर्ष	२३७५० वर्ष	२३७५० वर्ष
७.	अर	३० धनुष	८४००० वर्ष	२१००० वर्ष	२१००० वर्ष
८.	सुभौम	२८ धनुष	६०००० वर्ष	५००० वर्ष	५००० वर्ष
९.	पद्म	२२ धनुष	३०००० वर्ष	५०० वर्ष	५०० वर्ष
१०.	हरिषेण	२० धनुष	१०००० वर्ष	३२५ वर्ष	३२५ वर्ष
११.	जयसेन	१५ धनुष	३००० वर्ष	३०० वर्ष	३०० वर्ष
१२.	ब्रह्मदत्त	७ धनुष	७०० वर्ष	२८ वर्ष	५६ वर्ष

चक्र.	विजयकाल	राज्यकाल	संयमकाल	प्राप्त गति
१.	६०००० वर्ष	६ लाख पूर्व ६१००० वर्ष	१ लाख पूर्व	मुक्ति प्राप्त
२.	३०००० वर्ष	७० लाख पूर्व ३०००० वर्ष	१ लाख पूर्व	मुक्ति प्राप्त
३.	१०००० वर्ष	३९०००० वर्ष	५०००० वर्ष	सनत्कुमार कल्प
४.	१०००० वर्ष	९०००० वर्ष	१००००० वर्ष	सनत्कुमार कल्प
५.	८०० वर्ष	२४२०० वर्ष	२५००० वर्ष	मुक्ति प्राप्त
६.	६०० वर्ष	२३१५० वर्ष	२३७५० वर्ष	मुक्ति प्राप्त
७.	४०० वर्ष	२०६०० वर्ष	२१००० वर्ष	मुक्ति प्राप्त
८.	५०० वर्ष	४९५०० वर्ष	० वर्ष	सप्तम नरक
९.	३०० वर्ष	१८७०० वर्ष	१०००० वर्ष	मुक्ति प्राप्त
१०.	१५० वर्ष	८८५० वर्ष	३५० वर्ष	मुक्ति प्राप्त
११.	१०० वर्ष	१९०० वर्ष	४०० वर्ष	मुक्ति प्राप्त
१२.	१६ वर्ष	६०० वर्ष	० वर्ष	सप्तम नरक

चार्ट नं. ४

नौ बलदेव

	नाम	उत्सेध	आयु	प्राप्त गति
१.	विजय	८० धनुष	८७००००० वर्ष	मोक्ष
२.	अचल	७० धनुष	७७००००० वर्ष	मोक्ष
३.	धर्म	६० धनुष	६७००००० वर्ष	मोक्ष
४.	सुप्रभ	५० धनुष	३७००००० वर्ष	मोक्ष
५.	सुदर्शन	४५ धनुष	१७००००० वर्ष	मोक्ष
६.	नन्दी	२९ धनुष	६७००० वर्ष	मोक्ष
७.	नन्दिमित्र	२२ धनुष	३७००० वर्ष	मोक्ष
८.	राम	१६ धनुष	१७००० वर्ष	मोक्ष
९.	पद्म	१० धनुष	१२०० वर्ष	ब्रह्म कल्प

चार्ट नं. ५

नौ नारायण

	नाम	उत्सेध	आयु	कुमार काल
१.	त्रिपृष्ठ	८० धनुष	८४००००० वर्ष	२५००० वर्ष
२.	द्विपृष्ठ	७० धनुष	७२००००० वर्ष	२५००० वर्ष
३.	स्वयंभु	६० धनुष	६०००००० वर्ष	१२५०० वर्ष
४.	पुरुषोत्तम	५० धनुष	३०००००० वर्ष	७०० वर्ष
५.	पुरुषसिंह	४५ धनुष	१०००००० वर्ष	३०० वर्ष
६.	पुरुष पुण्डरीक	२९ धनुष	६५००० वर्ष	२५० वर्ष
७.	दत्त	२२ धनुष	३२००० वर्ष	२०० वर्ष
८.	नारायण	१६ धनुष	१२००० वर्ष	१०० वर्ष
९.	कृष्ण	१० धनुष	१००० वर्ष	१६ वर्ष

नारायण	मण्डलीक काल	विजयकाल	राज्यकाल	प्राप्त गति
१.	२५००० वर्ष	१००० वर्ष	८३४९००० वर्ष	सप्तम नरक
२.	२५००० वर्ष	१०० वर्ष	७१४९९०० वर्ष	षष्ठ नरक
३.	१२५०० वर्ष	९० वर्ष	५९७४९१० वर्ष	षष्ठ नरक
४.	१३०० वर्ष	८० वर्ष	२९९७९२० वर्ष	षष्ठ नरक
५.	१२५० वर्ष	७० वर्ष	९९८३८० वर्ष	षष्ठ नरक
६.	२५० वर्ष	६० वर्ष	६४४४० वर्ष	षष्ठ नरक
७.	५० वर्ष	५० वर्ष	३१७०० वर्ष	पंचम नरक
८.	३०० वर्ष	४० वर्ष	११५६० वर्ष	चतुर्थ नरक
				(तृतीय नरक पद्म पु. से)
९.	५६ वर्ष	८ वर्ष	९२० वर्ष	तृतीय नरक

चार्ट नं. ६

नौ प्रतिशत्रु

	नाम	उत्सेध	आयु	प्राप्त गति
१.	अश्वग्रीव	८० धनुष	८४००००० वर्ष	सप्तम नरक
२.	तारक	७० धनुष	७२००००० वर्ष	षष्ठ नरक
३.	मेरक	६० धनुष	६०००००० वर्ष	षष्ठ नरक
४.	मधुकैटभ	५० धनुष	३०००००० वर्ष	षष्ठ नरक
५.	निशुम्भ	४५ धनुष	१०००००० वर्ष	षष्ठ नरक
६.	बलि	२९ धनुष	६५००० वर्ष	षष्ठ नरक
७.	प्रहरण	२२ धनुष	३२००० वर्ष	पंचम नरक
८.	रावण	१६ धनुष	१२००० वर्ष	चतुर्थ नरक (तृतीय नरक पद्म पु. से)
९.	जरासंध	१० धनुष	१००० वर्ष	तृतीय नरक

चार्ट नं. ७

एकादश रुद्र

नाम	उत्सेध	आयु	कुमारकाल	संयमकाल	भंग तपकाल	प्राप्त गति
१. भीमावलि	५०० धनुष	८३ लाख पूर्व	२७६६६६६ पूर्व	२७६६६६८ पूर्व	२७६६६६६ पूर्व	सप्तम नरक
२. जितशत्रु	४५० धनुष	७१ लाख पूर्व	२३६६६६६ पूर्व	२३६६६६८ पूर्व	२३६६६६६ पूर्व	सप्तम नरक
३. रुद्र	१०० धनुष	२ लाख पूर्व	६६६६६ पूर्व	६६६६८ पूर्व	६६६६६ पूर्व	षष्ठ नरक
४. वैश्वानर	९० धनुष	१ लाख पूर्व	३३३३३ पूर्व	३३३३४ पूर्व	३३३३३ पूर्व	षष्ठ नरक
५. सुप्रतिष्ठ	८० धनुष	८४ लाख वर्ष	२८००००० वर्ष	२८००००० वर्ष	२८००००० वर्ष	षष्ठ नरक
६. अचल	७० धनुष	६० लाख वर्ष	२०००००० वर्ष	२०००००० वर्ष	२०००००० वर्ष	षष्ठ नरक
७. पुंडरीक	६० धनुष	५० लाख वर्ष	१६६६६६६ वर्ष	१६६६६६८ वर्ष	१६६६६६६ वर्ष	षष्ठ नरक
८. अजितंधर	५० धनुष	४० लाख वर्ष	१३३३३३३ वर्ष	१३३३३३४ वर्ष	१३३३३३३ वर्ष	पंचम नरक
९. अजितनाभि	२८ धनुष	२० लाख वर्ष	६६६६६६ वर्ष	६६६६६८ वर्ष	६६६६६६ वर्ष	चतुर्थ नरक
१०. पीठ (पीढाल)	२४ धनुष	१० लाख वर्ष	३३३३३३ वर्ष	३३३३३४ वर्ष	३३३३३३ वर्ष	चतुर्थ नरक
११. सात्यकिपुत्र	७ हाथ	६९ वर्ष	७ वर्ष	३४ वर्ष	२८ वर्ष	तृतीय नरक

चार्ट नं. ८

नारक जीव

	पृथ्वी	मोटाई	बिल संख्या	इन्द्रक	उत्कृष्ट नरकायु	उत्सेध
१.	रत्नप्रभा	१८०००० यो.	३०००००	१३	१ सा.	३१ (१/४) हाथ
२.	शर्कराप्रभा	३२००० यो.	२५०००००	११	३ सा.	६२(१/२) हाथ
३.	बालुकाप्रभा	२८००० यो.	१५०००००	९	७ सा.	१२५ हाथ
४.	पंकप्रभा	२४००० यो.	१०००००	७	१० सा.	२५० हाथ
५.	धूमप्रभा	२०००० यो.	३०००००	५	१७ सा.	१२५ धनुष
६.	तम:प्रभा	१६००० यो.	९९९९५	३	२२ सा.	२५० धनुष
७.	महातम:प्रभा	८००० यो.	५	१	३३ सा.	५०० धनुष

		अवधिक्षेत्र	उत्पद्यमान जीव	उत्पत्ति-मरण अन्तर	अग्रिमभव में	उछलन
१.	रत्न.	१ योजन	असंज्ञी	२४ मुहूर्त	तीर्थंकर	७ (१३/१६) यो.
२.	शर्करा.	३ (१/२) कोश	सरीसृप	७ दिन	तीर्थंकर	१५(१०/१६) यो.
३.	बालु.	३ कोश	पक्षी	१५ दिन	तीर्थंकर	३१(४/१६) यो.
४.	पंक.	२ (१/२) कोश	सर्पादि	१ मास	चरमशरीरी	६२ (८/१६) यो.
५.	धूम.	२ कोश	सिंह	२ मास	संयत	१२५ यो.
६.	तम.	१ (१/२) कोश	स्त्री	४ मास	देशव्रती	२५० यो.
७.	महा.	१ कोश	मत्स्य	६ मास	सम्यक्त्वाधर	५०० यो.

चार्ट नं. ९

क्षेत्र तथा कुलाचलों के नाम	विस्तार		पर्वतों की ऊँचाई		पर्वतों के वर्ण
	योजन से	मील से	योजन से	मील से	
भरत क्षेत्र	५२६(६/१९)	२१०५६३(१/१९)	×	×	×
हिमवान पर्वत	१०५२(१२/१९)	४२१०५२६(६/१९)	१००	४०००००	स्वर्णमय
हैमवत क्षेत्र	२१०५(५/१९)	८४२१०५२(१२/१९)	×	×	
महाहिमवान पर्वत	४२१०(१०/१९)	१६८४२१०५(५/१९)	२००	८०००००	रजतमय
हरि क्षेत्र	८४२१(१/१९)	३३६८४२१०(१०/१९)	×	×	
निषध पर्वत	१६८४२(२/१९)	६७३६८४२१(१/१९)	४००	१६०००००	तपनीयस्वर्ण
विदेह क्षेत्र	३३६८४(४/१९)	१३४७३६८४२(४/१९)	×	×	
नील पर्वत	१६८४२(२/१९)	६७३६८४२१(१/१९)	४००	१६०००००	वैडूर्यमणि
रम्यक् क्षेत्र	८४२१(१/१९)	३३६८४२१०(१०/१९)	×	×	
रुक्मि पर्वत	४२१०(१०/१९)	१६८४२१०५(५/१९)	२००	८०००००	रजतमय
हैरण्यवत क्षेत्र	२१०५(५/१९)	८४२१०५२(१२/१९)	×	×	
शिखरी पर्वत	१०५२(१२/१९)	४२१०५३६(६/१९)	१००	४०००००	स्वर्णमय
ऐरावत क्षेत्र	५२६(५/१९)	२१०५६३(३/१९)	×	×	

चार्ट नं. १०

सरोवरों के	सरोवरों की लम्बाई		चौड़ाई		गहराई		प्रमुख	परिवार
नाम	योजन से	मील से	योजन	मील	योजन	मील	देवी	कमल
पद्म	१०००	४००००००	५००	२०००००	१०	४००००	श्री देवी	१४०११५
महापद्म	२०००	८०००००	१०००	४०००००	२०	८००००	ह्री देवी	२८०२३०
तिगिंछ	४०००	१६०००००	२०००	८०००००	४०	१६००००	धृति देवी	५६०४६०
केशरी	४०००	१६०००००	२०००	८०००००	४०	१६००००	कीर्ति देवी	५६०४६०
पुंडरीक	२०००	८०००००	१०००	४०००००	२०	८००००	बुद्धि देवी	२८०२३०
महापुंडरीक	१०००	४०००००	५००	२०००००	१०	४००००	लक्ष्मी देवी	१४०११५

चार्ट नं. ११

भवनवासी देव

क्र.स.	नाम	मुकुट चिन्ह	भवन	इन्द्र	उत्कृष्ट आयु
१.	असुरकुमार	चूड़ामणि	६४ लाख	२	१ सा.
२.	नागकुमार	सर्प	८४ लाख	२	३ प.
३.	सुपर्णकुमार	गरुड़	७२ लाख	२	२ (१/२) प.
४.	द्वीपकुमार	हाथी	७६ लाख	२	२ प.
५.	उदधिकुमार	मगर	७६ लाख	२	१ (१/२) प.
६.	स्तनितकुमार	स्वास्तिक	७६ लाख	२	१ (१/२) प.
७.	विद्युत्कुमार	वज्र	७६ लाख	२	१ (१/२) प.
८.	दिक्कुमार	सिंह	७६ लाख	२	१ (१/२) प.
९.	अग्निकुमार	कलश	७६ लाख	२	१ (१/२) प.
१०.	वायुकुमार	तुरग	९६ लाख	२	१ (१/२) प.

		उत्सेध	क्षेत्र	उ. अवधि काल
१.	असुर.	२५ ध.	असं. कोटि यो.	असंख्यात वर्ष
२.	नाग.	१० ध.	असं. हजार यो.	असुरों से सं. गुणाहीन
३.	सुपर्ण.	१० ध.	असं. हजार यो.	असुरों से सं. गुणाहीन
४.	द्वीप.	१० ध.	असं. हजार यो.	असुरों से सं. गुणाहीन
५.	उदधि.	१० ध.	असं. हजार यो.	असुरों से सं. गुणाहीन
६.	स्तनित.	१० ध.	असं. हजार यो.	असुरों से सं. गुणाहीन
७.	विद्युत.	१० ध.	असं. हजार यो.	असुरों से सं. गुणाहीन
८.	दिक्.	१० ध.	असं. हजार यो.	असुरों से सं. गुणाहीन
९.	अग्नि.	१० ध.	असं. हजार यो.	असुरों से सं. गुणाहीन
१०.	वायु.	१० ध.	असं. हजार यो.	असुरों से सं. गुणाहीन

चार्ट नं. १२

विमानों का नाम	चित्रा पृथ्वी से ऊँचाई		विमान का प्रमाण		किरणें
	योजन से	मील से	योजन	मील	
इस पृथ्वी से तारे	७९० यो.	३१६००००	१/४ कोस	२५० मी.	मंद किरणें
इस पृथ्वी से सूर्य	८०० यो.	३२०००००	४८/६१ यो.	३१४७(३३/६१)	१२०००
इस पृथ्वी से चन्द्र	८८० यो.	३५२००००	५६/६१ यो.	३६७२ (८/६१)	१२०००
इस पृथ्वी से नक्षत्र	८८४ यो.	३५३६०००	×	×	×
इस पृथ्वी से बुध	८८८ यो.	३५५२०००	कुछ कम १/२ कोस	कुछ कम ५०० मी.	मंद किरणें
इस पृथ्वी से शुक्र	८९१ यो.	३५६४०००	१ कोस	१००० मी.	२५००
इस पृथ्वी से गुरु	८९४ यो.	३५७६०००	कुछ कम १ कोस	कुछ कम १००० मी.	मंद किरणें
इस पृथ्वी से मंगल	८९७ यो.	३५८८०००	कुछ कम १/२ कोस	कुछ कम ५०० मी.	मंद किरणें
इस पृथ्वी से शनि	९०० यो.	३६०००००	कुछ कम १/२ कोस	कुछ कम ५०० मी.	मंद किरणें
इस पृथ्वी से राहु	× यो.	×	कुछ कम १ योजन	कुछ कम ४००० मी.	मंद किरणें
इस पृथ्वी से केतु	× यो.	×	कुछ कम १ योजन	कुछ कम ४००० मी.	मंद किरणें

चार्ट नं. १३

बारह कल्प

नाम	इन्द्रक	श्रेणीबद्ध	प्रकीर्णक	वि.तल-बा.	विमानवर्ण	विमानाधार	प्रवीचार	बद्धायुष्क (उत्कृष्ट आयु)	घातायुष्क (उत्कृष्ट आयु)	विरहकाल (उत्कृष्ट आयु)	अवधिक्षेत्र
१. सौधर्म	३१	४३७१	३१९५५९८	११२१ यो.	पाँचों वर्ण	घन-उदक	काय प्रवीचार	२ सागर	२(१/२) सागर	७ दिन	प्र. पृथिवी
२. ईशान	....	१४४७	२७९८५४३	११२१ यो.	पाँचों वर्ण	घन-उदक	काय प्रवीचार	२ सागर	२(१/२) सागर	७ दिन	प्र.पृथिवी
३. सनत्कुमार	७	५८८	११९९४०५	१०२२ यो.	कृ. से रहित ४	वात	स्पर्श प्रवीचार	७ सागर	७(१/२) सागर	१ पक्ष	द्वि. पृथिवी
४. माहेन्द्र	....	१९६	७९९८०४	१०२२ यो.	कृ. से रहित ४	वात	स्पर्श प्रवीचार	७ सागर	७(१/२) सागर	१ पक्ष	द्वि. पृथिवी
५. ब्रह्म	४	३६०	३९९६३६	९२३ यो.	कृ. नी. रहित ३	जल वात	रूप प्रवीचार	१० सागर	१०(१/२) सागर	१ मास	तृ. पृथिवी
६. लांतव	२	१५६	४९८४२	८२४ यो.	कृ. नी. रहित ३	जल वात	रूप प्रवीचार	१४ सागर	१४(१/२) सागर	१ मास	तृ. पृथिवी
७. महाशुक्र	१	७२	३९९२७	७२५ यो.	पीत शुक्ल	जल वात	शब्द प्रवीचार	१६ सागर	१६(१/२) सागर	२ मास	च. पृथिवी
८. सहस्रार	१	६८	५९३१	६२६ यो.	पीत शुक्ल	जल वात	शब्द प्रवीचार	१८ सागर	१८(१/२) सागर	२ मास	च. पृथिवी
९. आनत						शुद्ध आकाश	मन: प्रवीचार	२० सागर	१८(१/२) सागर	४ मास	प. पृथिवी
१०. प्राणत						शुद्ध आकाश	मन: प्रवीचार	२० सागर	१८(१/२) सागर	४ मास	प. पृथिवी
११. आरण	६	३२४	३७०	५२७ यो.	शुक्ल	शुद्ध आकाश	मन: प्रवीचार	२२ सागर	१८(१/२) सागर	४ मास	प. पृथिवी
१२. अच्युत						शुद्ध आकाश	मन: प्रवीचार	२२ सागर	१८(१/२) सागर	४ मास	प. पृथिवी

तेइसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का जीवन दर्शन

जन्मभूमि– **बनारस (उत्तर प्रदेश)**
पिता– महाराजा अश्वसेन **माता**– महारानी ब्राह्मी (वामादेवी) **वर्ण**– क्षत्रिय
वंश– उग्रवंश **देहवर्ण**– मरकतमणि सदृश (हरा) **चिन्ह**– सर्प
आयु– सौ वर्ष **अवगाहना**– नौ हाथ **गर्भ**– वैशाख कृ. 2
जन्म– पौष कृ. 11 **तप**– पौष कृ. 11
दीक्षा-केवलज्ञान वन एवं वृक्ष– अश्ववन एवं देवदारूवृक्ष
प्रथम आहार– गुल्मखेट नगर के राजा धान्य द्वारा (खीर)
केवलज्ञान– चैत्र कृ. 4 (14) **मोक्ष**– श्रावण शु. 7 **मोक्षस्थल**– सम्मेद शिखर पर्वत
समवसरण में गणधर– श्री स्वयंभू आदि 10 **मुनि**– सोलह हजार
गणिनी– आर्यिका सुलोचना **आर्यिका**– छत्तीस हजार **श्रावक**– एक लाख
श्राविका– तीन लाख **जिनशासन यक्ष**– धरणेन्द्र देव **यक्षी**– पद्मावती देवी
भगवान पार्श्वनाथ वर्तमान वीर नि.सं. 2531 से 2781 वर्ष पहले मोक्ष गए हैं।

Biographical Outline of Lord Parshvanath

Birthplace—Varanasi (U.P.)
Father—King Ashvasen **Mother**—Queen Brahmi (Vamadevi)
Caste (Varna)—Kshatriya **Dynasty**—Ugra
Body Colour—Green **Symbol**—Snake
Age—100 Years **Body Occupancy**—Nine Hands
Incarnation (in womb)—Vaishakh Krishna 2
Birth—Paush Krishna 11 **Initiation**—Paush Krishna 11
Initiation-Omniscience Forest & Tree—Ashvavan Forest & Cedar (Devdaru) Tree
First Food —Given by King Dhanya of Gulmakhet (Kheer)
Omniscience—Chaitra Krishna 4 (14) **Salvation**—Shravan Shukla 7
Salvation Place—Sammedshikhar Mountain
Chief Disciples (Gandhars)—10 (Shri Svayambhu etc.)
Saints (Munis)—16 Thousands **Chief Aryika (Ganini)**—Aryika Sulochana
Female saints (Aryikas)—36 Thousand **Male Votaries**—1 Lac
Female Votaries—3 Lac **Male Demigod**—Darnendra Dev
Female Demigod—Padmavati Devi

भजन

तर्ज-कांची हो कांची रे.....

आया है आया पार्श्वनाथ का महोत्सव, करना है काम दिल खोल के।
आया तृतीय सहस्राब्दी महोत्सव, पारस प्रभू की जय बोल के।।टेक.।।
तेइसवें तीर्थंकर पारसनाथ प्रभो,
अश्वसेन वामा माँ के लाल प्रभो।
माता-पिता धन्य हुए, जिनवर के जन्म से,
बैठे थे भण्डार खोल के।। आया है.....।।1।।
चिन्तामणि संकटमोचन कहते सभी,
पारस प्रभु की भक्ति मन से करते सभी।
जिसको जब कष्ट हुआ, भक्ती से नष्ट हुआ,
पारस की जय-जय बोल के।।आया है.....।।2।।
अपने-अपने नगरों में भी उत्सव करो,
पारसनाथ जन्म का महोत्सव करो।
तीर्थ बनारस के बाद, अहिच्छत्र पार्श्वनाथ,
सम्मेदगिरि की जय बोल के।।आया है.....।।3।।
गणिनीप्रमुख ज्ञानमती माताजी हैं,
ऐसी प्रेरणाएं सदा देती हैं वे।
''चन्दना'' तभी हमें, ज्ञान प्राप्त होता है,
बढ़ते कदम सबको जोड़ के।।आया है.....।।4।।

भारत में महावीर ने मुक्ति का संदेश दिया और बताया कि धर्म एक वास्तविकता है, वह मात्र परंपरा नहीं है और मुक्ति आत्म साधना से, धर्माचरण से प्राप्त होती है, बाह्याडम्बरों अथवा कर्मकाण्डों में लिप्त होने से नहीं। धर्म कभी भी आदमी-आदमी में भेद नहीं करता। महावीर की यह विचारधारा आश्चर्यजनक रूप से, व्यापक रूप से प्रसारित हो गई और जाति भेद की दीवारों को तोड़ उसने सारे देश को जीत लिया

-रवीन्द्र नाथ टैगोर (भारत)